नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १२—संवत् १९८८

संपादक

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:*:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

लेख-सूची

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

बारहवाँ भाग

-:*:-

(१) इंदौर म्यूजियम का एक शिलालेख
(वि० सं० १५४१)

[लेखक—श्री रामेश्वर-गौरीशंकर ओझा, एम० ए०, इंदौर]

ई० सन् १९२९ के अक्टूबर मास में इंदौर आने पर एक दिन मुझे वहाँ की नर-रत्न-मंदिर नामक संस्था के भवन के बाहर दीवार के सहारे खड़ी हुई एक चौकोनी शिला देख पड़ी। वहाँ के पुस्तकाध्यक्ष से दर्याफ्त करने पर मालूम हुआ कि वह एक शिलालेख है। शिला का खुदा हुआ भाग, दीवार से सटा रहने के कारण, दृष्टिगोचर नहीं होता था; इसी लिये उसको उलटकर देखने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को, जिसे उसकी वास्तविकता का पता न हो, यही जान पड़ता था कि कोई बड़ा पत्थर दीवार के सहारे रखा हुआ है। इस दशा में यह शिलालेख ६ वर्ष तक उसी स्थान पर पड़ा रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उक्त भवन की प्रतिवर्ष होनेवाली चूने की पुताई के कारण इसके अक्षरों में चूना भरता गया। शिलालेख का पता चलते ही मैंने जल से इसे कई बार धुलवाया, जिससे अक्षरों में भरा हुआ चूना बहुत कुछ निकल गया और मैं उसकी प्रतिलिपि तैयार कर सका।

उपक्रम

प्रतिलिपि करने के अनंतर मैंने इस लेख को कई बार पढ़ा, तो यह कुछ महत्त्वपूर्ण जान पड़ा। फिर इसके संबंध में तलाश करने

पर विदित हुआ कि ई० स० १९०५ में इंदौर राज्य के गैजेटियर ऑफिसर मेजर रामप्रसाद दुबे उक्त शिला को इस राज्य के रामपुरा-भानपुरा जिले में गरोठ परगने के खड़ावदा[1] नामक गाँव की एक बावड़ी से उठवाकर इंदौर लाए थे। कुछ अर्से तक यह उनके मकान पर पड़ा रहा। तत्पश्चात् वहाँ से इंदौर के किंग ऐडवर्ड हॉल में रखा गया, जहाँ कई बरसों तक एक कमरे में सुरक्षित रहा। तदनंतर सन् १९२३ में नर-रत्न-मंदिर की स्थापना होने पर यह वहाँ भेजा गया, तभी से उक्त भवन के बाहर पड़ा था। इस समय यह इंदौर म्यूजियम में सुरक्षित है।

सन् १९०७ में दुबे महोदय ने इस लेख की छापें उतरवाकर सेंट्रल इंडिया एजेंसी के द्वारा श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर के पास भेजीं, जिस पर भंडारकरजी ने डेढ़ पृष्ठ में इस शिलालेख का सारांश लिख भेजा और उसको कुछ बढ़ाकर (साढ़े तीन पृष्ठ में) सन् १९०८ में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बंबई शाखा की पत्रिका में प्रकाशित किया। मालवे के मुसलमान सुलतानों के इतिहाससे इस विस्तृत लेख का बहुत कुछ संबंध है, इसलिये मुझे उसके संपादन की आवश्यकता प्रतीत हुई। २३ वर्ष पूर्व भंडारकर महाशय ने इस संबंध में जो कुछ लिखा, वह मेजर दुबे की भेजी हुई छापों के आधार पर था। संभव है, इंदौर से भेजी हुई छापें भली भाँति तैयार न की गई हों, इसलिये, अथवा किसी अन्य कारण से, भंडारकर महोदय के दिए हुए इस शिलालेख के पाठ में बहुतसी अशुद्धियाँ रह गईं और कहीं कहीं तो वास्तविक से बिलकुल भिन्न

---

(१) यह गाँव २४°२३, उत्तर अक्षांश तथा ७५°२३, पूर्व देशांतर पर स्थित और रामपुरे से गरोठ की पक्की सड़क पर रामपुरे से ८ मील दक्षिण में है। इसके विशेष परिचय के लिये देखो इंदौर स्टेट गैजेटियर (लुअर्ड-संकलित), पृ० २९१–९२।

अर्थ निकाला गया। साथ ही यह भी विचारणीय है कि विगत २३ वर्षों में भारतीय पुरातत्त्व-संबंधी कार्य में बहुत कुछ उन्नति हुई है। इस अर्से में भारतवर्ष में सैकड़ों शिलालेख, अनेक ताम्रपत्र, पुरातन प्रतिमाएँ, प्राचीन सिक्के तथा संस्कृत, प्राकृत एवं अँग्रेजी, हिंदी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाश में आए हैं। उनके द्वारा अनेक नवीन इतिवृत्त संगृहीत हुए और हमारे पुरातत्त्व-संबंधी ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि हो सकी है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर अब तक की शोध के आधार पर मूल लेख पर से इसका सटिप्पण संपादन इतिहास-प्रेमियों के लिये विशेष उपयोगी होगा, यह जानते हुए 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के पाठकों को हम निम्नलिखित पंक्तियों में इस शिलालेख का परिचय कराते हैं; अस्तु।

यह लेख भूरे पत्थर की ५ फुट लंबी, २ फुट चौड़ी और ५ इंच मोटी शिला पर खुदा हुआ है। इसमें ३६ पंक्तियाँ हैं, जिनमें से

शिला का परिचय

अंतिम २ फुट ९ इंच की है। यद्यपि कुछ शताब्दियों तक यह हवा-पानी में पड़ा रहा, तथापि इसके अक्षर अब तक सुरक्षित हैं। कहीं कहीं कुछ अक्षर अस्पष्ट हो गए हैं, किंतु परिश्रमपूर्वक पढ़े जा सकते हैं। वस्तुतः इस लेख का आरंभ दूसरी पंक्ति के मध्य से "स्वस्ति श्री......" से हुआ है। इसके पहले सवा पंक्ति खराब फारसी अक्षरों में खुदी हुई है, जिसमें पहली पंक्ति के कुछ अक्षर पाषाण की कोर टूट जाने से नष्ट हो गए हैं। लेख की लिपि पंद्रहवीं शताब्दी की देवनागरी और भाषा संस्कृत है। सारा लेख नागरी अक्षरों में खुदा हुआ है, किंतु इसके आरंभ की थोड़ी सी फारसी लिखावट से यह निश्चयपूर्वक जान पड़ता है कि संस्कृत में लेख खुदवाए जाने के पश्चात् किसी ने ये अक्षर लिखे हैं, क्योंकि फारसी लिपि की दूसरी पंक्ति शिला के दाहिने पार्श्व से (पहली पंक्ति की तरह) आरंभ न होकर

बीच में से "स्वस्ति श्री..." आदि के पूर्व खाली रहे हुए स्थान में लिखी गई है। इसके सिवा यह भी विचारणीय है कि यद्यपि प्रशस्तिकार एक संस्कृतज्ञ विद्वान् था, किंतु जिसने खड़ावदा गाँव में बावड़ी खुदवाकर यह शिलालेख लगवाया, वह अर्थात् सेनापति बहरी, क्षत्रिय से मुसलमान बन गया था (देखो श्लोक ६८), इस कारण तथा मांडू के मुसलमान सुलतानों का कर्मचारी होने से संस्कृत लेख खुद जाने के पश्चात् उसने लेखारंभ में तत्कालीन मुसलमानी राज्य की राजकीय भाषा—फारसी—में कतिपय शब्द लिखवाना उचित समझा हो। खेद है कि इस शिलालेख की फारसी लिखावट का कुछ अंश नष्ट हो जाने से तथा इसकी लिपि बहुत खराब होने के कारण यह दक्षिण हैदराबाद के तथा कुछ स्थानीय फारसी विद्वानों के बहुत प्रयत्न करने पर भी ठीक ठीक नहीं पढ़ा जा सका,[1] जिससे हमने इस फारसी अंश का विवेचन नहीं किया

(१) इंदौर के होल्कर कालेज में फारसी के प्रोफेसर साबिर अली साहिब, एम० ए० अपने विषय के अच्छे विद्वान् हैं और फारसी लेखों के पढ़ने में उनसे मुझे यदा-कदा सहायता मिलती रहती है। उन्होंने भी इस लेख के फारसी अंश को Magnifying glass (परिमाणवर्धक काँच) की सहायता से पढ़ने का प्रयत्न किया, किंतु वे सफल न हुए। ता० १० अप्रेल, १९३१ के अपने पत्र में उक्त प्रोफेसर साहिब लिखते हैं कि 'मैंने इसे कई बार पढ़ने का प्रयत्न किया, किंतु सफल न हो सका। मुझे संदेह ही है कि यह कभी पढ़ा जा सके। संभव है, कोई असाधारण शिक्षा-प्राप्त विशेषज्ञ इसका कुछ अंश पढ़ सके, किंतु इसे पूरा पूरा पढ़ना तो असंभव ही है, क्योंकि इसके कई अंश मिट और घिस गए हैं। यदि बहुत से व्यक्ति मिलकर इस पर प्रयत्न करें तो शायद कुछ हो सके'।

हैदराबाद (दक्षिण) म्यूजियम के अध्यक्ष मिस्टर बी० एम० अहमद ने मुझे सूचित किया है कि इस लेख की फारसी लिखावट बहुत बेपरवाही से लिखी हुई नस्ख़ लिपि में है। संस्कृत अंश की अपेक्षा फारसी अक्षर विशेष घस गए हैं। पहली पंक्ति बहुत-कुछ नष्ट हो गई है, इसलिये उसमें इधर-

है। शिलालेख के दाहिनी तरफ के हाशिए में 'मलिक बहरी' खुदा हुआ है, जो पीछे से किसी का लिखा जान पड़ता है, क्योंकि मूल लेख की लिखावट और इन दो शब्दों के अक्षरों में स्पष्ट अंतर है।

इस लेख की प्रत्येक पंक्ति के आरंभ में दो खड़ी पाइयाँ देख पड़ती हैं। लेखारंभ में किए हुए गणेशजी और सरस्वती को प्रणाम (स्वस्ति श्रीगणेशभारतीभ्यान्नमः) तथा लेखांत में प्रकटित लेखक और पाठक के प्रति शुभकामना के अतिरिक्त सारे लेख की रचना संस्कृत पद्य में हुई है। संस्कृत लिखावट की कुल पंक्तियाँ ३५ और श्लोकों की संख्या ६९ है।

वस्तुतः यह शिलालेख एक प्रशस्ति है। इसकी भाषा सरल एवं सरस है। पढ़ने पर जान पड़ता है कि इसका रचयिता, अर्थात् महेश्वर कवि, साहित्य-शास्त्र से पूर्ण परिचित था। इसकी रचना में अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों और उपमा, रूपक, दीपक, अतिशयोक्ति, अर्थांतरन्यास, परिसंख्या, भ्रांतिमत्, एकावली एवं दृष्टांत आदि अर्थालंकारों का यत्र-तत्र उपयोग देख पड़ता है। अपने शब्द-भंडार का प्रदर्शन करने के लिये प्रशस्तिकार ने साहित्य एवं व्याकरण के बहुत कम

उधर के कुछ शब्द ही पढ़े जाते हैं। मि० अहमद के अनुसार फ़ारसी की दूसरी आधी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है:—

در وقت نماز عصر ماه شوال افواج (؟) ملک بهری...

في سنه احدي و تسعي و ثمان مايستن

दर वक़्त नमाज़े अ़सर माह शव्वाल अफ़वाज़ (?) मलिक बहरी.....फ़ी सने अहदे व तसअ़न व समाने मअ़तिन.

अनुवाद—शव्वाल के महीने में असर की नमाज़ (अपराह्न में होनेवाली नमाज़) के समय मलिक बहरी ने सन् ८९१ (हिजरी = वि० सं १५४३) में...

इस सन् से पता चलता है कि इस शिलालेख का फारसी अंश प्रशस्ति की रचना से अनुमान दो वर्ष के अनंतर खोदा गया था।

प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे अहंयु (श्लो० ५२), खड्गाखड्गि (श्लो० २६), चंडातक (श्लो० ४२), संचं (श्लो० ५१) आदि। इस प्रशस्ति में हेतुमण्णिजंत का भी प्रचुर उपयोग किया गया है, यथा समचीखनत् (श्लो० ३२), अचीकरत (श्लो० ३१), अवीवपत् (श्लो० ४४) इत्यादि। साहित्यिक दृष्टि से कवि ने खिडावदपुर की दीर्घिका एवं वाटिका का रोचक वर्णन किया है, जिसमें विशेषत: शृंगार रस का प्रतिपादन हुआ है। कवि की उत्कृष्ट कविता की प्रशंसा करते हुए हम उसकी रचना के यति-भंग आदि दोष तथा व्याकरण की अशुद्धियों को नहीं भुला सकते। 'आवि:-कुर्वंति' (श्लो० २२) और 'नि:प्रत्यूह०' (श्लो० ५६) प्रयोग पाणिनि के 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' ८। ३। ४१ के विपरीत प्रतीत होते हैं। इनमें विसर्ग के स्थान में 'ष्' होना चाहिए। इसी प्रकार 'अग्रिण्य:' (श्लो० १२) प्रयोग व्याकरण से सिद्ध नहीं होता। छंदोभंग की रक्षा करने के लिये प्रशस्तिकार ने व्याकरण के अशुद्ध प्रयोगों द्वारा च्युतसंस्कारता दोष किया है। 'अनुचरिक्तत:' (श्लो० ६) और 'नास्मृयत' (श्लो० ४७) इसके उदाहरण हैं। संधिसंबंधी दोषों में 'वहत्शाल्मलिमत्' (श्लो० ३१), 'यावत्शेष०' (श्लो० ५६), 'सभ्भझल्लरी०' (श्लो० ३) एवं 'यामुभ्भझंति' (श्लो० ४४) विचारणीय हैं।

इस प्रशस्ति में निम्नलिखित छंद प्रयुक्त हुए हैं—

छंद	...	...	श्लोक-संख्या
अनुष्टुभ्	...	...	१
आर्या	...	...	६८
उपेंद्रवज्रा	...	...	१६
गीति	...	...	१७
पृथ्वी	...	...	२-५, ४३, ४५, ५०
प्रहर्षिणी	...	...	४८-४६

छंद	...	... श्लोक-संख्या
भुजंगप्रयातम्	...	... ५१-५४
मंजुभाषिणी	...	२५, २७, ३०, ३२, ३३, ३६, ४७, ५५, ६२, ६७,
वंशस्थ	...	... ३१
वसंततिलका	...	१०, १८, १९, ३४, ३७-३९, ५७, ५८, ६४, ६५,
शार्दूलविक्रीडितम्	...	८, ११-१३, २०, २४, २९, ३५, ४१, ४४, ४६, ५६, ५९, ६०, ६३, ६६,
शालिनी	...	६, २६, ४०, ४२, ६१, ६९,
शिखरिणी	...	... ७, ९, १४, २३,
स्रग्धरा	...	... १५, २१, २२, २८,

लेखन-समीक्षा

शुद्ध लेखन की दृष्टि से इस शिलालेख में कई स्थानों पर संयुक्त व्यंजन के वर्णों को पृथक् लिखा है, जैसे 'दोलयन्त्यात्मीयं (श्लो० ४१), 'परिस्खलन्मृगमदैक०' (श्लो० ४३) आदि। कहीं कहीं विसर्ग का अशुद्ध प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है, यथा 'अपेतश्रमाः' (श्लो० ४६), 'विशेषमेषाः' (श्लो० ३७)। कुछ शब्दों में 'ख' के स्थान पर 'ष' प्रयुक्त हुआ है, जैसा पुराने लेखों में कहीं कहीं पाया जाता है। उदाहरणार्थ शाषा (श्लो० २९), षाने (श्लो० १६), षड्गाषड्गि (श्लो० २६) एवं 'षिडावदपुर' (श्लो० ३६) का उल्लेख किया जा सकता है। इसी तरह 'ब' के स्थान में 'व' का प्रयोग हुआ है, जैसे 'वृहस्पतियुते' (श्लो० ६३), 'वभूव' (श्लो० ६४) आदि। संयुक्त व्यंजन में 'र्' पूर्व वर्ण रहते हुए उत्तर वर्ण को विकल्प से एक या द्वित्त लिखा गया है, जैसे 'दुर्व्वार' (श्लो० ७), 'निर्भ्भर' (श्लो० ८), दोर्द्दर्प्पः (श्लो० ११) एवं गर्व्वव्ययं (श्लो० ४) आदि। अनुस्वार का प्रयोग

लेखक को इतना पसंद है कि परसवर्ण सारे लेख में कहीं नहीं देख पड़ता। इतना ही नहीं, किंतु श्लोकांत में भी 'म्' के स्थान में अनुस्वार लिखा गया है, जो बहुत अखरता है। इस संबंध में 'संचं' (श्लो० ५१), 'विलोपं' (श्लो० ५२), '०नामधेयं' (श्लो० ६५), 'पारसीकस्थितिं' (श्लो० ६६) आदि उल्लेखनीय हैं। इसके सिवा एक ही व्यक्ति के नाम को दो तरह से लिखा गया है, जैसे 'सलह' (श्लो० १२), 'शलह' (श्लो० २२) तथा 'गयास' (श्लो० १८), 'ग्यास' (श्लो० २०) आदि।

लिपि-विज्ञान की दृष्टि से निम्नलिखित विषय विचारणीय हैं—

(१) प्राचीन लेखन-शैली के अनुसार कहीं कहीं 'ए' की मात्रा वर्ण के बाईं ओर खड़ी लकीर से बतलाई गई है।

(२) 'क' दो प्रकार से लिखा गया है; (१) 'क' और (२) 'कु', 'क्रु' आदि अक्षरों में इसका 'क' ऐसा प्राचीन रूप। आजकल के छपे हुए ग्रंथों में भी 'क' का यह प्राचीन रूप 'क्त' और क्र अक्षरों में देख पड़ता है।

(३) सारे लेख में 'भ' का प्राचीन रूप पाया जाता है।

(४) संयुक्त व्यंजन में जहाँ 'थ' परवर्ण है, वहाँ उसे सर्वत्र 'ळ' इस प्रकार लिखा गया है, जो अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि के 'थ' का ही क्रमिक रूपांतर है। इस प्रकार लिखे हुए संयुक्त वर्ण 'स्थ' को तेईस वर्ष पूर्व भंडारकर महोदय ने कहीं 'च्छ' और कहीं 'स्छ' पढ़ा, जिससे 'उरच्छिरीभवद्०' (श्लो० २७) तथा आस्छानं (श्लो० २९) आदि अशुद्ध पाठ पढ़कर टिप्पण में उन्हें 'आस्थानं',

(१) इस शब्द के संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि छंदोभंग से बचने के लिये प्रशस्तिकार ने दो वर्णों को मिलाकर एक संयुक्त वर्ण बना दिया है, किंतु यहाँ हमारा उद्देश्य तो केवल लिखावट को देखना है, न कि काव्य-संबंधी आवश्यकताओं पर विचार करना।

'उरस्थिरीभवद्०' आदि लिखकर शुद्ध किया। संभव है, उनके पाठ की आधारभूत छापें अच्छी न होने से ऐसा पढ़ा गया हो। 'थ' को इस प्रकार लिखा हुआ देखकर किसी को 'छ' का भ्रम हो सकता है, किंतु मूल लेख, अथवा छाप, को देखने पर तथा इसी प्रशस्ति में प्रयुक्त 'पुण्यमिवात्मन स्थिरं' (श्लो० ३१) एवं 'कुचस्थल' (श्लो० ४३) आदि शब्दों में 'स्छ' या 'च्छ' का जरा भी भ्रम न रहते हुए स्पष्ट रूप से 'स्थ' पढ़ा जाता है। इंदौर राज्य में रामपुरा कस्बे की 'सासबहू की बावड़ी' में वि० सं० १५८० का शिलालेख लगा हुआ है, जिसके 'यावत् सप्तसमुद्रमुद्रितमहीहीनामकामस्थिरा' (पंक्ति २२) इस श्लोक-चरण में भी ठीक ऐसा ही 'स्थ' लिखा मिलता[1] है। खड़ावदे की इस प्रशस्ति से लगभग दो शताब्दी पूर्व लिखे हुए मेवाड़ के गुहिलवंशी रावल समरसिंह के वि० सं० १३३० के चीरवा गाँव के शिलालेख में भी 'स्थां', 'स्थौ' आदि संयुक्त वर्णों में बिलकुल ऐसा ही 'थ' लिखा गया है[2]।

(५) द्वित्त 'ग' में दूसरा वर्ण प्रथम वर्ण की खड़ी लकीर के नीचे से बाईं ओर एक छोटी-सी तिरछी रेखा-द्वारा बतलाया गया है, जिससे इसका रूप आजकल लिखे जानेवाले 'ग्र' जैसा बन गया है। उदाहरणार्थ श्लोक १९, २४ तथा २५ में प्रयुक्त 'दुर्ग्ग' शब्द उल्लेखनीय है। लिपि-विज्ञान से अनभिज्ञ पाठक तो इसे 'दुर्ग्र' ही पढ़ेंगे। भंडारकर महोदय ने इसमें दूसरा 'ग' पढ़ा ही नहीं। संभव है, उन्होंने इसे 'र्ग्र' पढ़ते हुए अशुद्ध समझकर अपने पाठ में केवल 'र्ग' लिखा हो। 'र्ग्र' में बाईं ओर की तिरछी रेखा तथा उसके नीचे का 'ग' की खड़ी लकीर का भाग मिलकर दूसरा 'ग' बना है,

(१) मूल शिलालेख की अपनी तैयार की हुई छाप के आधार पर।

(२) महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा-रचित 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला' (द्वितीय संस्करण), लिपिपत्र २७ वाँ।

जो प्राचीन 'ग' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता रूप है। द्वित्त 'ग' का ठीक ऐसा ही रूप आबू पर के अचलेश्वर महादेव के वि० सं० १३४२ के शिलालेख में तथा भावनगर राज्य (काठियावाड़ में) के महुआ नगर में लक्ष्मीनारायण के मंदिर में लगे हुए वि० सं० १५०० के शिलालेख में पाठक देख सकते हैं[1]।

(६) 'धा' में 'ध' और 'आ' की खड़ी लकीर को बीच में एक आड़ी रेखा से जोड़कर 'ध-ा' ऐसा रूप बनाया गया है। इस समय के आसपास के लेखों में इसी तरह की लिखावट पाई जाती है। आबू पर अचलेश्वर के वि० सं० १३४२ के शिलालेख की २६ वीं पंक्ति के 'सूर्यसमानधामा' शब्द में 'धा' बिलकुल इसी प्रकार लिखा गया है (देखो मूल छाप का फोटो)।

प्रशस्ति का सार

इस प्रशस्ति का मुख्य उद्देश्य मालवे के सुलतान गयासुद्दीन खिल्जी (ई० स० १४६९–१५००) के राज्य-समय वि० सं० १५४१ में बहरी नामक एक सेनापति-द्वारा खड़ावदा गाँव में खुदवाई हुई विशाल बावड़ी तथा आसपास के स्थानों में बनवाए हुए तालाब और लगवाए हुए बाग बगीचों का सविस्तर वर्णन करना है। प्रस्तुत विषय का आरंभ होने से पूर्व मांडू के दूसरे सुलतान हुशंगशाह गोरी से लेकर गयासुद्दीन खिल्जी

---

(१) पंक्ति ४८ में 'सं० १३४२ वर्षे मार्ग्गशुदि १' (मूल छाप का फोटो); भावनगर इंस्क्रिप्शंस; पृष्ठ ८७।

१८ वीं पंक्ति में 'मार्ग्गे श्रृंगाट के' (मूल छाप का फोटो); भावनगर इंस्क्रिप्शंस; पृष्ठ १६२।

'भावनगर इंस्क्रिप्शंस' में छपी हुई उपर्युक्त दोनों लेखों की छापें देखने से पाठकों को द्वित्त 'ग' का यथेष्ट परिचय मिल सकता है, किंतु यह जानना आवश्यक है कि जहाँ इनका पाठ दिया गया है वहाँ पाठ तैयार करनेवाले को इस रूप का ज्ञान न होने के कारण उसने द्वित्त 'ग' को 'ग्र' समझते हुए उसे शुद्ध करने के हेतु केवल एक 'ग' छापा है।

के राजत्व-काल तक की कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। बहरी के लोकोपयोगी कार्यों का विवरण लिखकर प्रशस्तिकार ने अपने वंश का संक्षिप्त परिचय देते हुए अंतिम श्लोकों में बहरी और उसे क्षत्रिय से मुसलमान बनानेवाले सलह का कुछ उल्लेख कर बावड़ी के बनानेवाले शिल्पी के नाम-निर्देश के साथ प्रशस्ति समाप्त की है।

विषय के अनुसार इस प्रशस्ति को हम निम्नांकित सात भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

प्रशस्ति का विषय-विभाग

(१) प्रारंभिक मंगलाचरण आदि; श्लोक १–४।

(२) मालवे के मुसलमान सुलतानों का ऐतिहासिक विवरण; श्लोक ५–२७।

(३) बहरी के लोकोपयोगी कार्यों का उल्लेख और उसका यश-वर्णन; श्लोक २८–५६।

(४) प्रशस्तिकार का वंश-परिचय; श्लोक ५७–६२।

(५) शिलालेख का समय-निर्देश; श्लोक ६३।

(६) सलह और बहरी का परिचय; श्लोक ६४-६८।

(७) खड़ावदे की बावड़ी बनानेवाले शिल्पी का नामोल्लेख; श्लोक ६९।

निम्नलिखित पंक्तियों में हम पाठकों को इस प्रशस्ति के प्रत्येक भाग के वर्णन का परिचय कराते हैं; जहाँ ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख होगा, उन पर यथाप्रसंग विवेचन भी किया जायगा। प्रत्येक श्लोक का प्राय: पूरा भाव लिखने का प्रयत्न किया गया है।

(१)

काव्य का आरंभ करने के 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इस लक्षण के अनुसार प्रशस्ति के प्रारंभ में विघ्नविनायक श्रीगणेश तथा सरस्वती देवी को प्रणाम करके अखिल

विश्व के प्रकाश-रूप और विशुद्ध ज्ञान के सूर्य अज्ञेय परमात्मा की वंदना करते हुए यह मंगल कामना प्रकट की गई है कि उदीयमान

मंगलाचरण

सूर्य के समान तेजस्वी शरीरवाले भगवान् शंकर का वामार्ध मनोरथ पूर्ण करे। तद-नंतर तांडव नृत्य में उन्मत्त शिवजी से कवि ने अपने ज्ञान का प्रकाश कर काव्य का सफलतापूर्वक संपादन करने की प्रार्थना की है। फिर शंकर के नगर की सुंदरियों के केशपाशों में लगी हुई पुष्प-मंजरियों के पराग से पीतवर्ण बने हुए शैल-सुता (पार्वती) के चरणसरोज का स्मरण कर अपनी सरस्वती का विकास करने की प्रार्थना[1] के साथ मंगलाचरण समाप्त होता है।

(१) इस लेख की भांति प्रशस्तिकार महेश कवि के स्वरचित अन्य प्रशस्तियों में भी प्रारंभ में शिव-पार्वती की स्तुति करते हुए पार्वती से अपनी रचना के लिये सफलता एवं स्फूर्ति प्रदान करने की प्रार्थना की है। एकलिंगजी के मंदिर के दक्षिण द्वार की वि० सं० १५४५ की प्रशस्ति में भी इसी कवि ने लिखा है—

स्फुटं यस्याः पारिप्लुतनयनकोणैकशरणः
कपालिक्रोधाग्निज्वलितवपुरौद्धत्यमधृत ।
मनोभूरप्यस्या हिमगिरिसुतायाः सकरुणः
कटाक्षव्याक्षेपो दिशतु कवितां नः परिणताम् ॥ ४ ॥

भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृष्ठ ११८।

इसी तरह महेश-रचित घोसुंडी गांव की बावड़ी की वि० सं० १५६१ की प्रशस्ति के आरंभ में लिखा गया है कि—

कमलविमलबलदलिकुलमंजुलसदपांगरोचनं नयनं ।
गिरिदुहितुर्दलयतु मम मानसतिमिराणि करुणया किरणैः ॥ १ ॥

जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल; जिल्द ५६, भाग १, पृष्ठ ७९।

(२)

यहाँ से ऐतिहासिक वर्णन आरंभ होता है। प्रारंभ में मालवे का यत्किंचित् परिचय दिया गया है। पृथ्वी के मंडनरूप तथा धन-धान्य से संपन्न मालव देश का वर्णन करते हुए प्रशस्तिकार ने लिखा है कि भगवान् शंकर तथा स्वामी कार्त्तिकेय ने भी कैलास जैसे अपने ऊँचे (अर्थात् हिमालय पर के) निवास-स्थान को छोड़ गुणों के समुद्र इस प्रदेश में आकर निवास किया (श्लो० ५)। प्रशस्तिकार का यह कथन केवल कवि-कल्पना नहीं, किंतु कुछ युक्ति-युक्त भी प्रतीत होता है, क्योंकि मालव देश में उज्जयिनी (उज्जैन) के महाकाल[1] और मांधाता (ओंकार) के अमरेश्वर, इन दोनों ज्योतिर्लिंगों की बड़ी महिमा है। कार्त्तिकेय के विषय में यही जानना पर्याप्त होगा कि प्राचीन काल में स्कंद अथवा कार्त्तिकस्वामी के मंदिर मालवे में भी थे। कवि-कुल-गुरु कालिदास की अमर कृति 'मेघदूत' में विरही यक्ष ने अपने संदेशवाहक मेघ को रामगिरि से अपनी नगरी अलका तक का मार्ग बतलाया

मालव देश का वर्णन

(१) उज्जैन के महाकाल के संबंध में शिवपुराण में बतलाया गया है कि प्राचीन काल में किसी समय दूषण नामक असुर उज्जयिनी और उसके आसपास के रहनेवाले ब्राह्मणों को कष्ट पहुँचाया करता था। तब उन्होंने अपना दुःख मिटाने के लिये शिवजी से प्रार्थना की। ब्राह्मणों की प्रार्थना से भगवान् शंकर प्रसन्न हो गए और प्रकट होकर उन्होंने अपने एक ही श्वास से उक्त दानव को भस्म कर डाला। तदनंतर ब्राह्मणों ने उनसे वहीं ठहरने की प्रार्थना की, जिस पर वे ज्योतिर्लिंग का रूप और महाकाल नाम धारण कर उज्जैन में रहने लगे। सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् बाणभट्ट ने भी अपनी 'कादंबरी' में शिवजी के कैलाशवास की प्रीति छोड़कर महाकाल नाम से उज्जैन में रहने का उल्लेख किया है; अतः बाणभट्ट के कथन से भी प्रशस्तिकार के लिखने का समर्थन होता है।

महाकाल-संबंधी विशेष विवरण के लिये देखो टी० ए० गोपीनाथराव-कृत 'ऐलिमेंट्स ऑफ हिंदू इकोनोग्राफी;' जिल्द २, भाग १, पृष्ठ २०१-२।

है। उज्जैन से आगे का रास्ता बतलाते हुए उसने पहले गंभीरा नदी[१] का उल्लेख किया है; वहाँ से उसे देवगिरि नामक स्थान[२] को जाने के लिये कहा है। जान पड़ता है, यह भी रामगिरि की भाँति पहाड़ी है। देवगिरि के संबंध में विरही यक्ष मेघ से कहता है कि 'तू पुष्प-मेघ बनकर स्वर्गगंगा (मंदाकिनी) के जल से आर्द्र बने हुए पुष्पों की वृष्टि-द्वारा वहाँ (अर्थात् देवगिरि में) स्थिर रूप से निवास करनेवाले स्कंद[३] भगवान् को स्नान कराना, क्योंकि वह इंद्र की सेनाओं की रक्षा के लिये नवशशि-कला धारण करनेवाले शिवजी-द्वारा अग्निदेव के मुख में डाला हुआ सूर्य से भी अधिक ज्वलंत तेज ही तो है।[४]' तात्पर्य यह कि शंकर की तरह स्कंद भगवान् भी पूजनीय हैं। जान पड़ता है कि कवि ने मेघदूत के इस वर्णन को स्मरण रखते हुए मालवे में कार्त्तिकेय के निवास का उल्लेख

(१) गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
पूर्वमेव , श्लो० ४२ ।

(२) नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुंबराणाम् ॥
वही, श्लो० ४४ ।

(३) स्कंद से स्वामी कार्त्तिक या कार्त्तिकेय ही अभिप्रेत है, क्योंकि यह भी कार्त्तिकेय के नामों में से एक है।

कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः ।
पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीरग्निभूर्गुहः ॥ ३९ ॥
अमरकोष; प्रथम काण्ड ।

(४) तत्र स्कंदं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥
पूर्वमेघ; श्लोक ४५ ।

किया है। इस संबंध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उक्त देवगिरि मालवे में ही था, क्योंकि देवगिरि से चलकर मेघ को चंबल नदी[1] पर जाने और उसे पारकर दशपुर[2] (अर्थात् वर्तमान मंदसौर) पहुँचने को कहा गया है, जिससे निश्चयपूर्वक ज्ञात होता है कि देवगिरि की स्थिति उज्जैन और मंदसौर के बीच—मालवे के मध्य में—किसी स्थान पर होनी चाहिए। प्रोफेसर विल्सन ने इसको मालवे के मध्य भाग में चंबल से कुछ दक्षिण का देवगढ़ माना है[3]। डॉक्टर फ्लीट के मतानुसार देवगढ़ झाँसी से करीब ६० मील दक्षिण-पश्चिम में ग्वालियर राज्य में है[4]; किंतु देवगिरि का ठीक पता चलाने का प्रयत्न श्रीयुत एम्० बी० गर्दे महोदय ने किया है। उन्होंने स्वयं उक्त प्रदेश में घूमकर यह मत स्थिर किया है कि बी० बी० एंड सी० आई० रेलवे की उज्जैन-नागदा लाइन के उन्हेल स्टेशन से १३-१४ मील दूर गंभीरा और चंबल नदियों के बीच और उज्जैन से मंदसौर के सीधे रास्ते पर स्थित देवडूंगरी नाम की १००० फुट लंबी, ४०० फुट चौड़ी और १०० फुट ऊँची पहाड़ी ही कालिदास-वर्णित देवगिरि है। देवगिरि और देवडूंगरी, इन दोनों नामों में कोई अंतर नहीं देख पड़ता, क्योंकि संस्कृत में 'गिरि' और बोलचाल में 'डूंगरी'

(१) व्यालंबेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥
पूर्वमेघ; श्लो० ४७।

(२) तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
......पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥
वही; श्लो० ४९।

(३) नंदलाल दे; जिऑग्राफिकल डिक्शनेरी ऑफ एनश्यंट एंड मेडिएवल इंडिया (द्वितीय संस्करण); पृष्ठ ५४।

(४) कॉर्पस् इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्; जिल्द ३, पृष्ठ १०७ (भूमिका-भाग) का टिप्पण।

दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। इसके सिवा इसकी स्थिति कालिदास के वर्णन से बहुत कुछ मिल जाती है[१]।

इस मालव देश के गाँव गाँव में भाँति भाँति के यज्ञ होते रहते हैं, जिससे सज्जन पुरुषों को आवागमन का भय नहीं रहता और मनुष्य तथा चक्रवाक क्रमशः अपने मित्रों एवं सूर्य भगवान् के द्वारा हार्दिक आनंद प्राप्त करते हैं (श्लो० ६)। यहाँ तक अपने विषय का स्थल-निर्देश कर प्रशस्तिकार ने मालवे के मुसलमान सुलतानों का इतिहास आरंभ किया है।

यहाँ मालवे में स्वतंत्र मुसलमानी राज्य की स्थापना होने से पूर्व की परिस्थिति पर कुछ शब्द लिखना आवश्यक है। ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी का अंत निकट था, उस समय दिल्ली के सुलतान फीरोज तुगलक का राजत्व-काल (ई० स० १३५१-८८) समाप्त हुआ, जिसके कुछ समय पूर्व ही दिल्ली की मुसलमानी सल्तनत में घुन लग गया था। सुलतान मुहम्मद तुगलक के राज्य-समय में ही ई० सन् १३३६ और १३४७ में क्रमशः विजयनगर तथा बहमनी राजवंश के स्वतंत्र राज्य कायम हो गए थे। एक तरह से मुहम्मद तुगलक के राजत्व-काल ही में बंगाल स्वतंत्र हो गया और ई० स० १३५६ में सुलतान फीरोज ने खुले तौर से बंगाल की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर ली। फीरोजशाह के अवसान पर दिल्ली की स्थिति और भी डावाँडोल हो गई। उस समय की नाजुक हालत से लाभ उठाकर १३९४ ई० में दिल्ली के वजीर ख्वाजाजहाँ ने जौनपुर में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। कुछ ही वर्ष बीते थे कि सन् १३९८ ई० में तैमूर लंग की भारत पर चढ़ाई हुई,

मालवे के मुसलमानी राज्य से पूर्व की परिस्थिति

(१) इस संबंध में विशेष जानने के लिये देखो सन् १९२५-२६ की ऐन्युअल रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया; पृष्ठ १९१-९२।

जिससे दिल्ली की सल्तनत को बड़ी भारी ठेस पहुँची और उसके अंग-अंग विगलित हो गए। गुजरात में मुजफ्फरशाह और मालवे में दिलावरखाँ गोरी ने (ई० स० १४०१ में) अपने को स्वतंत्र बना लिया। स्वतंत्र बनकर दिलावरखाँ ने सुलतान की उपाधि धारण नहीं की। तैमूर की चढ़ाई के समय दिल्ली के तत्कालीन सुलतान महमूदशाह तुगलक ने भागकर गुजरात में आश्रय लेना चाहा, किंतु वहाँ मुजफ्फरशाह द्वारा अपना यथेष्ट सत्कार न होता देखकर आफत का मारा सुलतान मालवे में दिलावरखाँ के पास पहुँचा। दिलावर ने उसका राजोचित सम्मान किया। फिर ई० स० १४०१ में वह दिल्ली को लौट गया[1]।

हुशंगशाह गोरी

मालवे में सुलतान महमूदशाह तुगलक का जो सत्कार हुआ, वह दिलावरखाँ के पुत्र अलपखाँ को वहाँ की स्वतंत्र सल्तनत के लिये ठीक न जँचा। तुगलक सुलतान धार में ठहरा, उस समय अलपखाँ परमारों के समय के प्राचीन मंडप (मांडू) दुर्ग की मरम्मत कराकर उसे मजबूत बनाने में लगा हुआ था। उत्तर में दिल्ली तथा जौनपुर और दक्षिण में गुजरात की प्रबल सत्ता के बीच में रहे हुए मालव देश के सुलतानों को हर समय युद्ध का भय बना रहता था, इसी कारण अलपखाँ ने प्राचीन राजधानी उज्जैन को अपने राज्य का प्रधान नगर न बनाकर विशाल पर्वत-मालाओं से घिरे हुए मांडू नगर को, जहाँ एक बहुत बड़ा एवं सुदृढ़ दुर्ग था, अपनी राजधानी के लिये बहुत उपयुक्त समझा। कुछ समय पश्चात् ई० स० १४०६ में अलपखाँ ने विष द्वारा अपने पिता को स्वर्ग में पहुँचाकर अपने लिये राज्य का रास्ता साफ कर लिया। फिर सुलतान बनकर अलपखाँ ने हुशंगशाह नाम धारण किया।

(१) केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जिल्द ३, पृष्ठ ३४६।

इस प्रशस्ति में हुशंगशाह गोरी से ही इतिहास आरंभ हुआ है। श्लोक ७ में लिखा है कि इस (अर्थात् मालव) देश में विंध्य पर्वत पर फले-फूले वृक्षोंवाले मांडव्य (मांडू) नगर में गोरी नामक यवन-कुल में रत्न-रूप 'हुसंग' नृपति था, जिसके प्रताप से प्रबल शत्रुओं की रमणियाँ परिचित थीं; तात्पर्य यह कि शत्रुओं को युद्ध में मारकर या हराकर उन पर उसने अपने प्रताप का सिक्का जमाया था। इसके अनंतर हुशंगशाह की राजधानी मांडव्यपुर (मांडू) को पुरंदरपुर (अर्थात् इंद्र की राजधानी अमरावती) के समान बतलाया है, और रूपक बाँधने के लिये मांडव्यपुर के निर्झरों का मंदाकिनी, केलिवनों का नंदन वन और नाना कलाओं से संपन्न कविजनों का सुर-कोविदों से सादृश्य दिखाया है; साथ ही यह भी जान पड़ता है कि मांडव्यपुर के धनिक पाखंडरहित थे (श्लो० ८)। फिर सुलतान हुशंग की वीरता की यथेष्ट प्रशंसा करते हुए लिखा गया है कि जिस समय युद्धक्षेत्र में यह नृप तलवार चलाता था उस समय धैर्यशील पुरुष भी मंदबुद्धि हो जाने से वहाँ निर्भय होकर संचार नहीं कर सकते थे, और कैद किए जाने पर भय से उनके दोनों कर मिलकर मस्तक पर कलिका-सदृश बन जाते और अपने दाँतों के बीच वे तिनके भर लेते। आशय यह है कि उसके शत्रु पराजित होकर अपने मस्तक पर दोनों हाथ जोड़कर उसे प्रणाम करते हुए दाँतों में तिनके लेकर अपने को उसका शरणार्थी प्रकट करते थे। प्रशस्तियों में प्रायः ऐसे प्रशंसात्मक वर्णन पाए जाते हैं।

हुशंग का हाथी प्राप्त करना; जाजनगर पर चढ़ाई

दसवें श्लोक में एक ऐतिहासिक घटना का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि नगनाथ से मैत्री जोड़कर सुलतान हुशंग विंध्याचल से हाथियों का एक बड़ा झुंड ले आया, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो युद्ध में शत्रु-वीरों को रोकने के निमित्त बनाए

जानेवाले सेतु के निर्माण के लिये अंजनी-सुत हनुमान (श्यामवर्ण) पर्वत-खंडों के ढेर के ढेर उठा लाए हों। यहाँ 'गजव्रज' और 'गिरिव्रज' का साम्य पढ़ते ही बनता है। श्लोक के प्रथम चरण में विंध्याचल का स्पष्ट उल्लेख हो जाने के कारण दूसरे चरण के 'नगनाथ' शब्द का 'पर्वतराज' अर्थ, जिससे विंध्य अभिप्रेत हो, युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता; अतएव यहाँ 'नगनाथ' किसी विशिष्ट व्यक्ति के नाम या बिरुद का सूचक होना चाहिए।

मुहम्मद कासिम फिरिश्ता, अबुलफजल आदि फारसी इतिहास-लेखकों ने हुशंगशाह गोरी की उड़ीसा के जाजनगर पर, जिसका कुछ मुसलमान ऐतिहासिकों ने जाजपुर नाम दिया है, चढ़ाई होने का वृत्तांत लिखा है। फिरिश्ता आदि के आधार पर आजकल के ऐतिहासिक ग्रंथों में भी इस घटना का थोड़ा-बहुत उल्लेख मिलता है। अपने पिता दिलावरखाँ का देहांत होते ही हुशंगशाह की गुजरात के प्रबल सुलतान मुजफ्फरशाह प्रथम से लड़ाई छिड़ गई। गुजरात और मालवे के सुलतानों के आपसी लड़ाई-झगड़े हुशंग के जीवन-काल में ही नहीं, किंतु अनेक उतार-चढ़ाव के साथ उससे पीछे के सुलतानों के राज्य-समय में भी जारी रहे। हुशंगशाह ने यह सोचकर, कि अपनी सैनिक शक्ति गुजरात के सुलतान जैसी सुदृढ़ न होने के कारण बार-बार पराजित होना पड़ता है, हिजरी सन् ८२५ (ई० स० १४२२) में हाथी पकड़ लाने के उद्देश्य से उड़ीसा पर चढ़ाई कर दी।[1] उड़ीसा की तत्कालीन राजधानी जाजपुर मांडू से एक सीधी रेखा खींचने पर ७०० मील दूर है और वहाँ जाते हुए रास्ते में गोंडवाने के जंगल पड़ते हैं। फिरिश्ता ने अपनी तवारीख में हुशंगशाह की उक्त चढ़ाई का जो वर्णन लिखा है, वह इस प्रकार है—

(१) गैजेटियर ऑफ दि बाम्बे प्रेसिडेंसी; जि० १, भाग १, पृ० ३५६।

'हिजरी सन् ८२५ में चुने हुए एक हजार सवारों के साथ उसने (हुशंग ने) सौदागर का भेष बनाकर जाजनगर पर चढ़ाई की। मालवे से एक मास के सफर के बाद वहाँ पहुँचा जाता है। अपने उद्देश्य को भलीभाँति छिपाए रखने के लिये उसने कई रंग के घोड़े, जिन्हें जाजनगर का राजा बहुत पसंद करता था, और उसके राज्य में दुष्प्राप्य कई तरह का सामान भी, जिसे वहाँ का राजा हाथियों के बदले में रख ले, अपने साथ ले लिया। व्यापारी वेश-धारी सवार वहाँ पहुँचे, तब अपने देश की प्रथा के अनुसार राजा ने उन्हें सूचित किया कि लाए हुए वस्त्रों की पहले जाँच हो जाय, फिर रुपए से खरीदने अथवा हाथियों के बदले में लेने का निश्चय हो सकेगा। नियत दिवस को सब सामान जमीन पर फैलाया गया, किंतु आसमान में बारिश का ढंग देखकर सुलतान हुशंग ने लोगों से कहा कि यदि वर्षा हो गई, तो सब वस्तुएँ खराब हो जायँगी; तो भी राजा के सेवकों ने इस बात पर जोर दिया कि उनके मालिक न आवें, तब तक सब सामान खुला ही रहने दिया जाय। इतने ही में परीक्षा के लिये घोड़ों पर काठियाँ जमाई गईं। आखिर वहाँ का राजा आया और कुछ समय में वर्षा आरंभ हो जाने से उसके लवाजमे के हाथी विक्रेय वस्तुओं को कुचलते हुए इधर-उधर भागने लगे, जिससे बहुतसा सामान खराब हो गया। इस तरह अपना नुकसान हुआ देखकर सुलतान हुशंग ने क्रुद्ध होकर अपने साथियों को सवार होने की आज्ञा दी, और देखते ही देखते उसने राजा एवं उसके साथियों पर हमला कर दिया, जिसमें बहुतसे हताहत हुए और राजा स्वयं कैद कर लिया गया। इस समय हुशंग ने अपना असली रूप प्रकट किया। ऐसी हालत में जाजनगर के नृपति ने ७५ बड़े-बड़े हाथी देकर छुटकारा पाया, किंतु लौटते समय सुलतान हुशंग ने अपनी रक्षा के लिये उसे उसके राज्य की सीमा तक साथ

चलने को मजबूर किया। सीमा पर पहुँचकर राजा को अपने कुछ और उत्तम हाथी देने पर लौटने की अनुमति मिली'।[1]

अपनी 'आईने अकबरी' में अबुल्फजल ने भी इस घटना के संबंध में लिखा है कि 'एक बार चालाकी से सौदागर का भेष बनाकर वह (अर्थात् हुशंग) जाजनगर को रवाना हुआ। कुछ साथियों के साथ उस प्रदेश का राजा इस काफले को देखने आया, इतने ही में हुशंग ने उसे कैद कर लौटने की त्वरा की। दोनों साथ-साथ चल रहे थे, उस समय हुशंग ने उसको (जाजनगर के राजा को) कहा कि उसके उस सफर का उद्देश्य हाथियों को प्राप्त करना ही था; यदि उसके लोगों ने उसे बचाने का प्रयत्न किया, तो अपराध के दंड में उसे प्राण देने होंगे। इस पर राजा ने कई मूल्यवान् हाथी मँगवाए और उन्हें हुशंग को भेंटकर छुटकारा पाया।'[2]

(१) फिरिश्ता की फारसी तवारीख; भाग २, पृष्ठ ४६६-६७।
ब्रिग्ज; फिरिश्ता; जिल्द ४, पृष्ठ १७८-७९।
यज्दानी; मांडू दि सिटी ऑफ जॉय; पृष्ठ १०-११।
ए बांबे सबॉल्टर्न; हिस्ट्री ऑफ मांडू; पृ० ४१।

(२) आईने अकबरी (कर्नल जैरेट का अनुवाद); जि० ३, पृष्ठ २१९।
तबकाते नासिरी (रैवर्टी-कृत अनुवाद); पृष्ठ ५८९, टिप्पण।
तबकाते अकबरी; पृ० ५३७।
गैजेटियर ऑफ दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी (कैंबेल-संपादित); जि० १, भाग १, पृ० ३५९।
केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० ३, पृ० ३५०-५१।
राखालदास बैनर्जी; हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा; जि० १, पृष्ठ २८७।

घने जंगलोंवाले उड़ीसा (उत्कल) प्रदेश में हाथियों की सदैव बहुतायत रही है। इसी कारण इतिहास में हमें हाथी प्राप्त करने के लिये समय समय पर कई राजाओं की उड़ीसा पर चढ़ाई होने के उदाहरण मिलते हैं। प्रायः

भिन्न भिन्न फारसी तवारीखों में हुशंगशाह की इस चढ़ाई का वृत्तांत मिलने से यही जान पड़ता है कि शिलालेख में प्रयुक्त 'नगनाथ' शब्द जाजनगर या उड़ीसा के तत्कालीन नृपति का सूचक होना चाहिए। इस संबंध में यह जानना आवश्यक है कि हुशंगशाह ने अपने शत्रु—गुजरात के सुलतान—का मुकाबला करने के लिये उड़ीसा के जिस राजा को अपना मित्र बनाकर उससे बहुतसे हाथी प्राप्त किए वह किस वंश का था, और उसका नाम क्या था? इतिहास से पता चलता है कि वह पूर्वीय गंग वंश का कोई शासक होना चाहिए। महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने स्व-संपादित टॉड-कृत 'राजस्थान' के हिंदी अनुवाद में प्रत्येक प्रकरण के अंत में विस्तृत टिप्पण लिखे हैं। सातवें प्रकरण पर २६२ पृष्ठों

नगनाथ

देखा गया है कि इस प्रांत के पराजित राजा से सुलह होने पर आक्रांता नृपति विशेषतः हाथी ही माँगा करते थे। उलगखाँ (मुहम्मद तुगलक) ने सन् १३२३ ई० में दूसरी बार तिलिंगाने पर चढ़ाई की, उसके साथ ही उसकी उड़ीसा के प्राचीन हिंदू राज्य पर भी चढ़ाई हुई, जिसका विजय-संबंधी कोई प्रधान उद्देश्य नहीं था। इस चढ़ाई के फल-स्वरूप उसे ४० हाथी प्राप्त हुए (केंब्रिज हिस्ट्री; जि० ३, पृ० १३३)। ई० स० १३६० में दिल्ली के सुलतान फीरोज तुगलक ने भी उड़ीसा पर चढ़ाईकर बहुतसे हाथी प्राप्त किए थे [केंब्रिज हिस्ट्री; जि० ३, पृ० १७८। प्रो० ईश्वरीप्रसाद; हिस्ट्री ऑफ मेडिएवल इंडिया (द्वितीय संस्करण); पृ० २६६-६७]। ई० स० १४१२ (हिजरी सन् ८१५) में बहमनी सुलतान ताजुद्दीन फीरोजशाह उड़ीसा पर चढ़ाईकर बहुत से हाथी ले गया [तबकाते नासिरी (रैवर्टी-कृत अनुवाद); पृ० ५९२, टिप्पण। राखालदास बैनर्जी; हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा; जि० १, पृ० २८७]। बंगाल के सुलतान इलियासशाह ने भी जाजपुर (जाजनगर) पर चढ़ाई कर वहाँ से अनेक हाथी प्राप्त किए और बहुतसा सामान लूटा (केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० ३, पृ० २६३)। इस प्रकार इतिहास से कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

में छपे हुए महत्त्वपूर्ण टिप्पण भारत के प्राचीन राजवंशों का इतिहास जानने के लिये बहुत उपयोगी हैं। इनमें कलिंगनगर के गंग वंश के ३३ वें राजा नरसिंह चौथे के राज्य-समय के तीन ताम्रपत्रों का उल्लेख है, जिनमें से अंतिम शक संवत् १३१६ (वि० सं० १४५१ = ई० स० १३९५) का है।[1] सुप्रसिद्ध पुराविद् डॉक्टर कीलहॉर्न की 'उत्तर भारत के लेखों की सूची' में संख्या ३७० पर वाराणसी कटक नामक स्थान में प्रदत्त और पुरी से प्राप्त इन ताम्रलेखों का निर्देश किया गया है।[2] सर वूल्स्ले हेग ने सुलतान हुशंग की उपर्युक्त चढ़ाई के समय विद्यमान जाजनगर के राजा का नामोल्लेख न करते हुए उसे कलिंग-नगर के चोडगंग का वंशज बतलाया है।[3] गंग-वंशी राजा नरसिंह चतुर्थ के उल्लिखित ताम्रपत्रों के सिवा श्रीकूर्मम् से मिले हुए अन्य पाँच लेखों से भी उसका पता चलता है। इन लेखों से विदित होता है कि शक संवत् १३४६ = ई० स० १४२५ तक नरसिंह चतुर्थ उड़ीसा का नृपति माना जाता था।[4] हुशंगशाह की चढ़ाई ई० स० १४२२ में हुई थी, अतः 'नगनाथ' शब्द से अभिप्रेत नृपति नरसिंह चतुर्थ ही होना चाहिए। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्रीयुत राखालदासजी वंद्योपाध्याय (स्वर्गीय) ने नरसिंह चतुर्थ के राज्य-काल के वर्णन में इस चढ़ाई का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि हुशंग के हाथी ले जाने की घटना संभवतः उड़ीसा में नहीं, किंतु रतनपुर या तुम्माण में हुई हो।[5]

---

(१) प्रथम खंड, पृ० ४४१।

(२) इस संबंध में देखो जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (प्राचीन संस्करण); जि० ६४, भाग १, पृ० १२८-४४। राखालदास बैनर्जी-रचित हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा; जि० १, पृ० २८३-८६।

(३) कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० ३, पृ० ३४१।

(४) राखालदास बैनर्जी; हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा; जि० १, पृ० २८५ और २८७।

(५) वही; पृ० २८७।

इससे यह सिद्ध हो गया कि हुशंगशाह ने गंग-वंशी राजा नरसिंह चतुर्थ पर चढ़ाई कर हाथी प्राप्त किए थे। श्रीकूर्मम् के उपर्युक्त लेखों के समय के अनंतर का, किसी गंग-वंशी राजा के समय का, कोई लेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ,[1] जिससे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि नरसिंह चौथे ने कब तक राज्य किया। पुरी के जगन्नाथ मंदिर के 'मादला पांजी'[2] नामक ताड़पत्र पर लिखे हुए वंशावलियों के बृहत् संग्रह से विदित होता है कि भानुदेव चतुर्थ गंग-वंश का अंतिम राजा था, जिसे 'अकटा अबटा' या

(१) राखालदास बैनर्जी; हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा; जि० १, पृ० २८७।

(२) प्राचीन काल में भारतवर्ष में भिन्न भिन्न राजवंशों के शासकों और उनके मुख्य-मुख्य कार्यों के विवरण-संबंधी ग्रंथ रहते थे। बहुत प्राचीन ग्रंथ नष्ट होते गए और पिछले समय में उन पर से नए लिखे गए, जैसे तामिल भाषा में 'कोंगुदेशराजाक्कळ' [जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १८४६ ई०, पृ० १ और आगे। मद्रास जर्नल ऑफ लिटरेचर ऐंड साइन्स (सन् १८४७), पृ० १, और आगे। इंपीरियल गैजेटियर ऑफ इंडिया, जि० २, पृ० ६]; कनड़ी में 'राजावलिकथे' (इंपीरियल गैजेटियर; जि० २, पृ० ६); बँगला में मृत्युंजय तर्कालंकार-रचित 'राजावली'; मराठी में 'शिर्केचे तोरगळ' (इंडियन ऐंटिक्वेरी; जि० ३०, पृ० २०१, टिप्पण ३) तथा अनेक बखरें; संस्कृत में 'पृथ्वीराजविजय'; हिंदी में चंद-कृत 'पृथ्वीराज रासो'; 'मुहणोत नैणसी की ख्यात' आदि। कई जैन उपासरों में उनके तीर्थंकरों तथा प्रत्येक गच्छ की आचार्य्य-परंपरा के विवरण संगृहीत हैं। इसी तरह उड़ीसा के अनेक प्राचीन मंदिरों में विस्तृत वंशावलियों के संग्रह मिलते हैं, जिनमें से जगन्नाथ (पुरी) के मंदिर का 'मांदला पांजी' नामक बृहत् संग्रह उक्त प्रदेश के इतिहास का उपयोगी साधन है। जिस प्रकार भाटों की ख्यातों में लिखी हुई अनेक बातें इतिहास की कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं, उसी तरह 'मांदला पांजी' में वर्णित कई घटनाओं का क्रम, उनके संवत् आदि वर्तमान शोध से उतने ठीक नहीं निकलते; फिर भी कई अंशों में इतिहास-कार उसका प्रमाण स्वीकार करते हैं। इसके विशेष

पागल राजा भी कहते थे।[1] भानुदेव का अब तक कोई शिला-लेख प्राप्त नहीं हुआ, किंतु 'मादला पांजी' में लिखा है कि भानुदेव का देहांत होने पर उसके मंत्री कपिलेंद्र या कपिलेश्वर ने राज्य पर अपना अधिकार जमाकर सन् १४३५ ई० में नया सूर्यवंशी राज्य स्थापित किया।[2] श्रीयुत मनमोहन चक्रवर्ती (स्वर्गीय) ने अपने 'उड़ीसा के पूर्वी गंगवंशी राजाओं का काल-क्रम' शीर्षक विद्वत्तापूर्ण निबंध में भी इसी सन् में कपिलेंद्र का राज्याभिषेक होना स्वीकार किया है।[3] अनेक आधुनिक लेखकों ने भी इसका समर्थन किया है,[4] जिससे ई० स० १४३५ तक गंग-वंश का अस्तित्व निश्चित है।

उड़ीसा के राजाओं के नामों के साथ 'गजपति' बिरुद मिलता है, जो संभवतः उक्त नृपतियों द्वारा शासित प्रदेश में हाथियों की बहुतायत होने से लिखा जाता हो। अनुमान हो सकता है कि खड़ावदे की प्रशस्ति के रचयिता महेश कवि को हुशंग की चढ़ाई के समय विद्यमान वहाँ के गंग-वंशी राजा को इसी विरुद से सूचित करने के लिये 'गजपति' का पर्यायवाची शब्द 'नागनाथ' लिखना अभीष्ट था; किंतु छंद भंग न होने देने के लिए 'नागनाथ' के स्थान में 'नगनाथ'

विवरण के लिये देखो, इंपीरियल गैजेटियर ऑफ इंडिया; जिल्द २. पृ० ११, जहाँ डाक्टर फ्लीट ने इसकी परीक्षा कर अपनी सम्मति लिखी है।

(१) राखालदास बैनर्जी; हिस्ट्री ऑफ़ उड़ीसा; जि० १, पृ० २८७।

(२) वही; पृ० २८७—८८।

(३) जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (प्राचीन संस्करण); जि० ७२, पृ० ९७-१४१.।

(४) कटक गैजेटियर; पृष्ठ २४।

चिंतामणि विनायक वैद्य; डाउनफ़ॉल ऑफ हिंदू इंडिया; पृ० २७२।

केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० ३, पृ० २५५, ४११।

इंपीरियल गैजेटियर ऑफ इंडिया; जि० १९, पृ० २५०।

राखालदास बैनर्जी; हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा; जि० १, पृ० २८७-८८।

लिखा गया। पर्वत-सूचक 'नग' शब्द का, प्रयोजन में लक्षणा करके, 'नाग' अर्थात् 'हाथी' अर्थ हो सकता है, क्योंकि 'नाग' शब्द की व्युत्पत्ति 'नगे भवः नागः' है। जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' में 'गंगा' शब्द से 'गंगा-तट' का बोध होता है, उसी तरह 'नग' से 'नाग' का अर्थ लिया जा सकता है। इसलिये जान पड़ता है कि 'नगनाथ' से प्रशस्तिकार ने सुलतान हुशंग के समकालीन उड़ीसा के राजा का निर्देश किया है।

हुशंगशाह की कालपी पर चढ़ाई

११ वें श्लोक में दिग्विजय के लिये तैयार हुए, और शत्रुओं के नगर एवं प्राकार नष्ट कर भुजबल का अभिमान रखनेवाले सुलतान हुशंग द्वारा कालप्रियापत्तन की चढ़ाई होने का उल्लेख है। वहाँ के राजा कादिरसाहि (कादिरशाह) ने भयभीत होकर हुशंग को अपने अमात्य एवं पुत्र, पुत्री तथा बहुतसा धन प्रदान किया। कालप्रियापत्तन वास्तव में कालपी[1] का संस्कृत रूप है। फिरिश्ता ने हिजरी सन् ८३५ (ई० स० १४३२) में सुलतान हुशंगशाह का कालपी पर, जहाँ उस समय दिल्ली की सल्तनत का अब्दुल कादर नामक अफसर नियुक्त था, चढ़ाई करना बतलाया है। हुशंगशाह कालपी से कुछ ही मील दूर रह गया, तब उसे पता चला कि जौनपुर का इब्राहिमशाह शर्की भी उसी नगर पर अधिकार करने को आ रहा था, इसलिये पहले इब्राहिमशाह को पराजित करना आवश्यक समझकर सुलतान हुशंग उसी की तरफ चला। जब मालवे और जौनपुर की सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख आ खड़ी हुईं और हर घड़ी युद्ध आरंभ होने की संभावना थी, इतने ही में इब्राहिमशाह को दिल्ली के सुलतान सैयद मुबारक की जौनपुर पर चढ़ाई

(१) युक्तप्रांत के जालौन जिले में। इसके विशेष वृत्तांत के लिये देखो इंपीरियल गैजेटियर ऑफ इंडिया; जिल्द १४, पृष्ठ ३१८-१९।

होने की सूचना मिली, जिस पर शर्की सुलतान कालपी की आशा छोड़कर एकदम जौनपुर को रवाना हुआ। इधर हुशंग ने शीघ्र ही कालपी पहुँचकर उस पर अधिकार कर लिया। हुशंग के आज्ञानुसार वहाँ की जनता ने नमाज में उसका खुतबा पढ़ा। अब्दुल कादूर की नजर मंजूर कर और वहाँ का शासनाधिकार पूर्ववत् उसी को सौंपकर सुलतान मालवे को लौट गया।[1] तत्पश्चात् मालवे के राज्यासन के उत्तराधिकार-संबंधी झगड़ों से लाभ उठाते हुए कादिरखाँ ने अपने को स्वतंत्र बनाकर कादिरशाह नाम धारण कर लिया। इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि फिरिश्ता आदि ने कादिरशाह को दिल्ली के सुलतानों का अफसर बतलाया है, किंतु इस प्रशस्ति में स्थान-स्थान पर 'नृपति' शब्द से उसका उल्लेख किया गया है।

श्लोक १२ से जान पड़ता है कि कादिरशाह के वहाँ से (अर्थात् कालपी से) अमात्य आदि लोगों ने शांतिपूर्वक मंडप नगर (अर्थात् मांडू) को जाकर अपने स्वामी (हुशंगशाह) को संतुष्ट किया। इन सबका

सलह

अग्रणी शत्रुओं का दर्प दलन करनेवाला श्रीसलह नामक खान[3] था, जो मुसलमान नृपति हुशंग का विश्वासपात्र बन गया। १३वें श्लोक से पता चलता है कि पहले कादिरसाहि ने इस (सलह) को अपना सचिव बनाया था, अतः औचित्य का पालन करने के लिये हुशंगशाह ने भी उसे वही कार्य सौंपा। सलह को खान पद पर नियुक्त कर और उसे राज्य-भार सौंपकर हुशंग ने कई वर्ष आमोद-

(१) ब्रिग्ज; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० १८४-८५।
केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० ३, पृ० २५२।
इंपीरियल गैजेटियर ऑफ इंडिया; जि० १४, पृ० ३१८।

(२) केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० ३, पृ० २५२।

(३) इस शब्द के संबंध में देखो ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (ग्यारहवाँ संस्करण); जि० १५, पृ० ७७१।

प्रमोद में व्यतीत किए। इसी प्रशस्ति के श्लोक ६६-६७ में बतलाया गया है कि हमीरपुर के कलचुरिवंशी भैरव नृपति के पुरोहित के वंश में पुरुषोत्तम का पुत्र घुडऊ कला-कुशल तथा राजाओं का माननीय था। कादिरशाह ने घुडऊ को मुसलमान बना लिया, जिस पर उसने अपना नाम सलह रक्खा। सलह जैसे राजमान्य व्यक्ति को सचिव बनाना ही योग्य जान पड़ता है।

सुलतान महमूद खिल्जी

१४ वें श्लोक में लिखा है कि जब हुशंग नृपति ने यशःशेष-रूपी मार्ग का अनुसरण किया (अर्थात् उसका स्वर्गवास हो गया) तब खल्जी-कुल-कमल-दिवाकर महमूद नृपति ने तलवार की धार से शासित पृथ्वी पर अधिकार किया। यहाँ प्रशस्तिकार ने सुलतान हुशंग के पुत्र मुहम्मद (गजनीखाँ) का नामोल्लेख न करते हुए उसके पश्चात् गोरी सुलतानों के राज्यासन पर अपना अधिकार जमानेवाले उनके मंत्री महमूद खिल्जी का वर्णन किया है। १५वें श्लोक में सुलतान महमूद की विजयों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि महान् महमूद नृपति ने अपनी दिग्विजय-यात्रा के आरंभ-मात्र से दिल्ली में हाहाकार मचवा दिया, सुदूर दक्षिण के चोल-राज्य में अपना आतंक जमाया, उत्कल (उड़ीसा) प्रदेश को तहस-नहस कर डाला और अतिरौद्र द्रविड़ राजा के प्रदेश को भी परेशान कर दिया[1]।

प्रशस्तिकार ने महमूद खिल्जी की विजयों का ही उल्लेख किया है, किंतु उसकी पराजय के संबंध में चूँ तक नहीं की। सुलतान महमूद की सब पराजयों का परिचय न देकर हम केवल एक का निर्देश-मात्र करते हैं। वि० सं० १४९४ (ई० स० १४३७) में

(१) इसमें से अतिशयोक्ति का अंश निकालकर महमूद खिल्जी की कुछ विजयों का वृत्तांत पाठक फिरिश्ता की तवारीख तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों में देख सकते हैं।

मेवाड़ के प्रसिद्ध एवं प्रतापी महाराणा कुंभा ने सुलतान महमूद पर चढ़ाई की थी, जिसका कारण यह था कि महाराणा के लिखने पर महमूद खिल्जी ने अपने शरणागत महपा पँवार को सौंपने से इनकार कर दिया था[1]। सारंगपुर के पास दोनों सेनाओं का घोर युद्ध हुआ, जिसमें सुलतान हारकर भाग गया[2]। महमूद की इस पराजय के विषय में कुंभलगढ़ की प्रशस्ति (अप्रकाशित) में, जिसकी रचना इसी शिलालेख के रचयिता महेश कवि ने की थी, लिखा है कि 'कुंभकर्ण ने सारंगपुर में असंख्य मुसलमान स्त्रियों को कैद किया, महम्मद (महमूद) का महामद छुड़वा दिया, उक्त नगर (सारंगपुर) को जला डाला और अगस्त्य के समान वह अपने खड्ग-रूपी चुल्लुओं से मालव-समुद्र को पी गया'[3]।

१६वें श्लोक से पता चलता है कि हुशंगशाह की भाँति सुलतान महमूद ने भी उदारचेता खान सलह को राज्य-प्रबंध सौंपकर

---

(१) म० म० रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा; राजपूताने का इतिहास; जि० २, पृ० ५९७।

(२) वही; पृ० ५९८।

(३) त्यक्त्वा दीना दीनदीनाधिनाथा
दीना बद्धा येन सारंगपुर्याम्।
योषाः प्रौढाः पारसीकाधिपानाम्
ताः संख्यातुं नैव शक्नोति कोपि ॥२६८॥
महोमदो युक्ततरो न चैषः
स्वस्वामिघातेन धनार्जनान्न (०र्जनत्वात्)।
इतीव सारंगपुरं विलोड्य
महंमदं त्याजितवान् महंमदं ॥ २६९ ॥

एतद्दग्धपुराग्निवाडवमसौ यन्मालवांभोनिधिं
क्षोणीशः पिबति स्म खड्गचुलुकैस्तस्मादगस्त्यः स्फुटम् ॥२७०॥
—अप्रकाशित प्रशस्ति से।

नाना प्रकार से दान, विजय, ज्ञान-संपादन एवं सुख-भोग किया। इसके पश्चात् १७वें श्लोक से मालूम होता है कि युद्ध-रूपी पर्वत में विचरण-शील सलह-रूपी क्रुद्ध केसरी ने मालवे के सुलतान पर चढ़ाई करते हुए गुजरात के नृपति के ८० हाथियों को मार डाला।

सलह द्वारा गुजरात के सुलतान के हाथियों का संहार

यदि प्रशस्तिकार का यह कथन ठीक हो, तो अनुमान होता है कि वह कोई बड़ा युद्ध होना चाहिए जिसमें गुजरात के सुलतान के ८० हाथियों का संहार हुआ हो। इस संबंध में यह निश्चय करना आवश्यक है कि ऐसा युद्ध कब और किस सुलतान के समय में हुआ। वैसे तो मालवे और गुजरात के सुलतानों में आपस के लड़ाई-झगड़े चलते ही रहते थे, किंतु जहाँ तक हमें विदित है, किसी मुसलमान इतिहास-लेखक ने गुजरात के किसी सुलतान के ८० हाथियों के मारे जाने का उल्लेख नहीं किया। मुल्ला अहमद की 'तारीख अल्फी' से पता चलता है कि हिजरी सन् ८२२ (ई० स० १४२२) में सुलतान हुशंग ने सारंगपुर में अहमदशाह पर रात को अचानक हमला किया, जिसमें बहुतसे गुजराती हताहत हुए और अहमदशाह स्वयं एक साथी को लेकर भाग निकला। जान पड़ता है कि इसी युद्ध में गुजरात के सुलतान के कुछ हाथी नष्ट हुए हों (हाथियों की संख्या का किसी तवारीख में निर्देश नहीं किया गया), क्योंकि उसी तवारीख में आगे चलकर लिखा है कि "अहमदशाह को यह सूचना मिलने पर कि मालवे की सेना लूटमार करने में लगी हुई है, उसने तितर-बितर हुई अपनी सेना के एक हजार घुड़सवार एकत्र किए और उनके साथ सुबह होने तक अपने पड़ाव के किनारे प्रतीक्षा करने के अनंतर उसने हमला कर दिया। गत रात्रि की लूटमार से थक जाने के कारण मालवे की सेना के अधिकांश सैनिक सो गए थे और कुछ अब तक

लूटमार में लगे हुए थे। इसी से अहमदशाह के हमले का वे अच्छी तरह मुकाबला न कर सके और उनमें से बहुत से मारे गए। इस अवसर पर अहमदशाह ने न केवल अपने खोये हुए सब हाथी वापस पाए, किंतु (हुशंग द्वारा) जाजनगर से लाए हुए सात अन्य बड़े हाथी भी प्राप्त किए।"[1] इससे प्रतीत होता है कि हुशंग ने पहले अहमदशाह के कुछ हाथी छीन लिए अथवा मार डाले हों।

गुजरात की फारसी तवारीख 'मिराते सिकंदरी' में भी इस युद्ध के विषय में लिखा है कि "सुलतान अहमद ने मलिक जौनां को शत्रु का हाल दर्याफ्त करने भेजा। उसने जाकर देखा कि सुलतान अहमद के मंडप के सामने कुछ पुरुषों सहित खड़ा हुआ सुलतान हुशंग रक्षक सैन्य के घोड़ों और युद्ध के हाथियों का निरीक्षण कर रहा था और उसकी सेना के अधिकांश सिपाही लूटमार में लगे हुए थे। जौनां ने लौटकर सुलतान को हाल कह सुनाया। इतने ही में सबेरा हो गया और अहमदशाह ने जोर से कहा—'ऐ मेरे बहादुरो! बहादुरी दिखाने का यही वक्त है।' फिर एक हजार आदमियों के साथ, जिनमें से हरएक शेर जैसा बहादुर था, वह आगे बढ़ा और हुशंग की सेना को देखकर 'अल्लाह', 'अल्लाह' की ध्वनि के साथ तलवार घुमाते हुए उन्होंने हमला कर दिया। दोनों राजाओं में से प्रत्येक अपने मान की रक्षा के लिये बड़े वेग से अपनी अपनी तलवार चलाता हुआ अंत में घायल हुआ। प्रकाश आने पर अहमदशाह के महावतों ने अपने स्वामी को देखा और हाथियों की पंक्ति बनाकर शत्रु पर आक्रमण किया। आक्रमण न रुक सकने से हुशंगशाह भाग गया और सुलतान अहमद की विजय हुई। हुशंग के सैनिक भी लूट का माल छोड़कर किसी

(१) ब्रिग्ज; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० २४–२५। बॉम्बे गैजेटियर; जि० १, भाग १, पृ० २३८। इस लड़ाई में सलह का उपस्थित होना नहीं पाया जाता।

प्रकार अपने प्राणों की रक्षाकर प्रसन्न हुए"।[1] इस कथन से यही प्रतीत होता है कि 'मिराते सिकंदरी' के कर्त्ता सिकंदर बिन् मुहम्मद ने हुशंग की पराजय का उल्लेख किया है, न कि गुजरात के सुलतान के ८० हाथियों के संहार होने का।

इसी संबंध में 'तबकाते अकबरी' में लिखा है कि जाजनगर से लाए हुए सात बढ़िया हाथी भी उस (अहमदशाह) के हाथ लगे।[2] इस विषय में फिरिश्ता का भी कथन है कि 'वह (अर्थात् हुशंगशाह) और अहमदशाह, दोनों घायल हुए; किंतु मालवे का नृपति, जिस पर विजयलक्ष्मी कभी प्रसन्न नहीं हुई, पराजित हुआ और सारंगपुर के किले में चला गया। इस पर अहमदशाह ने न केवल अपना खोया हुआ सब माल हासिल किया, किंतु सुलतान हुशंग से उसका खजाना ले जानेवाले—हाल में ही जाजनगर से लाए हुए—सात हाथियों के सिवा बीस हाथी और प्राप्त किए।'[3] फिरिश्ता के कथन से भी शिलालेख में वर्णित घटना की पुष्टि नहीं होती। यदि सारंगपुर के इस युद्ध को ही प्रशस्ति में वर्णित घटना का क्षेत्र माना जाय, तो मुल्ला अहमद की 'तारीख अल्फी' के जरा से इशारे के सिवा उक्त घटना का और कोई स्पष्ट उल्लेख किसी तवारीख में नहीं मिलता।

खड़ावदे की प्रशस्ति में हुशंगशाह की मृत्यु (श्लोक १४) और सुलतान महमूद खिल्जी के राज्यारोहण (वही श्लोक) के उल्लेख के पश्चात् सलह द्वारा गुजरात के सुलतान के हाथियों का संहार होना बतलाया गया है, जिससे अनुमान हो सकता है कि यदि यह घटना महमूद खिल्जी के राज्यकाल में न होकर सुलतान हुशंग के

(१) बेले; गुजरात, पृ० १०६।

(२) वही; पृ० १०६, टिप्पणी।

(३) ब्रिग्ज; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० १८२।

समय में हुई होती, तो हुशंगशाह के वर्णन के साथ ही इसका उल्लेख किया जाता, न कि महमूद खिल्जी के वृत्तांत में। फिर भी इस संबंध में यह विचारणीय है कि प्रथम तो प्रशस्तिकार मालवे के इतिहास का कोई विशिष्ट ज्ञाता नहीं था और न उसने मालवे का कोई इतिहास लिखा, जिससे आशा की जा सके कि उसने इस प्रशस्ति में मालवे के प्रत्येक सुलतान के राज्य-काल का वृत्तांत ठीक काल-क्रम के अनुसार ही लिखा है। प्रशस्ति का रचयिता संस्कृत का एक अच्छा कवि था जो काव्यरचना में अपनी निपुणता प्रकट कर सकता, न कि विशुद्ध इतिहास-लेखन में। दूसरा विचारणीय विषय यह है कि बहरी के कथनानुसार कवि महेश ने जो प्रशस्ति लिखी, उसमें उसे बहरी के पोषक खान सलह की वीरता का परिचय देना ही अभीष्ट था, इसलिये जहाँ उसे अनुकूल प्रतीत हुआ—वह चाहे सुलतान हुशंग या महमूद खिल्जी, किसी के राज्य-समय के विवरण में हो—वहीं उसने इसका उल्लेख कर दिया।

फारसी तवारीखों में मालवे के सुलतान की सेना-द्वारा गुजरात के सुलतान के इतने हाथी नष्ट किए जाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, इतना ही नहीं, किंतु यह भी पता नहीं चलता कि कभी महमूद खिल्जी ने गुजरात के किसी सुलतान पर इतनी बड़ी विजय प्राप्त की थी जिसमें उसके सैन्य-द्वारा गुजरात की सेना के इतने अधिक हाथियों का संहार होना संभव हो। यदि इस घटना का सुलतान महमूद खिल्जी के राज्यकाल में होना माना जाय, तो इतिहास से महमूद खिल्जी की ई० स० १४५१ में गुजरात के सुलतान कुतुबशाह के साथ की कपड़वंज की लड़ाई का पता चलता है। हेग महोदय ने इस युद्ध के विषय में लिखा है कि 'कुतुबुद्दीन ने ४०००० सवारों के साथ अहमदाबाद से चलकर कपड़वंज से ६ मील पर पड़ाव डाला। ता० १ अप्रेल सन् १४५१ ई० को कुतु-

बुद्दीन पर रात में हमला करने के लिये महमूद खिल्जी अपने डेरे से चला, किंतु रास्ता भूल जाने से रात-भर इधर-उधर भटकने के पश्चात् सुबह उसने अपने को अपने पड़ाव के पास ही पाया। शत्रु पर आक्रमण न कर सकने से वह निराश हो गया और उसने अपनी सेना को आगे न बढ़ाया। इधर कुतुबुद्दीन भी, जिसे सब बात का पता चल गया था, आगे बढ़ा। लड़ाई छिड़ने पर कठिन समय में मालवे का बृहत् सैन्य बिलकुल परास्त हो गया और सुलतान महमूद ८१ हाथी और अपना सब माल विजेता के हाथ में छोड़कर भाग गया। रणखेत से कुछ दूर जाकर वह ठहरा, जहाँ उसकी बिखरी हुई सेना के ५-६ हजार सैनिक उसे आ मिले और मध्यरात्रि को सेना मांडू को लौटने लगी। लौटती सफर में उसके बचे हुए सैन्य को कोली लोगों द्वारा बहुत कष्ट मिला[1]।' इस संबंध में फिरिश्ता ने लूट के माल के साथ कुतुबशाह को ६० हाथी मिलना बतलाया है[2]। मिराते सिकंदरी के कर्त्ता ने भी कुछ विस्तार के साथ इस युद्ध का वर्णन लिखा है, जिसमें सुलतान महमूद की सेना के भागने का उल्लेख है[3]।

उपर्युक्त तवारीखों में वर्णित कपड़वंज के युद्ध का परिणाम प्रशस्तिकार के कथन से सर्वथा विपरीत जान पड़ता है; इसलिये नहीं कह सकते कि महेश कवि ने खान सलह द्वारा गुर्जर नृपति के ८० हाथियों के मारे जाने का उल्लेख कर उसकी जो प्रशंसा की है, उसमें कितना सत्य है। अनुमान होता है कि बहरी ने अपने पोषक सलह की महेश द्वारा अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा लिखवाई है। आशा है, अन्य ऐतिहासिक विद्वान् भी इस संदिग्ध विषय पर प्रकाश डालकर

(१) केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इंडिया; जि० ३, पृ० ३०१-२।

(२) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जिल्द ४, पृ० ४०।

(३) बेले; गुजरात; पृ० १४४-४६।

इसका यथेष्ट स्पष्टीकरण करेंगे; तब पूर्ण रूप से निश्चय हो सकेगा कि या तो महेश कवि ने खान सलह की प्रशंसा के केवल पुल बाँध दिए हैं अथवा उसने एक नई घटना का उल्लेख किया है, जिसका किसी पिछले फारसी इतिहास-लेखक को पता नहीं था। जान पड़ता है कि सत्य उपर्युक्त दोनों विषयों में से एक में है, जिसका ठीक पता लगाने के लिये अन्य विद्वानों की गंभीर गवेषणा अपेक्षित है। वैसे तो खड़ावदे का यह लेख एक प्रशस्ति है, जिसमें कतिपय व्यक्तियों की भर-पेट प्रशंसा की जाती है; इसलिये बहरी ने महेश कवि की लेखनी से खान सलह की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा लिखवाई हो, तो भी अस्वाभाविक नहीं है।

सुलतान गयासुद्दीन खिल्जी

१८वें श्लोक में मनुष्य-जन्म के अशेष फल प्राप्त कर सुलतान महमूद के, अपने सुयोग्य एवं शत्रुजेता सुपुत्र गयास नृप को राज्य सौंपकर, अवसान होने का उल्लेख है। प्रशस्ति में मांडू के जिस सुलतान को 'गयास' अथवा 'ग्यास' लिखा गया है, वह महमूद खिल्जी का पुत्र एवं उत्तराधिकारी गयासुद्दीन खिल्जी है। श्लोक १९ और २० में गयासशाह की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है। १९वें श्लोक में प्रशस्तिकार ने लिखा है कि मांडव्य दुर्ग (मांडूगढ़) में गयास नृपति के रहते हुए पृथ्वी के अन्य शत्रु-राजाओं को विस्तार का अवसर नहीं मिलता था।[1] २०वें श्लोक में परिसंख्या अलंकार

(१) प्रशस्तिकार ने यहाँ सुलतान गयासशाह की अच्छी प्रशंसा की है; किन्तु इसी संबंध में यह जानना आवश्यक है कि जहाँ एक ओर प्रशस्तिकार के कथनानुसार गयासशाह के आतंक से अन्य राजाओं के लिये अपना विस्तार करना कठिन हो रहा था, इसी प्रशस्ति के रचयिता ने, इसकी रचना के केवल चार वर्ष पश्चात्, महाराणा रायमल के साथ होनेवाले चित्तौड़ के भयंकर युद्ध में गयासशाह का उक्त महाराणा द्वारा गर्वगंजन होना बतलाया है—

द्वारा गयासशाह की प्रशंसा में बतलाया गया है कि पारसीक[1] (अर्थात् यवन या मुसलमान)-तिलक सुलतान गयास के राज्य-

यंत्रायंत्रि हलाहलि प्रविचलद्दंतावलव्याकुलं
वल्गद्वाजिबलक्रमेलककुलं विस्फारवीरारवं
तन्वाने तुमुलं महासिहतिभिः श्रीचित्रकूटे गल-
द्गर्वं ग्यासशकेश्वरं व्यरचयत्श्री(च्छ्री)राजमल्लो नृपः ॥ ६८ ॥

एकलिंगजी के मंदिर में दक्षिण द्वार की प्रशस्ति। भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १२१।

सुलतान गयासुद्दीन की मेवाड़ की लड़ाइयों के संबंध में अपनी शैली के अनुसार फिरिश्ता ने मौन धारण किया है और अन्य मुसलमान इतिहासकारों ने इतना ही लिखा है कि राज्यारूढ़ होने के पश्चात् गयासुद्दीन सदा ऐश-इशरत में मग्न रहा और मांडू से बाहर न गया (बंबई गैजेटियर; जि० १, भाग १, पृ० ३६२)।

(१) प्रायः देखा गया है कि संस्कृत के प्राचीन विद्वानों को शक, पारसीक आदि जातियों का यथेष्ट परिचय न होने से वे इन शब्दों को सामान्यतः मुसलमानों के लिये प्रयुक्त करते हैं। पृ० २६ टिप्पण २ तथा इस श्लोक में मुसलमानों के लिये 'पारसीक' शब्द और पृ० ३५, टि० १ में दक्षिण द्वार की प्रशस्ति से उद्धृत श्लोक तथा इसी प्रशस्ति के ३१वें श्लोक में 'शक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। मुसलमानों से सदियों पहले शक जाति का अस्तित्व इतिहास से सिद्ध हो चुका है और 'पारसीक' का अर्थ है 'पारस (वर्तमान फारस या ईरान) देश का निवासी', न कि मुसलमान। महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' के चौथे सर्ग में 'पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना' (श्लो० ६०) लिखकर ईरान के निवासियों को सूचित किया है, न कि मुसलमानों को। इससे यह पता चलता है कि प्रशस्तियों आदि की रचना में मिलनेवाले 'पारसीक' आदि शब्दों का मन चाहे जैसा प्रयोग किया जाता है। प्राचीन या मध्ययुगीन भारत की बात छोड़ दी जाय, ऐतिहासिक ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण वर्तमान समय में भी एक संस्कृत विद्वान् ने सुप्रसिद्ध अँगरेज कवि शेक्सपियर को हौणय (अर्थात् हूण) कवि बतलाया है (शेक्सपियर के Mid-Summer Night's Dream नाटक के संस्कृत अनुवाद 'वासन्तिकस्वप्नम्' के आरंभ में एक विद्वान् ने कवि का परिचय देते हुए लिखा है)।

समय दंड केवल छात्रों में (न कि प्रजा में), बांधना केवल मोतियों में (प्रजाजनों में सूली आदि से बांधना नहीं पाया जाता था), बंध केवल कंचुली में (न कि प्रजा पर किसी प्रकार का बंधन), चापल्य प्रत्येक सैन्य के अश्व-समूह में (न कि नागरिकों में), करपीड़न (अर्थात् पाणिग्रहण) केवल विवाह में (न कि प्रजा में अनेक प्रकार से कर की पीड़ा) और कठिनता केवल स्तन-युगल में (न कि प्रजा पर किसी प्रकार की सख्ती) दृष्टिगोचर होती थी।

सलह और उसकी वीरता

इसके पश्चात् सलह के संबंध में दो श्लोक लिखे गए हैं। २१वें श्लोक में लिखा है कि राज्यासन पर आरूढ़ होकर गयास-शाह ने, अपने पिता के प्रेमपात्र तथा अनेक-गुण-संपन्न होने के कारण, अधिकारी-वर्ग में से सलह को प्रधान बना दिया और उसने यह पद समुचित रूप से स्वीकार कर लिया तब सब राज्यकार्य सफलतापूर्वक चलने लगा। २२वाँ श्लोक युद्धक्षेत्र में प्रकट होनेवाली सलह की अनुपम वीरता एवं रणचातुरी का परिचायक है। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि प्रशंसा की धारा में बहते हुए प्रशस्तिकार ने सलह को 'नरपति' तक कह डाला है। इस श्लोक में कवि ने यह भाव प्रकट किया है कि कान तक आकृष्ट धनुष से छोड़े गए बाण-समूह द्वारा छिदे हुए शत्रु-पक्ष के राजाओं के उरस्थल से बहनेवाली रुधिर-धाराओं से रणखेत सरोवर-सा जान पड़ता था, जिसमें लपलपाती हुई असिधारा से कट-कटकर गिरनेवाले शत्रुओं के सिर श्याम कमल की शोभा धारण करते हुए सलह नरपति की रणचातुरी को प्रकट करते थे। इसको पढ़कर भवभूति की अमर लेखनी द्वारा 'उत्तररामचरित' में अंकित लव और चंद्रकेतु का युद्ध-वर्णन स्मरण हो आता है।

सलह या शलह नामधारी जिस व्यक्ति की वीरता एवं कार्य-कुशलता की इस प्रशस्ति में स्थान-स्थान पर प्रशंसा की गई है

उसका कई फारसी तवारीखों तथा आधुनिक इतिहास-लेखकों के ग्रंथों से पता नहीं चलता। सुलतान महमूद खिल्जी के राज्य-समय[1] तथा मुगल-कालीन इतिहास में भी रायसेन के तँवर राजपूत सलहदी का उल्लेख मिलता है। महाराणा साँगा से होनेवाले खानवा के युद्ध के आरंभ में बादशाह बाबर ने सलहदी को भेजकर महाराणा से सुलह की बात चलाई,[2] किन्तु संधि-चर्चा सफल न हो सकी। यद्यपि सलहदी भी सलह की भाँति हिंदू से मुसलमान बनाया गया था,[3] तो भी प्रशस्ति का सलह और तवारीखों का सलहदी (मुसलमान होने पर सलाहुद्दीन) एक ही व्यक्ति नहीं हो सकता, क्योंकि सलह जन्म से ब्राह्मण था और पीछे से कादिरशाह द्वारा मुसलमान बनाया गया (श्लो० ६६) और सलहदी तँवर राजपूत था।

श्लोक १३ और १६ से जान पड़ता है कि सुलतान हुशंग गोरी तथा महमूद खिल्जी ने राज्य का शासनभार सलह पर रखकर अपना समय नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद में व्यतीत किया, और श्लोक २१ में लिखा है कि गयासशाह ने उसे प्रधान के पद पर नियुक्त किया, किंतु इससे यह निश्चय नहीं होता कि उपर्युक्त तीनों सुलतानों के राजत्व-काल में खान सलह प्रधान मंत्री रहा था। हमारा अनुमान है कि वह राज-दरबारों की गति-विधि से पूर्ण परिचित और कार्यदक्ष व्यक्ति था, इसी लिये उल्लिखित सुलतानों

(१) बेले; गुजरात; पृ० ३४१।

(२) कर्नल टॉड-कृत 'राजस्थान' (ऑक्सफर्ड-संस्करण); जि० १, पृ० ३५६।

वीरविनोद; भाग १, पृ० ३६५।

म० म० रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा; राजपूताने का इतिहास; जि० २, पृ० ६८२–८३।

(३) बेले; गुजरात; पृ० ३६५।

का विश्वासपात्र बनकर रहा हो,—१२वें श्लोक के चौथे चरण में स्पष्ट बतलाया गया है कि खान सलह यवन-नृप हुशंग का विश्वासपात्र बन गया,—न कि प्रधान मंत्री, क्योंकि इतिहास से पता चलता है कि सुलतान हुशंग ने अपने चचाजाद भाई मलिक मुगीस को अपना मंत्री बनाया था।[1] इसके अतिरिक्त मलिक मुगीस के पुत्र मलिक महमूद को सुलतान हुशंग बहुत अर्से से चाहता था, इसलिये उसने हि० स० ८२२ (ई० स० १४१९) में उसको खान की उपाधि से भूषित कर उसके पिता के सहकारी पद पर नियुक्त किया[2] और यह आज्ञा दी कि जब कभी वह युद्ध के लिये प्रस्थान करे उस समय वह युवक (अर्थात् मलिक महमूद) उसके साथ चले और मलिक मुगीस राजधानी में रहे[2]। हुशंग-शाह के समय का मलिक महमूद ई० स० १४३५ में महमूद खिल्जी के नाम से मालवे का सुलतान बन गया, तब उसने अपने पिता मलिक मुगीस को अमीरुल्-उमरा, जुब्दतुल्-मुल्क, खुल्सतुल्-मालवा, अजीम् हुमायूँ आदि अनेक उपाधियाँ प्रदान कर अपना प्रधान मंत्री नियुक्त किया।[3] इतिहास से पता चलता है सुलतान गयासुद्दीन ने राज्यारूढ़ होकर अपने पुत्र अब्दुल कादर को प्रधान मंत्री बनाया और सुलतान नासिरुद्दीन के नाम से उसे युवराज घोषित किया।[4] इन बातों को देखते हुए यही मानना ठीक होगा कि सलह नामधारी व्यक्ति उपर्युक्त सुलतानों का विश्वास-पात्र बनकर रहा था, न कि प्रधान मंत्री; और यह भी अनुभव-गम्य

(१) ब्रिग्ज; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० १७७।
(२) वही; पृ० १७७-७८।
(३) वही; पृ० १९६।
(४) वही; पृ० २३६।
बॉम्बे गैजेटियर; जि० १, भाग १, पृ० ३६२।

है कि जो पुरुष नृपतियों का परम विश्वासपात्र या 'मरजीदान' बन जाता है, वह कई अंशों में प्रधान सचिव से भी अधिक प्रभाव रखता और काम निकाल सकता है। यद्यपि सलह या शलह का कई फारसी तवारीखों से पता नहीं चलता, तो भी यह सोचते हुए कि हिंदुस्तान की फारसी तवारीखों की संख्या बहुत बड़ी है और मुसलमान लेखकों के सभी ऐतिहासिक ग्रंथ प्रत्येक लेखक को हर जगह सुलभ नहीं होते, हमारा विश्वास है कि किसी अन्य विद्वान् को किसी न किसी प्राचीन इतिहास-ग्रंथ से सलह, सरह, शलह या शरह नामक व्यक्ति का पता चल सकेगा।

२३वें श्लोक से पता चलता है कि गयास नृपति के प्रतिनिधि (अर्थात् खान सलह) ने वायव्य दिशा के प्रांत में शबर लोगों का

वायव्य दिशा में भीलों का उपद्रव

रातदिन का उपद्रव सुनकर महावीर बहरी को, जिसे उसने बाल्यकाल से नृप-चरित अर्थात् राजनीति पढ़ाई थी और जो उसके लिये पुत्रवत् था, शत्रुओं को शांत करने के लिये भेजा। वायव्य दिशा के प्रांत से राजपूताने का वर्तमान प्रतापगढ़ राज्य और इंदौर राज्य के रामपुरा-भानपुरा जिले का पश्चिमी भाग समझना चाहिए। चौदहवीं शताब्दी में—संभव है, इससे पूर्व भी—उक्त प्रदेश पर भीलों का राज्य था।[1] भीलों को पराजित कर मांडू के सुलतानों और मेवाड़ के चंद्रावतों ने रामपुरा-भानपुरा जिले पर अपना अधिकार जमा लिया था। महाराणा संग्रामसिंह या सांगा (वि० सं० १५६६-१५८४) के समय तक इस पर मुसलमान सुलतानों का अधिकार रहा[2]। महाराणा सांगा ने हि० स० ९२५ (ई० स०

---

(१) इंदौर स्टेट गैजेटियर (लुअर्ड-संकलित); पृ० २४२।

(२) वही; पृ० २४३।

१५१९) में सुलतान महमूद खिल्जी द्वितीय को पराजित कर बहुत-सा प्रदेश, जिसमें यह जिला भी था, छीन लिया।[1]

तीन श्लोकों (२४-२६) में उस प्रदेश में बहरी द्वारा किए हुए युद्धों का संक्षिप्त वृत्तांत है। अपने स्वामी की आज्ञा से उस प्रदेश का स्वामित्व प्राप्त कर बहरी ने पूर्व दिशा के खिडावद नामक नगर (वर्तमान खड़ावदा) में, जो चर्मण्वती[2] (चंबल) नदी के तट पर है, एक सुदृढ़ एवं युद्धकार्य के लिये उपयुक्त दुर्ग बनवाया, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो प्रतापी शबर (भील) राजाओं के सिर पर उसने अपना बायाँ पैर जमा दिया हो (श्लो० २४)। तात्पर्य यह कि बहरी द्वारा खड़ावदे में सुदृढ़ दुर्ग बन जाने पर आसपास के भील शासकों पर उसका आतंक जम गया था। इसके पश्चात् यह

उस प्रदेश में बहरी के युद्ध

(१) इंदौर स्टेट गैजेटियर (लुअर्ड-संकलित); पृ० २४३।

(२) यह राजपूताने और मध्य भारत की एक अच्छी नदी है, जिसमें बारहों मास जल रहता है। प्राचीन काल में चंद्रवंश में रंतिदेव नामक प्रतापी, अत्यंत धर्मात्मा एवं दानशील राजा हुआ, जिसका वर्णन महाभारत तथा पुराणों में मिलता है। उसके यहाँ दो लाख रसोइए थे, और अगणित अतिथियों, ब्राह्मणों, भिखारियों आदि को भोजन कराने के लिये असंख्य पशुओं का प्रतिदिन वध होता था। उनके चमड़ों से बहकर जो रुधिर-धारा निकली वह चर्मण्वती कहलाई।

सांकृतिं रन्तिदेवं च मृतं सृंजय शुश्रुम।
यस्य द्विशतसाहस्रा आसन्सूदा महात्मनः ॥ १ ॥
गृहानभ्यागतान्विप्रानतिथीन्परिवेषकाः।
पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम् ॥ २ ॥
उपस्थिताश्च पशवः स्वयं थं शंसितव्रतम्।
बहवः स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत्सत्रयाजिनम् ॥ ४ ॥
नदी महानसाद्यस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः।
तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽभवत्पुरा ॥ ५ ॥

महाभारत; द्रोणपर्व, ६७वाँ अध्याय।

बतलाया गया है कि सिंह-सदृश बहरी ने गिरिकंदरा जैसे अपने दुर्ग में पहुँचकर निज शत्रु-रूपी हस्ति-समूह को अपने बाण, शक्ति और बल्लम-रूपी पंजों से इस प्रकार चीर डाला मानो पर्वत-भेत्ता इंद्र तेज धारवाले अपने वज्रों द्वारा पर्वत को काट रहा हो (श्लो० २५)।

शंखोद्धार में राजा क्षेमकर्ण की पराजय

२६ वें श्लोक से पता चलता है कि शंखोद्धार में रंतिदेव द्वारा लाई हुई नदी (अर्थात् चंबल) के तटों के मध्य में यवन सरदार बहरी द्वारा क्षेमकर्ण नामक नृपति की, जिसने युद्ध में सामना किया था, पराजय हुई। यह क्षेमकर्ण कौन और कहाँ का शासक था, इस विषय पर भंडारकर महोदय ने सर्वथा मौन धारण किया है। हमारे मतानुसार यह मेवाड़ के महाराणा मोकल के सात पुत्रों में से दूसरा और महाराणा कुंभा का छोटा भाई क्षेमकर्ण[1] या खींवा होना चाहिए। यह क्षेमकर्ण सीसोदियों के प्रतापगढ़ (देवलिया) राज्य के वर्तमान शासकों का पूर्वपुरुष था[2]। वर्तमान समय में प्रतापगढ़ राज्य इंदौर राज्य के रामपुरा परगने के पश्चिमी भाग से, जिसमें शंखोधार है, बिलकुल जुड़ा हुआ है; इसलिये हमें यह अनुमान बहुत ठीक जँचता है कि उस समय—जैसा आजकल है—क्षेमकर्ण का अधीनस्थ प्रदेश खड़ावदा, शंखोधार आदि स्थानों तक होगा, अतएव बहरी के साथ उसका युद्ध होना बहुत संभव है।

इतिहास से यह भी पता चलता है कि बहरी और क्षेमकर्ण समकालीन थे। वि० सं० १५२५ (ई० स० १४६८) में अपने पिता महाराणा कुंभा को मारकर उदयसिंह मेवाड़ का स्वामी बना, तब राजभक्त सरदार उसे राज्यच्युत करने का उद्योग करने लगे। हत्यारे उदयसिंह ने आसपास के राजाओं की प्रीति संपादन करने

(१) राजपूताने का इतिहास; जि० २, पृ० ६१० ।

(२) वही; पृ० ६१०, टिप्पण ४ ।

के लिये उन्हें कुंभा का जीता हुआ आबू का प्रदेश तथा राज्य के कई परगने दे दिए, तब सरदारों ने और भी अप्रसन्न होकर सलाह करके उदयसिंह के छोटे भाई रायमल को, जो अपनी सुसराल ईडर में था, राज्य लेने के लिये बुलाया। वह कुछ सैन्य के साथ ब्रह्मा की खेड़ तथा केसरियानाथ होता हुआ जावर के निकट आ पहुँचा, जहाँ सरदार भी उससे जा मिले[1]। एकलिंगजी के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति से विदित होता है कि जावर के पास के युद्ध में रायमल ने विजय प्राप्त कर वहाँ अपना अधिकार जमा लिया;[2] फिर दाडिमपुर के पास घोर युद्ध हुआ, जिसमें रुधिर की नदी बह निकली, रायमल विजयी हुआ और क्षेम नृपति मारा गया[3]। प्रशस्ति के इस कथन से स्पष्ट नहीं जान पड़ता कि यह क्षेम नृपति कौन था। महामहोपाध्याय राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा के मतानुसार यह 'प्रतापगढ़वालों का पूर्वज और महाराणा कुंभा का भाई (क्षेमकर्ण) होना चाहिए[4]।' मुहणोत नैणसी के कथनानुसार महाराणा कुंभा के राज्य-समय वह सादड़ी में रहता था और कुंभा से उसकी अनबन होने के कारण उसका उदयसिंह के पक्ष में रहना संभव है। क्षेमकर्ण की मृत्यु

(१) राजपूताने का इतिहास; जि० २, पृ० ६३६–३७।

(२) योगिनीपुरगिरींद्रकंदरं हीरहेममणिपूर्णमंदिरं।
अध्यरोहदहितेषु केसरी राजमल्लजगतीपुरंदरः ॥ ६३ ॥
भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १२१।

(३) अवर्पत्संग्रामे सरभसमसौ दाडिमपुरे
धराधीशस्तस्मादभवदनणुः शोणितसरित्।
स्खलन्मूलस्तु(?)लोपमितगरिमा क्षेमकुपतिः
पतन् तीरे यस्यास्तटविटपिवाटे विघटितः ॥ ६४ ॥
भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १२१।

(४) राजपूताने का इतिहास; जि० २, पृ० ६३८, टिप्पण।

वि० सं० १५२५ के आसपास हुई, और बहरी का खड़ावदे की प्रशस्ति की रचना के समय, अर्थात् वि० सं० १५४१ में, अस्तित्व निश्चित है; अतः बहरी और क्षेमकर्ण का समकालीन होना निश्चित है। प्रशस्ति में वर्णित शंखोद्धार रामपुरा परगने का चंबल पर शंखोधार नामक स्थान है, जहाँ प्रतिवर्ष दो बार—वैशाखी और कार्तिकी पूर्णिमा को—बड़ा मेला लगता है।

२७वें श्लोक में बतलाया गया है कि मालवे के सुलतान के हृदय में स्थिर बने हुए और उसे मर्मांत कष्ट पहुँचानेवाले इब्राहिम

बहरी द्वारा इब्राहिम का अस्तित्व मिटना

नामक व्यक्ति (-रूपी काँटे) को बहरी ने शल्य, तलवार, कुंत और पट्टिश आदि शस्त्रों से निकाल डाला। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इब्राहिम नामक किस व्यक्ति से प्रशस्तिकार का अभिप्राय है। इस संबंध में यह भी जानना आवश्यक है कि बहरी नामक जिस व्यक्ति ने वायव्य दिशा के प्रदेश में इतनी लड़ाइयाँ लड़ीं और उसका स्वामित्व प्राप्त किया, उसका फ़ारसी तवारीखों आदि से पता नहीं चलता।

(३)

२८वें श्लोक से प्रारंभ कर २९ श्लोकों में बहरी के लोकोपयोगी कार्यों का उल्लेख और उसका यश-वर्णन किया गया है।

बहरी का प्रशंसात्मक वर्णन

पहले तीन श्लोकों में बहरी की भरपूर प्रशंसा पाई जाती है। इस संबंध में प्रशस्तिकार ने लिखा है कि अपने भुज-दंडों से उद्दंड (प्रचंड) खड्ग को उठानेवाला वीरवर बहरी जिस समय शरत्कालीन चंद्र के समान अपने उज्ज्वल यश से विशाल पृथ्वी-मंडल को धवलित कर रहा था, तब उसके सामने कर्ण का धनुर्विद्या-संबंधी गर्व, इंद्र (अर्थात् मेघ) की दानशीलता की महिमा, कामदेव का रूप-दर्प और राजा भोज

का बुद्धिवैभव, सब कुछ फीका जान पड़ता था। दूसरे शब्दों में इसका यही अर्थ हो सकता है कि मलिक बहरी अत्यंत धनुर्विद्या-निपुण, दानवीर, स्वरूपवान् और बुद्धिमान् व्यक्ति था (श्लोक २८)। इसके पश्चात् बहरी की दानशीलता की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए बतलाया गया है कि चित्त में अंकुरित, प्रमोद-रूपी जल द्वारा सींचे गए और सत्पात्र के आश्रय से दृढ़ बने हुए, सुवर्ण-रूपी जल-पात्रों (द्वारा सिंचन) से पूरे बढ़े हुए, और शाखाओं को तोड़ डालें ऐसे बड़े बड़े घोड़ों के दान द्वारा जिसके फल पक गए हैं, ऐसा इस वीर बहरी का दान-रूपी वृक्ष विमल कीर्ति द्वारा बढ़ता रहता है, यह आश्चर्य का विषय है (श्लो० २९)। आगे चलकर बहरी के शील की प्रशंसा में कहा गया है कि कामदेव ने इसके हृदय को दूसरों (अथवा शत्रुओं) की स्त्रियों के प्रति कदापि आकृष्ट नहीं किया और न कभी किसी प्रशंसित पराई वस्तु के लिये इसमें लोभ-वश मोह-बुद्धि उत्पन्न हुई (श्लो० ३०)।

उपर्युक्त ३० श्लोकों में अनेक प्रकार के विवरण का परिचय कराने के अनंतर हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि यहाँ से आगे

बहरी के लोकोपयोगी कार्य्य---शाल्मलिमत्पुर के तालाब

२६ श्लोकों में बहरी के किए हुए अनेक लोकोपयोगी कार्यों---तालाब, बावड़ी, बाग-बगीचे आदि---के महेश कवि की लेखनी के सुंदर काव्यमय वर्णन का रसास्वादन करें। श्लो० ३१ से पता चलता है कि बहरी ने शाल्मलिमत[1] नामक नगर में छोटे से क्षीरसागर जैसी शोभावाला एक तालाब खुदवाया, जिससे ऐसा जान पड़ता था कि शकों (अर्थात् यवनों) के अग्रणी (बहरी) ने अपने पुण्य को एक बड़े सेतु के समान स्थिर कर दिया हो। इसके उत्तर की ओर बहरी ने एक और सुंदर तालाब बनवाया जो अपने पास-

(१) यह रामपुरा परगने का सेमली गांव होना चाहिए।

वाले दूसरे सरोवर के साथ ऐसा जान पड़ता था मानो दही का भरा समुद्र हो (श्लो० ३२)। पहले तालाब को 'दुग्धपयोधि' और दूसरे को 'दधिवारिधि' बतलाकर कवि ने दूध-दही का सुंदर जोड़ा बनाया है। इसके पश्चात् कवि ने कल्पना की है कि बहरी-निर्मित सरोवर की प्रफुल्लित रक्तकमलों की पंक्तियों से आकृष्ट होकर लक्ष्मीजी भगवान् विष्णु का संग छोड़कर उनमें आमोद-प्रमोद करती थीं (श्लो० ३३)। उक्त स्थान में विकसित कमल-समूह को देखकर चंचल बनी हुई भ्रमरियों के सुरम्य संगीत के साथ नृत्य करते हुए रथांग पक्षियों का मधुर शब्द मिलता जाता था, जिससे मान-समय में स्त्रियाँ अपने अपने प्राणपति के प्रति इसी प्रकार उत्सुक हो जाती थीं जैसे कामावेश में आभूषणों की घंटियों की मधुर झंकार से अंगनाओं में उत्सुकता बढ़ जाती है (श्लो० ३४)। उस सरोवर के तट पर लगे हुए आम और पनस के वृक्ष पथिकों को अपने सुगंधित पुष्प और सुस्वादु फल अहर्निश प्रदान करते रहते हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि निस्संदेह ये (वृक्ष-रूपी) पुत्र सब प्रकार का अन्न प्रदान करनेवाले अपने पिता, अर्थात् कल्पवृक्ष, की (उसी प्रकार) स्पर्धा करते हैं मानो पुण्यात्मा व्यक्तियों के सुपुत्र अपनी गुणावली द्वारा अपने पिता से बढ़कर निकलते हों (श्लो० ३५)।

तत्पश्चात् खड़ावदे की बावड़ी की, जहाँ यह प्रशस्ति पाई गई, रचना और उसकी प्रशंसा आरंभ होती है, जिसका सारांश नीचे लिखा जाता है—

खड़ावदे की बावड़ी

बहरी ने खिड़ावदपुर की दक्षिण दिशा में एक बड़ी बावड़ी बनवाई, जिसमें सुंदर और स्वच्छ पत्थर के चौके इस प्रकार उत्तमता से जड़े गए मानो उज्ज्वल मणियों की माला हो। (श्लो० ३६) इन पंक्तियों के लेखक ने गत वर्ष खड़ावदे जाकर इस बावड़ी को देखा था। वहाँ के निवासी

इसे 'हजूरिए (हुज़ूरिए) की बावड़ी' कहते हैं। यह निस्संदेह एक विशाल वापी है और इसकी रचना के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि इसमें पत्थर के बहुत बड़े और गढ़े हुए मोटे-मोटे चौके एक-दूसरे पर बहुत उम्दा तरह से जमाए हुए देख पड़ते हैं और यह नहीं जान पड़ता कि उनके बीच बीच कहीं चूने का उपयोग हुआ है। संभव है, उन्हें भीतर से लोहे की पत्तियों से कस दिया गया हो, जैसा कि इंदौर राज्य के निमाड़ जिले में ऊन गाँव के प्राचीन मंदिरों की रचना में देख पड़ता है।

शुद्ध और कभी न सूखनेवाले अमृत (अर्थात् जल) द्वारा पोषित होने से इस बावड़ी में नाना प्रकार की विशेषताएँ जान पड़ती थीं। इस कथन को प्रमाणित करने के लिये कवि ने लिखा है कि इस वापी पर अनुरक्त रहने के कारण मल्लिकाक्ष[1] पक्षी समय आने पर भी (अर्थात् वर्षाऋतु में भी) मानस-सरोवर को नहीं जाते[2] (श्लो० ३७)। चंद्रकांत मणि जैसे पत्थरों की बनी हुई

(१) यह एक प्रकार का हंस है।

राजहंसास्त्वमी चञ्चुचरणैरतिलोहितैः।
मल्लिकाक्षास्तु मलिनैः धार्तराष्ट्राः सितेतरैः ॥१९२॥

हेमचंद्राचार्य-विरचित 'अभिधानचिंतामणि'; चतुर्थ कांड।

उल्लिखित श्लोक की टीका में हेमचंद्राचार्य्य ने लिखा है कि जिनके मल्लिका के आकार जैसे नेत्र हों, वे मल्लिकाक्ष कहलाते हैं (मल्लिकाकारे अक्षिणी एषां मल्लिकाक्षाः)।

(२) यह कवि-समय की प्रसिद्धि है कि वर्षा-ऋतु का आरंभ होते ही हंस मानस-सरोवर को चले जाते हैं (...जलधरसमये मानसं यांति हंसाः ॥ २३ ॥)

[साहित्यदर्पण (निर्णयसागर-संस्करण); सप्तम परिच्छेद, पृ० ४३७]।

इस बावड़ी की दीवारों में सुवर्ण कमलों की पंक्ति का प्रतिबिंब गिरने से पथिकों को तीर पर ही नीर भरे रहने का भ्रम होता है, जिस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह देखकर दु:ख होता है कि तरंग-रूपी नृत्य-द्वारा यह वापी पथिक जनों का चित्त लुभाकर उनका उपहास करती है (श्लो० ३८)। वहाँ रहट पर लगे हुए खासे बड़े जलपात्र वापी के विचल जल पर इस तरह आते जाते हैं मानो फर्श पर कोई नटी नाच रही हो। ऊपर लगी हुई लकड़ी की पटड़ी के अलग होने और जुड़ने के साथ साथ जल-पात्रों में ताल मिलता जाता है (श्लो० ३६)। उक्त वापी की सोपान-पंक्ति जल भरने को घड़े लेकर आई हुई मृगनयनी नारियों के पादन्यास, विकसित कमल एवं हंसों के मधुर कलकल से शोभित होती है (श्लो० ४०)। काल की कुटिल गति से आज इस बावड़ी में इनमें से एक भी बात नहीं देख पड़ती !

इसके पश्चात् भ्रांतिमत् अलंकार में वर्णन करते हुए प्रशस्तिकार ने लिखा है कि जल भरने के लिये झुकी हुई किसी तरुणी को, जल में अपना घड़ा डुबाते समय अपने दोनों कुचकुंभों का प्रतिबिंब देखकर, तीन कलशी (जलपात्र) का भ्रम हो जाता है (अर्थात् उसे जल में एक घड़े के स्थान में तीन घड़े देख पड़ते हैं); इसलिये वह विस्मित होकर उन्हीं को देखती रह जाती है और न अपना घड़ा उठाती, न तट को जाती और न अपने लौटने का ही कुछ

इस कवि-समय का यथार्थ वर्णन महाकवि कालिदास के निम्नलिखित श्लोक में मिलता है :—

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥११॥

मेघदूत; पूर्वमेघ।

ध्यान रखती है (श्लो० ४१)। अपनी वेणी (चोटी) बाँध और चंडातक (एक प्रकार का घुटनों से ऊपर तक का लहँगा) पहनकर सुंदर वेश्याएँ इस बावड़ी में अपने प्रेमी-जनों के साथ जलक्रीड़ा किया करती हैं, उस समय जल-तरंगों से उनके पहने हुए अधोवस्त्र हिलते रहते हैं (श्लो० ४२)। इस बहुमूल्य वापी में तैरनेवाली स्त्रियों के कुचस्थल पर लगी हुई कस्तूरी घुल जाने से जल गँदला हो जाता है, इसी लिये उस अत्यंत सुगंधित जल से मुग्ध होकर भ्रमर-पंक्तियाँ कमल-समूह को छोड़कर शिलातल (जिसपर सुगंधित जल ठहरा या लगता रहता हो) पर मँडराती रहती हैं (श्लो० ४३)। जल लाते समय पीन पयोधरों तथा विशाल नितंबों के भार से श्रमाकुल होकर तरुणियाँ विश्राम कर सकें, इस हेतु से वीरवर बहरी ने प्रसन्नता-पूर्वक यहाँ घनी छायावाली वृक्षावली लगवा दी, जिसपर नए नए उल्लास के साथ वसंत-शोभा सदैव बनी रहती है (श्लो० ४४)।

बावड़ी के आसपास की बगीची

उक्त बावड़ी के ऊपर की समतल भूमि में उस(बहरी)ने एक बगीची लगवाई, जिसमें ऊँचे ऊँचे मनोरम वृक्षों से धूप का प्रवेश नहीं होता था और प्रफुल्लित पुष्पों के सौरभ पर मँडराती हुई भ्रमर-पंक्तियों की धीमी धीमी और मधुर गुंजार सुन पड़ती थी (श्लो० ४५)। इस बगीची में आम के पेड़ की शाखाओं में बँधे हुए झूले पर भारी नितंबवाली कोई युवती झूल रही थी; वायु से हिलती हुई उसकी चोलिका (कंचुली) में होकर उसके शरीर को स्पर्श करनेवाले पवन के झोकों से उसका श्रम मिटता जात था। इस रम्य लीलावन में ठंढी छाया, मनोहर पुष्प, भौंरों की गूँज, आम्रवृक्षों पर झूलना आदि अनेक उद्दीपक साधनों को देखकर कवि कल्पना करता है कि ऐसा जान पड़ता है मानो धनाढ्य काम-देव अपने जीते हुए जगत् को पुनः जीतने की इच्छा से इस

लीलावन में सैनिक-बुद्धि से विभ्रम-रूपी अपने शर एकत्र कर रहा हो (श्लो० ४६)। यहाँ पनस के पके हुए फलों को देखकर, कवि पूछता है कि, किस विरही को आलिंगन के समय रोमांचित होनेवाली अपनी पीन-पयोधरा प्रिया का स्मरण नहीं होता ? इस उपवन में लकुच वृक्ष के फल बालिकाओं के किंचित् प्रस्फुटित स्तनों की, और कुंद पुष्पों की खिली हुई कलियाँ खुले ओठों से प्रकट होनेवाले उनके मंद हास्य की स्पर्धा करती हैं (श्लो० ४७-४८)। पुष्पवती मालती लताओं तथा इस वापी के निर्मल जल को स्पर्श करके बहता हुआ शीतल, मंद एवं सुगंधित पवन श्रम से उत्पन्न हुए स्त्रियों के स्वेद-बिंदुओं को निरंतर मिटाता रहता है (श्लो० ४९)।

यह उपवन किसी स्थान में मृदुल मल्लिका से सुशोभित हो रहा है, कहीं सुनहले केतक पुष्पों के ढेर-के-ढेर पड़े हैं, किसी तरफ वानीर (बेत) की झाड़ी लगी हुई है; कहीं-कहीं सारस और हठी कोकिला का मधुर शब्द सुन पड़ता है, तो एक ओर वृक्षों का मध्य भाग नए निकले हुए पत्तों से लाल-लाल हो रहा है। किसी ठौर पेड़ों पर नागकेसर के फूल ही फूल हिल रहे हैं, कहीं ऊँचे-ऊँचे नारंगी के वृक्षों से गिरे फलों के टुकड़े बिखरे पड़े हैं, किसी तरफ चंपा के स्वच्छ गुच्छे देख पड़ते हैं, तो किसी ओर पत्तों पर भौंरों का उत्तेजनापूर्ण संगीत हो रहा है। कहीं कहीं सुंदर सुगंध से चित्त उत्कंठित होता है, तो किसी अच्छे वृक्ष-कुंज में मनोविनोद हुआ करता है। यहाँ मानवती स्त्रियाँ प्रणयी के प्रति अपना अनुराग बना रखतीं और मान छोड़ देती हैं। इस क्रीड़ावन में कहीं नालियों में जल बहता रहता है, कहीं मालती-पुष्प विकसित होते हैं, किसी स्थान में कोकिला गर्व धारण करती है, तो किसी ठौर स्त्रियाँ अपना मान छोड़ देती हैं। इनके अतिरिक्त यवन बहरी द्वारा लगवाए हुए इस बगीचे में किसी किसी जगह नारियल के पेड़ों के साथ जुई की

लताएँ लिपटने से कुंज बन जाते हैं और किसी तरफ मातुलिंग और केल वृक्ष मिलते हुए देख पड़ते हैं (श्लो० ५०-५४)। अब वहाँ इसका लेश-मात्र भी नहीं रहा।

५५वें श्लोक से जान पड़ता है कि यह उपवन निर्जन है, तो भी कमल तथा रंग-बिरंगे पुष्पों को चुननेवाली रमणी को, जिसके शरीर में टहनियों के स्पर्श से (उनमें लगे हुए) काँटों के कारण व्यथा उत्पन्न हुई है (अर्थात् जिसके शरीर का कुछ भाग काँटेवाली टहनियों से छिल गया है), देखकर जवान माली ने उसे निर्दोष नहीं माना। तात्पर्य यह कि यद्यपि इस उपवन में कोई मनुष्य नहीं है, तो भी पुष्प चुनते समय काँटों से छिदे हुए शरीरवाली रमणी को देखकर माली को तो यही शंका उत्पन्न होती है कि उसके बदन पर पाए जानेवाले चिह्न उसकी निर्दोषता प्रकट न करते हुए उसका किसी अन्य पुरुष के साथ संगम होना सूचित करते हैं। दूसरे शब्दों में इससे ध्वनि निकलती है कि वह सुंदर उपवन वास्तव में क्रीड़ा(विहार)-वन था, जिससे वहाँ जानेवाले किसी व्यक्ति को देखकर उसके संबंध में वैसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

यहाँ तक प्रशस्तिकार ने वीरवर बहरी द्वारा किए गए लोकोपयोगी कार्यों का संक्षिप्त विवरण लिखा है। तत्पश्चात् ५६वें श्लोक

बहरी को प्रशस्तिकार का आशीर्वाद

में बहरी को आशीर्वाद देते हुए लिखा है कि जब तक भूमंडल शेषनाग के मस्तक पर विद्यमान रहे और पृथ्वी के मध्य भाग में स्थित मेरु पर्वत उसी स्थान पर बना रहे (अर्थात् मेरु अपने स्थान से विचलित न हो) और जब तक भुवनभास्कर सूर्य भगवान् प्रतिदिन प्रकाशमान होते रहें, तब तक इस वापिका के साथ साथ (इसका निर्माता) बहरी अपने सपूत पुत्र-पौत्रों सहित स्थिर एवं प्रसन्न बनी

हुई लक्ष्मी का आश्रित होकर (अर्थात् धन-धान्य से संपन्न होकर) निर्विघ्नता-पूर्वक आनंद करता रहे।

(४)

५६वें श्लोक के साथ इस शिलालेख का मुख्य उद्देश्य, अर्थात् बहरी, सलह और उनके आश्रयदाता मालवे के गोरी और खिलजी सुलतानों का संक्षिप्त परिचय, समाप्त हो जाता है। इसके अनंतर ६ श्लोकों में प्रशस्तिकार महेश कवि ने अपना वंश-वर्णन लिखा है, जिसका निम्नलिखित पंक्तियों में परिचय दिया जाता है—

प्रशस्तिकार का वंश-वर्णन

भगवान् (अर्थात् श्रेष्ठ) भृगु (भृगु ऋषि) के लोकविदित वंश में पृथ्वी पर पवित्र चरित्रवाला वसंतयाजी श्रीसोमनाथ नामक ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, जो मानो शंकर के चरण-कमल का भौंरा ही था। तात्पर्य यह कि वह शिवजी का परम भक्त था (श्लो० ५७)। सोमनाथ का पुत्र नरहरि तर्कशास्त्र-रूपी कुमुद वन के लिये चंद्र के समान था (अर्थात् तर्कशास्त्र का अतिप्रौढ़ विद्वान् था) और ऐसा प्रतीत होता था मानो साक्षात् हरि ही हो। वह पृथ्वी पर का ब्रह्मा ही था, इसी लिये स्पष्ट रूप से वह 'वेद-वेदवसति' (अर्थात् 'वेदों का वास-स्थान') विरुद धारण करता था (श्लो० ५८)। जिस प्रकार सूर्य भगवान् से मनु, कश्यप से सूर्य, ब्रह्मा से भृगु और समुद्र से चंद्र की उत्पत्ति हुई, उसी तरह नरहरि से कीर्तिमान् एवं महिमा-संपन्न श्रीकेशव का जन्म हुआ, जो दुष्ट प्रतिवादियों के लिये सिंह-सदृश था और लोगों में जिसका झोटिंग नाम भी प्रसिद्ध था (श्लो० ५९)। उसका पुत्र अत्रि दशपुर (दशोरा) जाति के ब्राह्मणों में अग्रसर और नीति का निवास-स्थान (अर्थात् भंडार) था। वह अपने वेदांत-ज्ञान के द्वारा दमनशील प्रकृति एवं कांति से संपन्न था और उसकी अप्रतिम बुद्धि मीमांसा-ज्ञानरूपी रस से

पुष्ट बनी थी; वह साहित्य से परिपूर्ण और गुहिल वंश-रूपी कमल-वन के लिये सूर्य-सदृश नृपति श्रीकुंभ (महाराणा कुंभकर्ण) से सम्मानित हुआ था (श्लो० ६०)। उक्त अत्रि का पुत्र श्रीमहेश कवींद्र, जो दर्शन शास्त्र-रूपी कमल के लिये सूर्य (अर्थात् जिसके कारण दर्शन शास्त्र का विकास होता था) और शास्त्रार्थ में वादियों द्वारा प्रयुक्त वाक्य-समूह को नष्ट करने में अग्नि के समान था, कुछ समय तक मालव देश में अपने काव्योल्लास द्वारा प्रसिद्ध हुआ। इसी महेश्वर (अर्थात् महेश) कवि ने बहरी की बनवाई हुई बड़ी बावड़ी-संबंधी प्रशस्ति की रचना की, जिसमें अदोष पद्यों का विकास एवं रस का सुंदर प्रतिपादन देखकर इस कवींद्र के चित्त को बड़ा परितोष हुआ (श्लो० ६१-६२)।

उपर्युक्त ६ श्लोकों में प्रशस्तिकार महेश कवि ने अपने वंश का यत्किंचित् परिचय दिया है, किंतु वह बहुत थोड़ा होने के कारण हम अन्य ऐतिहासिक साधनों से महेश और उसके वंश के संबंध में उपलब्ध होनेवाली सभी ज्ञातव्य बातों का यहाँ समावेश करना आवश्यक समझते हैं।

महेश या महेश्वर कवि दशपुर जाति का ब्राह्मण था। इस जाति के ब्राह्मण गुजरात के प्रश्नोरा नागर ब्राह्मणों की एक शाखा में हैं,

दशोरे ब्राह्मण

और दशपुर (वर्तमान मंदसौर) में जाकर बसने के कारण दशपुरा कहलाने लगे। संस्कृत दशपुर का अपभ्रंश में 'दशोर'[1] रूप बन गया और ये ब्राह्मण दशोरा नाम से प्रसिद्धि में आए। इनके लिये यह जनश्रुति प्रचलित है

(१) प्राकृत व्याकरण के सूत्र 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (वररुचि-कृत 'प्राकृतप्रकाश'; द्वितीय परिच्छेद, सूत्र २) के अनुसार 'दश पुर' के स्थान में 'दश उर' और तत्पश्चात् पाणिनि के 'आद्गुणः' (६ । १ । ८७) के अनुसार 'दशोर' रूप बन गया।

कि एक बार इस जाति के बहुतसे ब्राह्मण मंदसौर की साऊ नदी के तट पर श्रावणी कर रहे थे,[१] इतने में उनपर डाकुओं का आक्रमण हुआ, जिसमें कई ब्राह्मण मारे गए। तभी से इन्होंने मंदसौर छोड़ दिया और अब तक इस जाति का कोई व्यक्ति मंदसौर की नदी का जल ग्रहण नहीं करता। काठियावाड़ में जूनागढ़ के हाटकेश्वर महादेव इस जाति के आराध्यदेव माने जाते हैं।[२]

दशोरे ब्राह्मणों में प्राचीन काल से ही शिक्षा का अच्छा प्रचार रहा और समय-समय पर इस जाति में अनेक विद्वान् उत्पन्न हुए, जिनका राज-दरबारों में यथेष्ट सम्मान हुआ।

महेश कवि का वंश-परिचय; उसके वंशजों की विद्वत्ता और राजाओं द्वारा उनका सम्मान

इस प्रशस्ति के रचयिता महेश कवि के वंश में भी हमें विद्वानों की एक शृंखला देख पड़ती है। जैसा इस प्रशस्ति में लिखा है, सोमनाथ भट्ट शिवजी का परम भक्त एवं महायाज्ञिक था, जिसके यहाँ प्रत्येक वसंत ऋतु में यज्ञ होता था। सोमनाथ भट्ट का पुत्र नरहरि एक प्रौढ़ नैयायिक था और अपनी बुद्धिमत्ता के कारण 'भूतल का ब्रह्मा' माना जाता था। नरहरि के ख्यातनामा एवं विद्वान् सुपुत्र केशव (उपनाम झोटिंग) भट्ट की गणना भारतवर्ष के ९९ महावादियों में थी और मेवाड़ के महाराणा

(१) इस संबंध में 'इंदौर स्टेट गैजेटियर' (लुअर्ड-संकलित; पृ० ४०) में लिखा है कि इस जाति के ब्राह्मण साऊ नदी में कपड़े धो रहे थे, इतने में डाकुओं का आक्रमण हुआ; किंतु हमें विश्वस्त सूत्र से विदित हुआ है कि उस समय ये ब्राह्मण कपड़े नहीं धोते थे, किंतु श्रावणी कर रहे थे। इस विषय को इंदौर राज्य के गैजेटियर के नए संस्करण में भी, जो आजकल छप रहा है, शुद्ध कर दिया गया है।

(२) दशोरे ब्राह्मणों के विशेष विवरण के लिये देखो 'इंदौर स्टेट गैजेटियर' (सन् १९०८ का संस्करण); पृष्ठ ४०। दशपुर के संबंध में देखो 'कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्'; जि० ३, पृ० ७९, टिप्पण २।

लाखा की सभा में इसका बहुत सम्मान हुआ था। सूर्यग्रहण के अवसर पर उक्त महाराणा ने झोटिंग भट्ट को पिप्पली (पीपली) नामक गाँव प्रदान किया था।[1] महाराणा लाखा का पौत्र प्रतापी महाराणा कुंभा था, जिसके नाम की कीर्ति को चित्तोड़ के किले पर खड़ा हुआ उसका कीर्तिस्तंभ आज भी संसार में फैला रहा है। इस विशाल कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति की रचना महेश के पिता अत्रि कवि ने की थी। उक्त प्रशस्ति से पता चलता है कि उसके पूर्वार्ध की रचना कर उसका कर्त्ता अत्रि कवि मर गया, जिससे उत्तरार्ध की रचना उसके पुत्र महेश कवि ने की। इसपर महाराणा कुंभा ने अपनी गुणग्राहकता व्यक्त करने के हेतु महेश कवि को दो मदमत्त हाथी, सोने की डंडी के दो चँवर और एक श्वेत छत्र प्रदान किया[2]।

(१) लक्षः क्षोणिपतिर्द्विजाय विदुषे झोटिंगनाम्ने ददौ
ग्रामं पिप्पलिकामुदारविधिना राहूपरुद्धे रवौ।...॥ ३९ ॥

एकलिंगजी के दक्षिण द्वार की वि० सं० १५४५ की प्रशस्ति। भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० ११९।

(२) अत्रिस्तत्तनयो नयैकनिलयो वेदान्तवेदस्थिति-
मींमांसारसमांसुलातुलमतिः साहित्यसौहित्यवान्।
रम्यां सूक्तिसुधासमुद्रलहरीं सासिप्रशस्तिं व्यधात्
श्रीमत्कुंभमहीमहेंद्रचरिताविष्कारिवाग्योत्तरां ॥ १९१ ॥
येनास्मै मदगंधसिंधुरयुगं श्रीकुंभभूमीपतेः
सचामीकरचारुचामरयुगच्छत्रं शशांकोज्ज्वलं।
तेनात्रेस्तनयेन नव्यरचना रम्या प्रशस्तिः कृता
पूर्णा पूर्णतरं महेशकविना सूक्तैः सुधास्यन्दिनी ॥ १९२ ॥

अत्रेः सूनुर्दर्शनांभोजभानुर्वादिश्रेणीवाक्यवल्लीकृशानुः।
एतां पूर्णां श्रीमहेशोतिपूर्णो निर्म्माति स्मातिप्रशस्तां प्रशस्तिं ॥ १९३ ॥
संवत् १५१७ वर्षे शाके १३८२ प्रवर्तमाने मार्गशीर्ष वदि ५ सोमे प्रशस्तिः संपूर्णा ॥ श्रीकुंभकर्णेन स्थापिता ॥

कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति (अप्रकाशित)।

कीर्तिस्तंभ की उक्त प्रशस्ति की रचना वि० सं० १५१७ में हुई थी; अतः उसके अनंतर महेश कवि ने जो-जो प्रशस्तियाँ लिखीं, उनमें उसने महाराणा कुंभा द्वारा अपना सम्मान होने का उल्लेख कर दिया है। महाराणा रायमल की सभा में भी महेश कवि विद्यमान था और उक्त महाराणा ने उसका यथेष्ट सम्मान किया।

महेश अपने समय का एक उत्कृष्ट कवि था और उसने कई प्रशस्तियों की रचना की। समय की परिवर्तनशील गति से प्राचीन

महेश-रचित प्रशस्तियाँ

काल के अनेक मंदिर, महल आदि भवन नष्ट हो गए और प्रतिदिन होते जाते हैं; तो भी अब तक महेश कवि-रचित जितनी प्रशस्तियों का हमें पता चला है, उनका निम्नलिखित पंक्तियों में काल-क्रमानुसार निर्देश किया जाता है और उनसे प्रशस्तिकार अथवा उसके वंश के विषय में विदित होनेवाली बातों का भी यथाप्रसंग उल्लेख किया जायगा—

(१) वि० सं० १५१७ माघ वदि ५ सोमवार की चित्तोड़गढ़ के सुप्रसिद्ध कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति। पहले यह कई शिलाओं पर खुदी हुई थी, किंतु इस समय वहाँ इसकी केवल दो—पहली और अंत से पूर्व की—शिलाएँ कीर्तिस्तंभ की छत्री (नवीं मंजिल) में विद्यमान हैं[1]। पहली शिला में आरंभ के २८ श्लोक हैं और दूसरी में १६८ से १८७ तक। दोनों शिलाओं के अंत में यह लिखा मिलता है कि 'आगे का वर्णन लघुपट्टिका (अर्थात् छोटी शिला) में अंकक्रम से जानना चाहिए'[2]। दूसरी शिला में

---

(१) इन दोनों शिलाओं के चित्र के लिये देखो गैरिक और कनिंगहम की 'रिपोर्ट ऑफ़ ए टूर इन दि पंजाब ऐंड राजपूताना इन १८८३-८४' (आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया की २३वीं जिल्द); प्लेट २०-२१।

(२) अनंतरवर्णनं उत्तरलघुपट्टिकायां अंकक्रमेण वेदितव्यं ॥

वही; प्लेट २०–२१।

प्रारंभ की ५-६ पंक्तियाँ खराब हो गई हैं। जान पड़ता है कि वि० सं० १७३५ में वहाँ इस लेख की अधिक शिलाएँ विद्यमान थीं, क्योंकि उस संवत् में किसी पंडित ने पुस्तकाकार २२ पत्रों में इनकी प्रतिलिपि की थी, जो महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा को प्राप्त हो गई है।[1] इस प्रतिलिपि से ज्ञात होता है कि उक्त प्रशस्ति के पहले ४० श्लोक बप्पवंशी हम्मीर से मोकल तक के वर्णन में लिखे गए हैं। तत्पश्चात् पुनः १ से श्लोकांक लिखकर १८७ श्लोकों में महाराणा कुंभा का वर्णन है और अंतिम ६ श्लोकों में प्रशस्तिकार का वंश-परिचय पाया जाता है, जिसमें कुछ श्लोक खड़ावदे की प्रशस्ति से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं[2]। जान पड़ता है कि इस प्रतिलिपि के लिखे जाने के समय में भी कुछ शिलाएँ नष्ट हो गई थीं, जिससे महाराणा कुंभा के वर्णन-संबंधी श्लोक ४३–१२४ जाते रहे। फिर भी कहना न होगा कि प्रशस्ति का शेषांश इतिहास के लिये अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है। इसकी रचना अत्रि और उसके पुत्र महेश द्वारा होना बतलाया जा चुका है[3]।

(२) वि० सं० १५१७ मार्गशीर्ष वदि ५ सोमवार की कुंभलगढ़ के मामादेव (कुंभस्वामी) के मंदिर की प्रशस्ति, जो पाँच बड़ी-बड़ी शिलाओं पर खुदवाई गई थी[4]। इसकी पहली शिला के ६४ श्लोकों में मेवाड़ के देवालय, जलाशय आदि पवित्र स्थानों का वर्णन है। दूसरी शिला का केवल एक छोटा टुकड़ा प्राप्त हुआ है।

---

(१) राजपूताने का इतिहास; जि० २, पृ० ६३१।

(२) देखो पृ० ५५, टिप्पण २।

(३) देखो पृ० ५५, टिप्पण २।

(४) इसकी बची हुई शिलाएँ इस समय उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित हैं।

तीसरी के प्रारंभ में दंतकथाओं के अनुसार गुहिल, बापा रावल आदि का वृत्तांत लिखा गया है। तदनंतर श्लोक १३८–१७९ में प्राचीन शिलालेखों के आधार से मेवाड़ के राजवंश की गुहिल से आरंभ कर नामावली और रावल रत्नसिंह तक का विवरण तथा सीसोदे के लक्ष्मसिंह का वृत्तांत है। चौथी शिला १८०वें श्लोक से आरंभ होकर २७० पर समाप्त हुई है। इसके पहले श्लोक में अपने सात पुत्रों सहित लक्ष्मसिंह के मारे जाने का उल्लेख है। तत्पश्चात् हंमीर के पिता अरिसिंह का संक्षिप्त वर्णन करके २३२वें श्लोक तक हंमीर से महाराणा मोकल तक का वृत्तांत लिखा गया है। २३३वें श्लोक से प्रतापी महाराणा कुंभकर्ण का वर्णन आरंभ होता है और २७०वें श्लोक तक, जहाँ यह शिला पूरी हुई है, उसका विजय-वर्णन भी समाप्त नहीं होता। पाँचवीं शिला अब तक अप्राप्त है। उसमें कुंभा की अन्य विजयों, उसके निर्माण कराए हुए जलाशयों, देवालयों, किलों एवं उसके रचित ग्रंथों आदि का उल्लेख होना चाहिए। पाँचवीं शिला न मिलने से महाराणा कुंभा का इतिहास अपूर्ण रह जाता है और उसके साथ ही साथ हम प्रशस्तिकार के वंशवर्णन से भी वंचित रहते हैं, क्योंकि संस्कृत विद्वानों की शैली के अनुसार प्रत्येक ग्रंथ, प्रशस्ति, शिलालेख आदि में उसके रचयिता और उसके वंश का वर्णन प्राय: अंत में ही लिखा जाता है।

यहाँ यह शंका सहज ही उत्पन्न हो सकती है कि जब पाँचवीं शिला का अब तक पता नहीं चला, तो यह कैसे मान लिया जाय कि इस विस्तृत प्रशस्ति की रचना महेश कवि ने ही की थी, न कि अन्य किसी व्यक्ति ने ? इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि कुंभलगढ़ की इस प्रशस्ति में कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति के कतिपय श्लोक मिलते हैं, जिससे यह अनुमान असंगत प्रतीत नहीं होता कि इसकी

रचना भी कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति के रचयिता दशपुर जाति के कवि महेश ने की हो[1]। यदि इसकी रचना किसी अन्य कवि द्वारा हुई होती, तो वह महेश कवि की प्रशस्ति के श्लोक क्यों उद्धृत करता ? यह संभव नहीं कि जो कवि इतनी विशाल एवं ललित प्रशस्ति की रचना कर सकता है वह, अपनी कीर्ति का ध्यान न रखते हुए, किसी अन्य कवि की रचना में से हूबहू श्लोक उद्धृत करने के दुस्साहस से अपनी विद्वत्ता में कालिमा लगाना पसंद करे। इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि कीर्तिस्तंभ और कुंभलगढ़ पर कुंभस्वामी के मंदिर की विशाल प्रशस्ति, दोनों की समाप्ति एक ही दिन हुई थी; अंतर इतना ही है कि रचना में एक संक्षिप्त है, तो दूसरी विस्तृत।

(३) खड़ावदे की वि० सं० १५४१ कार्तिक शु० २ गुरुवार की प्रशस्ति, जिसका संपादन इस लेख में हुआ है।

(४) महाराणा रायमल (वि० सं० १५३०-१५६६) के राज्य-समय की एकलिंगजी के मंदिर में दक्षिण द्वार की वि० सं० १५४५ चैत्र शु० १० गुरुवार की प्रशस्ति, जिसमें १०१ श्लोक हैं[2]। इसमें महाराणा हंमीर से महाराणा रायमल तक के मेवाड़ के राणाओं के संबंध की अनेक घटनाओं का उल्लेख होने के कारण इतिहास के लिये इसका बहुत महत्त्व है और आधुनिक ऐतिहासिक अपने ग्रंथों में प्राय: इसके अवतरण उद्धृत करते हैं। इस प्रशस्ति में महेश ने अपना वंश-वर्णन लिखा है, जिसमें खड़ावदे की प्रशस्ति के, जिससे चार वर्ष के अनंतर इसकी रचना हुई, कई एक श्लोक ज्यों-के-त्यों, अथवा कहीं-कहीं कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ,

(१) महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा का भी ऐसा ही मत है; देखो राजपूताने का इतिहास; जि० २, पृ० ६३२।

(२) भावनगर इन्स्क्रिपशन्स; पृ० ११७—३३।

उद्धृत किए गए हैं। जिन-जिन शब्दों में परिवर्तन हुआ उनका निर्देश मूल पाठ के साथ टिप्पणों में किया गया है। इसमें प्रशस्तिकार ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि (महाराणा) राजमल्ल (रायमल) की सभा में अत्रि का पुत्र महेश है, जो वादि-समूह-रूपी वृक्ष के प्रति अपना पराक्रम इस प्रकार प्रदर्शित करता है, जैसे मत्त हाथी (वृक्ष-समूह के प्रति)[1]। यहाँ उसने अपने नाम के साथ 'भट्ट' उपाधि का भी प्रयोग किया है[2]। इससे यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि महेश्वर भट्ट महाराणा रायमल की सभा का कवि था, किंतु उसने उक्त महाराणा की कृपा एवं अपनी नम्रता को व्यक्त करने के लिये प्रशस्ति के आरंभ में यह भी लिखा है कि 'कहाँ तो (इसमें वर्णित) खुम्माण आदि नृपतियों की महिमा और कहाँ मेरी कविता से उत्पन्न होनेवाला संतोष !' तात्पर्य यह कि इन दोनों विषयों में बहुत अंतर है और महेश कवि की सामान्य कविता इन प्रतापी नृपतियों की महिमा का यथार्थ वर्णन करने के लिये सर्वथा अयोग्य है। 'यह होते हुए भी राजमल्ल नृपति की (मुझपर) कुछ कृपा बनी रहती है, जिसके आश्रय से महेश्वर-रूपी बालक काव्य जैसे भयंकर मार्ग को, उसमें बिखरे हुए और चुभने को तत्पर मुखवाले काँटों के ढेर पर पैर रखता हुआ,

(१) अत्रेः सूनुर्महेशोऽस्ति राजमल्लस्य संसदि।
यो विवादिकुले वृक्षे धत्ते मत्तेभविक्रमं ॥ ९५ ॥
भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स ; पृ० १२२।

(२) अत्रेः सूनुरनूनपद्यपद्धतीभंगीभिरंगीकृत-
प्रौढिर्भट्टमहेश्वरः कविवरः श्रीराजमल्लप्रभोः।
स्वोपज्ञप्रगुणः प्रशस्तिनिवहे शस्तां प्रशस्तिं व्यधा-
दुग्धक्षीररसां नवीनरस(च)नारम्यैकलिंगालये ॥ ९६ ॥
वही ; पृ० १२२।

तय करता है[1] ।' इसी प्रशस्ति से यह भी पता चलता है कि सूर्य-ग्रहण के अवसर पर महाराणा रायमल ने, जो पवित्र और पूज्य भगवान् शंकर का भक्त था, पुनर्जन्म-निवारण के हेतु, महेश कवि पर प्रसन्न होकर उसको रत्नों का उत्पत्ति-स्थान रत्नखेट (रतनखेड़ा) गाँव प्रदान किया[2] ।

(५) महाराणा रायमल की बहन रमाबाई के बनवाए हुए मेवाड़ में जावर गाँव के रामस्वामी के मंदिर की वि० सं० १५५४ चैत्र सुदि ७ रविवार की प्रशस्ति। तीस वर्ष पूर्व इस प्रशस्ति को म० म० रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने अखंडित देखा था, किंतु ई० स० १९२४ में अपनी मेवाड़-यात्रा में इन पंक्तियों के लेखक ने इसकी नकल की, उस समय इसके कई टुकड़े हो चुके थे। इसकी अंतिम २-३ पंक्तियाँ नष्ट हो गई हैं। इस प्रशस्ति से पता चलता है कि महाराणा रायमल की बहिन और कुंभा की पुत्री रमाबाई का विवाह जूनागढ़ के यादव (चूड़ासमा) राजा मंडलीक (अंतिम) के साथ हुआ था। इसमें प्रशस्तिकार ने लिखा है कि

---

(१) कासौ मत्कवितेतिगिती क महिमा खुम्माणभूमीभुजा-
मेवं सत्यपि राजमल्लनृपतेर्जागर्ति काचित्कृपा।
यामासाद्य महेश्वरः कविगिरां मार्गे चरान्नर्भको-
ऽप्युग्रे व्यग्रमुखस्य कंटककुलस्याधाय मौलौ पदं ॥ ४ ॥
भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० ११८।

(२) आसज्येज्यं हरमनुमनः पावनं राजमल्लो
मल्लीमालामृदुलकवये श्रीमहेशाय तुष्टः।
ग्रामं रत्नप्रभवमभवावृत्तये रत्नखेटं
क्षोणीभर्ता व्यतरदरुणे सैंहिकेयाभियुक्ते ॥ ६७ ॥
वही; पृ० १२१।

रतनखेड़ा को डूंमखेड़ा भी कहा जाता है। महाराणा सरूपसिंह (वि० सं० १८९९-१९१८) ने इसे खालसा कर धाभाई रत्नजी को दिया और अब तक उनके वंशजों के अधिकार में है।

'श्रीमंडलीक के दर्शन से परितुष्ट चित्तवाला मेवाड़-निवासी सुकवि महेश अपनी बुद्धि के अनुसार इस गुणनिधि की स्तुति करता है[1]'। इस कथन से यह निश्चित है कि इस प्रशस्ति का रचयिता महेश कवि ही है।

(६) महाराणा रायमल के राजत्व-काल की घोसुंडी गाँव की बावड़ी की वि० सं० १५६१ वैशाख सुदि ३ बुधवार की प्रशस्ति, जिसमें मारवाड़ के राव जोधा की पुत्री शृंगारदेवी के साथ महाराणा रायमल का विवाह होने और विवाहोत्तर शृंगारदेवी-द्वारा उक्त बावड़ी के बनवाए जाने का वर्णन है। शृंगारदेवी के पिता और पति के वंशों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। इसकी श्लोक-संख्या २६ है। श्लोकों के अनंतर संस्कृत गद्य में विक्रम और शक संवत्, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण के उल्लेख के साथ प्रशस्ति समाप्त हुई है[2]। अंत के कुछ अक्षर जाते रहे। श्लोक २५-२६ में प्रशस्तिकार ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि दशपुर जाति में जो(झो)टिंग-केशव नामक ब्राह्मण था,

---

(१) अथ श्रीमहाराजमंडलीकप्रबन्धः—

इन्दोरनिन्दितकुलं बहुबाहुजात-
वंशेषु यस्य वसतेरतुलं बभूव।
श्रीमंडलेन्द्रगिरिरैवतकाधिवासो
दामोदरो भवतु वः सुचिरं विभूत्यै ॥ १ ॥
श्रीमंडलीकदर्शनपरितुष्टमना महेश्वरः सुकविः।
श्रीमेदपाटवसतिर्गुणनिधिमेनं यथामति स्तौति ॥ २ ॥

(मूल लेख की अपनी तैयार की हुई प्रतिलिपि से)।

(२) संवत् १५६१ वर्षे शाके १४२६ प्रवर्तमाने उत्तरायन(ण)गते श्रीसूर्ये वसंतऋतौ महामांगल्यप्रदवैशाष(ख)मासे शुक्लपक्षे तृतीयायां पुण्यतिथौ बुधवासरे यथावर्त्तमाननक्षत्रयोगकर......... ॥

जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल; जि० ५६, भाग १, पृ० ८२।

जिसका पुत्र अत्रि हुआ। उससे महेश कवि उत्पन्न हुआ; एकलिंगजी के प्रासाद (देवालय) तथा कीर्तिस्तंभ के संबंध में जिसने प्रशस्ति-रचना की, उसी बुद्धिमान् महेश ने इसे भी रचा[1]।

महेश कवि-रचित इन प्रशस्तियों[2] को देखकर पाठकों को यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि ऐसे बड़े कवि एवं विद्वान् ने कुछ

---

(१) विप्रो दशपुरज्ञातिरभूज्जोटिंगकेशवः ।
अत्रिस्तस्य सुतस्तस्मान्महेशोभून्महाकविः ॥ २५ ॥
प्रासाद एकलिंगस्य कीर्तिस्तंभस्य चोपरि ।
अकार्षीद्यो महे(हे)शोसाविमामप्यकरोत्सुधीः ॥ २६ ॥
जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल; जि० ५६, भाग १, पृ० ८२

(२) महेश कवि-रचित इन प्रशस्तियों के विवरण के साथ हम दशपुर ज्ञाति के ब्राह्मणों द्वारा रचित कुछ अन्य प्रशस्तियों का निर्देश-मात्र करना आवश्यक समझते हैं, जिससे हमारा उपर्युक्त कथन भली भाँति प्रमाणित हो जाय कि इस जाति में समय समय पर अच्छे विद्वान् उत्पन्न हुए हैं—

(क) महाराणा मोकल के राज्य-समय का, चित्तोड़गढ़ पर समिद्धेश्वर नामक शिव-मंदिर में लगा हुआ, वि० सं० १४८५ माघ सुदि ३ का शिलालेख, जिसकी ललित रचना दशपुर ज्ञाति के भट्ट विष्णु के पुत्र एकनाथ ने की थी—
श्रीमद्दशपुरज्ञातिर्भट्टविष्णोस्तनूद्भवः ।
नाम्नैकनाथनामायमलिखत्कृतिमुज्ज्वलाम् ॥ १ ॥
एपिग्राफिया इंडिका; जि० २, पृ० ४२०, शिलालेख की ५२वीं पंक्ति।
भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १००; ७५वें श्लोक के पश्चात् आरंभ होनेवाला विवरण।

(ख) इन्दौर राज्य के रामपुरा परगने के रामपुरा कस्बे में पाथूशाह की बावड़ी का वि० सं० १६६५ का शिलालेख, जिसकी रचना भारद्वाज-गोत्रीय दशपुर ज्ञाति के ब्राह्मण केशव के पुत्र शंकर द्वारा हुई—
भारद्वाजकुलोद्भवो द्विजवरः श्रीकेशवः पुण्यकृत्
वेदव्याकरणागमार्थनि[पुणः]...........[।]
तत्सूनुः सुधियां...........सो पुण्यात्मजः शंकरो (र-)
त(स्त)ज्जीवातनयस्य वै दशपुरज्ञातिः प्रशस्तिं व्यधात् [॥४५॥]
अपनी तैयार की हुई मूल प्रशस्ति की छाप के आधार पर।

ग्रंथों की भी रचना की होगी, किंतु अब तक इसका कोई ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया। अस्तु।

(५)

खड़ावदे की प्रशस्ति का समय

६३वें श्लोक में बहरी-निर्मित बावड़ी की समाप्ति की तिथि सूचित करते हुए बतलाया गया है कि महाराजा विक्रम के समय से १५४१ वर्ष होने पर विख्यात परिधाविन् संवत्सर के कार्त्तिक मास में शुक्लपक्ष की धर्मतिथि को गुरुवार के दिन इस वापी की रचना समाप्त हुई, जिसे दीर्घायु बहरी ने प्रचुर द्रव्य-व्यय से बनवाया। यहाँ धर्मतिथि से द्वितीया अभिप्रेत है, क्योंकि कार्तिक शु० २ को यमद्वितीया होती है और यमराज का नाम धर्मराज[1] भी है, अतएव यमद्वितीया को धर्मद्वितीया अथवा धर्मतिथि कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसके सिवा गणित करने से भी कार्तिक शु० २ को गुरुवार ही होता है।

(६)

सलह का वंश-परिचय; हमीरपुर में भैरव नृपति

इसके अनंतर ५ श्लोकों (६४-६८) में हमें कुछ ऐतिहासिक परिचय मिलता है। जान पड़ता है कि यहाँ तक प्रशस्ति की रचना करके महेश कवि ने यह विचार किया कि सलह, बहरी आदि के चरित्र तथा अपने वंश का संक्षिप्त वर्णन लिखकर यदि प्रशस्ति को ६३-वें श्लोक के साथ ही समाप्त कर दिया जाय, तो

---

(१) धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट्।
कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड्यमः॥ ५८॥
अमरकोष; प्रथमकांड, स्वर्गवर्ग।

यमः कृतान्तः पितृदक्षिणाशाप्रेतात्पतिर्दंडधरोऽर्कसूनुः।
कीनाशमृत्यू समवर्तिकालौ शीर्णांह्रिहर्यन्तकधर्मराजाः॥ ९८॥
हेमचन्द्राचार्य-रचित अभिधानचिन्तामणि; कांड २ (देवकांड)।

पाठकों को सलह आदि की वास्तविकता जानने के लिये अंधकार में ही रहना पड़ेगा। इसी हेतु को लक्ष्य में रखकर उसने इन श्लोकों में उनका शेष परिचय दिया है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

श्वेत और श्याम नदियों के मध्य में हमीरपुर नाम की पवित्र नगरी है, जिसमें करचुली-कुल-दिवाकर श्रीभैरव नामक प्रतापी राजा हो गया है (श्लो० ६४)। हमीरपुर वर्तमान युक्त प्रांत के हमीरपुर जिले और उसी नाम की तहसील का खास कस्बा है, जो २८°-५८′ उत्तर अक्षांश तथा ८०°९′ पूर्व देशांतर पर, बेतवा और यमुना के संगम पर—कानपुर से सागर (मध्य प्रदेश) को जानेवाली सड़क पर—स्थित है। 'करचुल्लि' से कलचुरी या हैहय वंश समझना चाहिए। हमीरपुर के संबंध में जनश्रुति प्रचलित है कि ११वीं शताब्दी में अलवर से मुसलमानों द्वारा निकाले हुए हमीरदेव नामक किसी करचुली राजपूत ने इसे बसाया था। संभव है, यह भैरव नृपति उसी का कोई वंशज हो। यदि इसे उसका वंशज न माना जाय, तो भी यह अविश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि हमीरपुर हैहयवंशी क्षत्रियों के राज्य का—हैहयवंशी वर्तमान मध्य प्रदेश, मध्य भारत एवं युक्त प्रांत के कई भागों में दसवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक समय समय पर राज्य करते रहे—एक नगर था और हैहयों की भिन्न

(१) यमुना का जल श्याम देख पड़ने से उसे प्रायः 'असित' नदी कहा जाता है, जैसे 'सितासिते यत्र सरितौ संगमे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति' (श्रुति-वाक्य); इसलिये हमीरपुर में यमुना के अतिरिक्त जो दूसरी नदी, अर्थात् बेतवा (वेत्रवती), है उसे 'सित' अर्थात् श्वेत (निर्मल) बतलाया गया है।

(२) इंपीरियल गैजेटियर ऑफ इंडिया ; जि० २१, पृ० २१।

(३) हैहयों के राज्य के संबंध में देखो म० म० रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा-संपादित टाड राजस्थान (हिंदी); प्रथम खंड, पृ० ४६४-५०१।

वी० नटेश ऐयर ; ए हिस्टोरिकल स्केच आफ दि सेंट्रल प्राविन्सिज़ ऐंड बरार ; पृ० १७-२७।

भिन्न शाखाओं में से एक शाखा के किसी राजा ने वहाँ अपना निवास स्थिर किया हो। इस संबंध में प्रशस्तिकार ने कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया कि अमुक सन्-संवत् के आसपास राजा भैरव हमीरपुर में था, किंतु अनुमान होता है कि पंद्रहवीं शताब्दी में उक्त नृपति वहाँ हुआ हो।

कलचुरी राजा भैरव के यहाँ माध्यंदिन शाखा का और दो वेदों का ज्ञाता कुशल नामक श्रेष्ठ ब्राह्मण पुरोहित[1] था, जिसके अर्थपति नामक सुपुत्र ने सद्गुणों द्वारा भार्गव नामक अपने बड़े गोत्र का नाम बढ़ाया। अर्थपति का पुत्र पुरुषोत्तम भक्तिपूर्वक भगवान् शंकर की आराधना करता था और पृथ्वी पर वेद-व्याख्याताओं के संप्रदाय का मुख्य आचार्य था (अर्थात् वह बहुत प्रसिद्ध वेद-व्याख्याता था)। उसके पुत्र घुड़ऊ ने, जो विविध कलाओं में निपुण था, राजाओं से सम्मान प्राप्त किया। इस(घुड़ऊ)को राजा कादिरशाह (देखो श्लोक ११ और १३) ने यवन बना लिया (श्लो० ६५-६६)। मुसलमान होने पर गुणों की खान घुड़ऊ ने उच्च पद पाकर अपना नाम शलह रख लिया। पहले १३वें श्लोक में बतलाया गया है कि कादिरशाह ने इसे अपने यहाँ सचिव बनाकर रखा था। इस तेजस्वी शलह को महापराक्रमी

(१) भंडारकर महोदय ने इस श्लोक के 'पुरोधा' शब्द को 'सुमेधाः' पढ़कर, पुरोहित के विषय में कोई चर्चा न करते हुए, लिखा है कि 'भैरव नृपति के यहाँ 'सुमेधस्' नामक व्यक्ति था, जो अच्छा माध्यंदिन ब्राह्मण और दो वेदों का ज्ञाता था' (जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी; जि० २३, पृ० ११)। 'सुमेधाः' पाठ बिलकुल अशुद्ध है और वैसा पढ़ने पर यह ज्ञात नहीं हो सकता कि उक्त सुमेधस् और भैरव नृपति का क्या संबंध था। शिलालेख और उसकी छाप में 'पुरोधा' बिलकुल स्पष्ट पढ़ा जाता है। भंडारकर महोदय ने न जाने 'सुमेधाः' कैसे पढ़ लिया !

महमूद भूपति (मांडू के सुलतान महमूद खिलजी) ने खान शब्द से सम्बोधित किया (अर्थात् उसे खान बना दिया), जिसका उल्लेख पहले हो चुका है।

शलह का बहरी को यवन बनाना

शलह ने बहरी नामक वीर को, जो जन्म से क्षत्रिय था, यवन बनाया; महेश कवि ने इन दोनों का यथाप्रसंग वर्णन कर दिया है (श्लो० ६८)। मुसलमान बनकर अधिकार मिल जाने पर घुड़ऊ के लिये यह स्वाभाविक है कि वह अन्य जाति के लोगों को भी अपने समान बना दे; क्योंकि प्राय: देखा जाता है कि जो व्यक्ति अपनी जाति और धर्म बदलकर अन्य धर्म ग्रहण करते हैं, उनमें अपने नए धर्म के प्रति अन्य पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक जोश रहता है और वे सदैव यह प्रयत्न करते हैं कि औरों को भी वे अपने जैसा (अर्थात् अपने धर्म का) बना दें।

(७)

यहाँ तक प्राय: सभी ज्ञातव्य विषयों का उल्लेख हो गया, किंतु केवल एक आवश्यक बात रह गई। खड़ावदा गाँव की जिस सुंदर

शिल्पी का नामोल्लेख

वापी का निर्माण होने पर कवि महेश ने ऐसी उत्कृष्ट प्रशस्ति की रचना की, वह जिस शिल्पी के शिल्प-कौशल से बन सकी, उसे भुलाना सर्वथा अनुचित होगा, यह जानकर प्रशस्तिकार ने अंतिम (६९वें) श्लोक में उसी के विषय में लिखा है कि झांझा के पुत्र क्षेत्रसिंह ने प्रशस्त (अच्छी) आकृतिवाली इस बावड़ी को बनाया, जिसको देखकर अपनी शिल्प-कला पर संसार में कोई शिल्पी गर्व नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में इसका यही अर्थ है कि यह बावड़ी शिल्प का एक उत्कृष्ट नमूना है। अंत में लेखक और पाठक के प्रति शुभ कामना प्रकट की गई है।

खड़ावदे के शिलालेख का पूरा परिचय देने के अनंतर पाठकों की जानकारी के लिये उक्त शिलालेख की प्रतिलिपि दी जाती है—

शिलालेख की प्रतिलिपि[1]

पंक्ति १ स्वस्ति श्रीगणेशभारतीभ्यान्नमः[2] ॥
आनंदोत्तुंगतन्वे(न्वे) विशुद्धज्ञानभानवे ॥(।)
विश्वप्रकाशिने तस्मै नमः कस्मैचिदस्तु नः[3] ॥१॥
उदित्वरदिवाकरद्युतिसपत्नरत्नप्रभा-
विभासितमभीप्सितं दिशतु वोर्द्धवामं वपुः ॥(।)
हरस्य हरिणेक्षणीभवनदर्शिताम-

२ ॥ त्सर-
सरस्सरणमिंदुमत्कचन बिंदुमत्कुत्रचित्[4] ॥२ [॥]
रणज्झरणघर्घरीविततताललसज्झलरी-[5]
परीतमुरजस्वनानुगततांडवाडंबरः ॥(।)
प्रपोथयतु मन्मथप्रतिरथांगभूर्भावुक-
प्रभूतपरिपंथिनः प्रथय चारिवाचां पथि ॥ ३ [॥]
पुरारिपुरसुंदरीचिकुरविस्फुरन्मंजरी-
परागपरिपिंजरीकृतमगेंद्रकन्ये तव ॥(।)

(१) यह मूल लेख पर से तैयार की गई है।
(२) '०भारतीभ्यां नमः' पढ़ना चाहिए।
(३) अनुष्टुभ् वृत्त।
(४) श्लोक २-५ में पृथ्वी वृत्त है।
(५) 'सज्झल्लरी' होना चाहिए।

भजामि चरणद्वयं कृतसरोजगर्व्वव्ययं
प्रपंचय वचश्चयं झटिति
॥ वाणि कल्याणि मे[1] ॥ ४ [॥]
जयत्यवनिमंडनं जनपदः पदं संपदां
स मालवसमाह्वयः पदममामयत्रादधौ[2] ॥(।)
शिवः शरवणोद्भवः[3] सदनमुच्चकैश्चात्मन-

(१) इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में पार्वती का उल्लेख है और चौथे में 'वाणी' अर्थात् सरस्वती का निर्देश होने से प्रकरण भंग होता है, अतएव इस चरण में भी 'वाणी' शब्द का प्रयोजन से पार्वती का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

(२) यह पद संदिग्ध है और इससे किसी ठीक अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अतएव इसको 'पदमवाममत्रादधौ' पढ़ने से 'अपना दक्षिण (अर्थात् अनुकूल) पैर यहाँ रखा, अर्थात् मालव देश में निवास किया', यह अर्थ निकलता है।

(३) 'शरवणोद्भव' स्वामी कार्त्तिक या स्कंद के लिये प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन काल में तारकासुर द्वारा सताए जाने पर देवताओं ने शिवजी के पास जाकर प्रार्थना की कि एक ऐसा पुत्र उत्पन्न करें, जो राक्षसों का संहार करे। इसकी सविस्तर कथा कालिदास के 'कुमारसंभव' तथा 'रामायण' के बालकांड में दी हुई है। शिवजी ने पार्वती से विवाह कर कई मास तक एकांतवास किया। भगवान् शंकर की प्रतीक्षा करते हुए देवता थक गए, तब उन्होंने अग्नि को उनके पास भेजा। कबूतर का रूप धारण कर पास जाने पर शिवजी ने अग्नि को पहचान लिया (कुमारसंभव; सर्ग ९, श्लो० १-४) और दया करके अपना बीज उसके मुख में डाल दिया। अग्नि से वह सहन न हुआ, तब उसने उसे गंगा में प्रविष्ट कर दिया, जहाँ से वह ६ कृत्तिकाओं में पहुँचा। उन्होंने उसे शर नामक घास में पटक दिया (कुमारसंभव; सर्ग १०, श्लो० ४३-५१), जहाँ पुत्र की उत्पत्ति हुई। बिना किसी स्त्री की सहायता से शर घास में उत्पन्न होने से स्वामी कार्त्तिक को शरज, शरवणभव आदि कहा जाता है।

अकार रजताचलं परिहरन्गु(न्गु)णांभो-
निधौं ॥ ५ [॥]

शरवणभव की प्रतिमा में उसके ६ सिर, १२ आँखें और १२ हाथ होने चाहिएँ, जिनमें से दो अभय एवं वरद मुद्रा में हों और शेष हाथों में शक्ति, घंट, ध्वज, पद्म, कुक्कुट, पाश, दंड, टंक, बाण और धनुष रहें। मुख पीतवर्ण और चेहरा पूर्ण विकसित कमल जैसा हो। इसके लक्षण नीचे लिखे अनुसार होने चाहिएँ—

शक्तिं घण्टां ध्वजसरसिजे कुक्कुटं पाशदण्डौ
टङ्कं बाणं वरदमभयं कार्मुकं चोद्वहन्तम्।
पीतं सौम्यं द्विदशनयनं देवसंघैरुपास्यं
सद्भिः पूज्यं शरवणभवं षण्मुखं भावयामि॥
कुमारतन्त्रागम; द्वितीय पटल।

षड्भुजं चैकवदनं बालसूर्यसमप्रभम्।
सर्वाभरणसंयुक्तं सिंहस्थं दधतं भजे॥
त्रिनेत्रं भसितोद्धूलं पुष्पबाणेक्षुकार्मुकम्।
खड्गं खेटं च वज्रं च कुक्कुटध्वजधारिणम्॥
शरजन्म समाख्यातं॥ रक्तवर्णः॥
श्रीतत्त्वनिधि।

महाकवि कालिदास ने भी अपने 'मेघदूत' में मालवे में 'शरवणभव' का उल्लेख किया है—

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः...॥४७॥
पूर्वमेघ।

(१) यह कैलास पर्वत का सूचक है, क्योंकि 'रजताद्रि', 'रजताचल' आदि कैलास के नामों में से हैं—

रजताद्रिस्तु कैलासोऽष्टापदः स्फटिकाचलः॥६४॥
हेमचन्द्र-कृत 'अभिधानचिंतामणि';
चतुर्थ (तिर्यक्) काण्ड।

(२) देखो पृ० १२, टिप्पण १। कैलास पर्वत छोड़कर उज्जैन में महाकाल नाम से शिवजी के निवास करने के संबंध में बाणभट्ट ने लिखा है कि

ग्रामे[1] ग्रामे चित्रसत्रैः पवित्रै-

वीतत्रासाः संसृतेर्यत्र संतः ॥(।)

लोकाः कोका मित्रमित्राननाना-

मंतस्तोषं विभ्रमैर्बिभ्रति

४ ॥ स्म[2] ॥ ६ [॥]

अमुष्मिनदु(न्दु)र्वारप्रतिरथपुरंध्रीपरिचित-

प्रतापश्रीर्गोरीयवनकुलरत्नं व्यजयंत[3] ॥(।)

गिरौ वि(विं)ध्येवंध्यद्रुममहिममांडव्यनगरे

हुसंगच्छोणींद्रः शकनिकरपंकेरुहरविः[4] ॥ ७ [॥]

यन्मंदाकिनयंति निर्झरसरिन्नीराणि यन्नंदनं-

त्युद्यत्केलिवनानि कल्पतरवंतीभ्याश्च दंभद्विषः ॥(।)

यश्चास्मिनसु(न्सु)रकोविदंति कवयो नाना-

५ ॥ कलाहंयव-

'यस्यां ...... प्रलयानलशिखाकलापकपिलजटाभारभ्रान्तसुरसिन्धुरन्धकारातिः भगवानुत्सृष्टकैलासवासप्रीतिर्महाकालाभिधानः स्वयं वसति ।'

कादंबरी (निर्णयसागर-संस्करण); पूर्वभाग, पृ० १०७। इसके सिवा शृंगी ऋषि के शिलालेख (अप्रकाशित) में भी इसी प्रकार लिखा है—

कैलासं तु विहाय शम्भुरकरोद्यत्राधिवासे रतिम् ॥१६॥

(१) शालिनी वृत्त ।

(२) मालव देश की प्रजा के इस वर्णन को पढ़कर हमें गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त (ई० स० ४५५-४६७) की प्रजा के निम्नलिखित वर्णन का स्मरण हो जाता है—

तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चि-

द्धर्मादपेतो मनुजः प्रजासु ।

आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो

दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात् ॥

कॉर्पस् इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम् ; जि० ३, पृ० ५९, पंक्ति ६ ।

(३) 'व्यजयत' होना चाहिए ।

(४) शिखरिणी वृत्त ।

स्तन्माडव्यपुरं पुरंदरपुरेः पर्यायतां नांचतु[1]॥८[॥]

हुसंगक्षोणींद्रे कलितकरवाले विदधिरे

न धीराः संचारं विमतमतयः संगरभुवि ॥(।)

स्फुटं पाणी तेषामनुचरिकृतः[2] कोस्म मुकुलं

दलत्कोशौ दंतास्तृणभरमनैष्टामपि भयात्[3]॥९[॥]

विंध्याचलाद् रुगजव्रजमाजहार

कृत्वा हुसंगनृपतिर्नगनाथमाप्यं(प्यम्) ॥(।)

प्रत्य—

६ ॥ र्थिवीरवरसंगररोधहेतोः

सेतोः कृताविव गिरिव्रजमांजिनेयः[4] ॥१०[॥]

काले दिग्विजयोद्यतः परपुरप्राकारभंगोल्लस-

द्दोर्द्दर्प्पः क्वचिदभ्यषेणयदयं कालप्रियापत्तनं(नम्) ॥(।)

त्रस्तः कादिरसाहिरस्य नृपतिस्तस्मादुपाजीहर-

त्तत्सूनुं निजकन्यकां सह महामात्यैः कियद्भिर्विभुं-

(भुम्)[5]॥ ११ [॥]

सर्वेमी सुधियो गुणैरनणुभिश्चित्ते निजस्वामिन-

स्तोषं तेनुरदोषमेत्य नगरं श्रीमंडपख्याति-

७ ॥ मत् ॥(।)

---

(१) शार्दूलविक्रीडित वृत्त।

(२) व्याकरण की दृष्टि से यह प्रयोग अशुद्ध है। 'च्वि' प्रत्यय करने पर 'अनुचरीकृतः' प्रयोग होना चाहिए। अर्थदृष्टि से इसका 'अनुचरीकृतानां' यह षष्ठ्यन्त पाठ ही योग्य प्रतीत होता है और यह 'तेषां' का विशेषण होना चाहिए। जान पड़ता है कि छंदोभंग न होने देने के लिये कवि ने प्रथमांत एवं ह्रस्व पाठ कर दिया है।

(३) शिखरिणी वृत्त।

(४) वसंततिलका वृत्त।

(५) श्लोक ११-१२ में शार्दूलविक्रीडित वृत्त है।

अग्रिण्यः[1] समभूदमीषु समदप्रत्यर्थिदर्पापहः
खानश्रीसलहो हुसंगयवनाधीशस्य विश्वा-
सभूः ॥ १२ [॥]

पूर्वं कादिरसाहिभूमिरमणः साचिव्यमत्रादधा-
वौचित्येन हुसंगसाहिरपि च [प्रा]युंक्त कृत्येषु तं-
(तम्) ॥(।)

एनं षा(खा)नपदेभिषिच्य भुजयोरेतस्य धृत्वा भरं
भूमेः शर्म स नर्मजातमभजद्भूपः कियद्वत्सरं-[2]
(रम्) ॥ १३ [॥]

---

(१) व्याकरण के अनुसार 'अग्रिण्यः' प्रयोग अशुद्ध है। इसके स्थान में 'अग्रीयः' अथवा 'अग्रे यः' पाठ अर्थ-दृष्टि से उचित प्रतीत होता है। हमारे किए हुए अर्थ के अनुसार उपर्युक्त पाठ ही योग्य हैं। यदि कोई इस श्लोक का ऐसा अर्थ निकाले, जिसमें 'अग्रिण्यः' को 'हुसंगयवना-धीशस्य' का विशेषण पद माना जाय, तो शुद्ध प्रयोग 'अग्रण्यः' होना चाहिए; किंतु हमें यह अर्थ अभीष्ट नहीं है, क्योंकि हुशंगशाह तो स्वयं अग्रणी था ही ('शकनिकरपङ्केरुहरविः'—श्लो० ७), अतः सलह को ही अग्रणी मानना युक्तियुक्त जान पड़ता है।

(२) निपुण एवं कार्यकुशल मंत्री अथवा अन्य उच्च कर्मचारी को पाकर प्रायः राजा चिंता-रहित हो जाते हैं। प्राचीन काल में गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त को भी बहुत तलाश करने के पश्चात् सौराष्ट्र प्रदेश के गोप्ता (वर्तमान गवर्नर) पद के लिये पर्णदत्त जैसा निपुण व्यक्ति मिल जाने से बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

सर्व्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान् ।
आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ॥
एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन नैकानहोरात्रगणान्स्वमत्या ।
यः संनियुक्तोर्थनया कथंचित्सम्यक्सुराष्ट्रावनिपालनाय ॥
नियुज्य देवा वरुणं प्रतीच्यां स्वस्था यथा नोन्मनसो बभूवुः ।
पूर्व्वेतरस्यां दिशि पर्णदत्तं नियुज्य राजा धृतिमांस्तथाभूत् ॥

स्कंदगुप्त का जूनागढ़ का शिलालेख, पंक्ति ८-६ ।
कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्; जि० ३, पृ० ५६ ।

हुसंगद्गोणीशेनुस-

८ ॥ रति यशःशेषसरणिं[१]

धरां धाराधारामधृत महमूं(मू)दक्षितिपतिः ॥(।)

प्रजा यस्मिन्खि(न्ख)ल्चीकुलकमलभानौ[२] प्रभवति

प्रभूतार्थानर्थध्वनितमधृतार्थं व्यवृणुत[३]॥ १४[॥]

ढिल्लीमुन्नादभिल्लीमुखरतरुचरद्भिल्लिपल्लीमुदंच-

च्चोलं वित्रासलोलं विघटनविवशानुत्कलानां प्रदेशान्[४]॥(।)

चक्रं चक्रेतिरौद्रद्रविडपरिवृढस्यापि दिग्जैत्र-

(१) इसमें हुशंगशाह के देहावसान का सुंदर पदावली में उल्लेख किया गया है। प्रशस्तियों में स्वर्गारोहण का वर्णन कई प्रकार से लिखा मिलता है, जिसके दो-एक उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) नृपतिगुणनिकेतः स्कन्दगुप्तः पृथुश्रीः

चतुरुदधिजलान्तां स्फीतपर्यंतदेशाम्।

अवनिमवनतारिर्यः चकारात्मसंस्थां

पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या॥

गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त का जूनागढ़ का शिलालेख; पंक्ति ३-४।

कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्; जि० ३, पृ० ५९।

(ख) जाते सुरस्त्रीपरिरंभसौख्यसमुत्सुके श्रीनरवर्म्मदेवे।

ररक्ष भूमीमथ कीर्त्तिवर्म्मा नरेश्वरः शक्रसमानधर्म्मा॥ २५॥

आबू पर अचलेश्वर महादेव का वि० सं० १३४२ का शिलालेख; भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० ८५।

(२) 'खल्जी०' पढ़ना चाहिए।

(३) शिखरिणी वृत्त।

(४) अनुप्रास आदि शब्दालंकारों का जैसा सुंदर प्रयोग इस श्लोक में हुआ है, ठीक वैसा और उसी के समान भाव का निम्नलिखित श्लोक है—

अंगाः संप्राप्तभंगाः स्मृतघनविटपाः कामरूपा विरूपा

वंगा गंगैकसंगा गतविरुदमदा जातसादा निषादाः।

चीनाः संग्रामदीनाः स्खलदधिधनुषो भीतिशुष्कास्तुरुष्काः

भूमीपृष्ठे गरिष्ठे स्फुरति महिमनि क्ष्मापतेर्मोकलस्य॥ ४६॥

९ ॥ यात्रा-

रंभभ्रूभंगमात्रादमहिममहमूं(मू)दक्षितींद्रो विनिद्रं-[1]

(द्रम्) ॥ १५ [॥]

असौ भुवो भारमुदारचित्ते

निधाय षा(खा)ने सलहाभिधाने ॥(।)

न किं ददौ कं न्न(न) जिगाय किन्न

जज्ञौ न भोग्यं कतमद्गुभोज[2]॥ १६ [॥]

मालवमभिषेणयतो गूर्जरनृपतेरशीतिमातंगान् ॥(।)

संगरगिरिवरचारी जघान सलहाह्वकेसरी कुपितः[3] ॥ १७ [॥]

संप्राप्य मानुषजनुषः[4] फलमप्यशेष-

१० ॥ मंतदर्धे स महमूं(मू)दमहीमहेंद्रः ॥(।)

राज्ये गयासनृपमात्मजमर्हणीय-

मानीय निर्जितविपक्षमपेक्षणीयं(यम्[5]) ॥ १८ [॥]

मांडव्यदुर्गमधितिष्ठति ग्यासभूपे

न व्यासमापुररिभूमिभृतो जगत्यां(त्याम्) ॥(।)

प्राच्याचले चलति चंडरुचावचंडाः

किं कौशिका: क्वचन कौशलमावहंति ॥ १९ [॥]

गुहिलवंशी मोकल नृपति के समय का वि० सं० १४८९ का चित्तोड़गढ़ में समिद्धेश्वर के मंदिर का शिलालेख; भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० ९९। एपिग्राफ़िया इंडिका; जि० २, पृ० ४१६।

(१) स्रग्धरा वृत्त।

(२) उपेंद्रवज्रा वृत्त।

(३) गीति वृत्त।

(४) 'मानुषजनुष्फलमप्यशेष०' होना चाहिए।

(५) श्लोक १८-१९ में वसंततिलका वृत्त है।

दंड: केवलमातपत्रनिचये मुक्तासु वेधावघि-[1]

बंध: कंचुकसं-

११ ॥ धिषु प्रतिबलं वाजिव्रजे चापलं(लम्) ॥(।)

उद्वाहे करपीडनं कुचयुगे काठिन्यमुन्नीयते[2]

भूमिं शासति पारसीकतिलके श्रीग्याससाहिप्रभौ[3]

॥ २० [॥]

तातप्रेमास्पदत्वाद्गुणगणगरिमालंकृतत्वाद्गयास-

क्षोणीभृत्कृत्यजाते शलहमधिकृतेष्वभ्यषिंचत्प्रधानं-

(नम्) ॥(।)

कार्यं साफल्यमागात्समुचितमुररीकुर्वतानेन नीरं

प्राचुर्ये-[4]

१२ ॥ णाभिवृद्धं वनमिव सहसा संभृतं दोहदेन[5] ॥ २१ [॥]

आकर्णाकृष्टचापच्युतशरनिकरोद्भिन्नवक्षोविपक्ष-

(१) 'वेधावधि' पढ़ना चाहिए।

(२) परिसंख्या अलंकार में इससे कहीं अच्छा वर्णन बाण ने शूद्रक के राज्य-समय का किया है—यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकरा रतेषु केशग्रहाः काव्येषु दृढबन्धाः शास्त्रेषु चिन्ता स्वप्नेषु विप्रलंभाः छत्रेषु कनकदण्डा ध्वजेषु प्रकंपा गीतेषु रागविलसितानि करिषु मदविकाराः चापेषु गुणच्छेदा गवाक्षेषु जालमार्गाः शशिकृपाणकवचेषु कलंका रतिकलहेषु दूतप्रेषणानि सार्यक्षेषु शून्यगृहा न प्रजानामासन्। यस्य च परलोकाद्भयमंतःपुरिकाकुंतलेषु भंगो नूपुरेषु मुखरता विवाहेषु करग्रहणमनवरतमखाग्निधूमेनाश्रुपातस्तुरंगेषु कशाभिघातो मकरध्वजे चापध्वनिरभूत्।

कादंबरी (निर्णयसागर-संस्करण); पूर्वभाग, पृ० १०-११।

(३) शार्दूलविक्रीडित वृत्त।

(४) 'नीरप्राचुर्येण' पढ़ना चाहिए।

(५) श्लोक २१-२२ में स्रग्धरा वृत्त है।

क्षोणीभृद्धूरिकत्त्वक्षतजपरिलसत्संगरोर्वीसरस्सु ॥(।)
धावद्धारालघातप्रपतदरिशिरांस्यंजनांभोजशोभा-
माविःकुर्वंति[1] यत्[2] श्रीशलहनरपतेर्युद्धवैदग्ध्य-
मेतत्[3] ॥ २२ [॥]
गयासक्षोणींद्रप्रतिनिघिरथोन्नोय[4] शबर-
प्रभूतं वा-
१३ ॥ यव्यां दिशि जनपदत्रासमनिशं(शम्) ॥(।)
सुतप्रायं बाल्यान्नृपचरितमभ्याप्य बहरी-
महावीरं वैरिप्रशमविधयेयोजयदयं(यम्[5]) ॥ २३ [॥]
स्वामित्वं धरणींनिजेशवचनादासादयन्नुद्धुरं

(१) 'आविष्कुर्वंति' पढ़ना चाहिए।
(२) 'यच्छ्रीशलह०' पढ़ना चाहिए।
(३) निम्नलिखित दो श्लोकों में युद्ध-भूमि का ऐसा ही सुंदर वर्णन मिलता है—

कोदंडज्याकिणाङ्कैरगणितरिपुभिः कङ्कटोन्मुक्तदेहैः
शिलष्टान्योन्यातपत्रैः सितकमलवनभ्रान्तिमुत्पादयद्भिः ।
रेणुग्रस्तार्कभासां प्रचलदसिलतादन्तुराणां बलाना-
माक्रान्ता भ्रातृभिर्मे दिशि दिशि समरे कोटयः संपतन्ति ॥२७॥
भट्ट नारायण-कृत 'वेणीसंहार' नाटक; द्वितीय अंक ।

आगर्जेद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटानिस्तीर्णकर्णज्वरं
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन् ।
वेल्लद्भैरवरुण्डमुण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुवं
तृष्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणामिव ॥ ६ ॥
भवभूति-रचित 'उत्तररामचरित'; अंक ५ ।

(४) '०प्रतिनिधि०' पढ़ना चाहिए।
(५) शिखरिणी वृत्त ।

दुर्गं दुर्गमचीकरत्स बहरी[1] सद्योधविद्याधरं-[2]

(रम्) ॥(।)

प्राच्यां चारुषि(खि)डावदाह्वयपुरे [3]चर्मन्वतीतीरतो

वामं पादमिव[4] प्रतापिशबरक्षोणीभुजां मूर्द्धनि[5]

॥ २४ [॥]

बहरी मृगेंद्र[6] इव

१४ ॥ कंदरं गिरे-

र्निजदुर्गमाप्य रिपुकुंजरव्रजं(जम्)[7] ॥(।)

---

(१) 'बहरीः' पढ़ा जाय।

(२) बहरी के बनवाए हुए दुर्ग की भाँति महाराणा कुंभा के कुंभलगढ़ का भी महेश ने इससे मिलता-जुलता वर्णन किया है—

कुंभः कुंभलमेरुमंबरमणिः सूतांतराळे चल-

त्रानानिर्झरवारिहारिणि गिरौ विंध्ये व्यधादुन्नतं ।

दुर्गं दुर्गमधित्यकामधिचतुर्द्वारं विकायोच्चकैः

प्राचीनं परिणद्धमारविवरं तत्रोरुविद्याधरं ॥ ५० ॥

एकलिंगजी के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति। भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १२०।

(३) 'चर्मण्वती' पढ़ना चाहिए।

(४) इसी तरह के भाव के लिये देखो—

समुदितबलकोशान्युध्यमित्रांश्च जित्वा

क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः ॥

गुप्तवंशी स्कंदगुप्त के समय का भिटारी का स्तंभ-लेख, पंक्ति १०-११। कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्; जि० ३, पृ० ५३-५४।

डॉ० फ्लीट ने उपर्युक्त ग्रंथ में इस लेख का संपादन करते हुए 'पुष्यमित्रांश्च' पढ़ा है, किंतु डॉक्टर भगवानलाल इंद्रजी का 'युध्यमित्रांश्च' पाठ पसंद होने से हमने यहाँ वही पाठ रखा है।

(५) शार्दूलविक्रीडित वृत्त।

(६) 'बहरीमृगेंद्र' होना चाहिए।

(७) इस श्लोक के पूर्वार्ध की तुलना पृष्ठ ४३, टिप्पण २ में उद्धृत श्लोक से की जाय।

शरशक्तिकुंतनखरैर्व्यदीदर-[1]

त्रिशितैरिवाशनिभिरद्रिमद्रिभिन्[2] ॥ २५ [॥]

शंखोद्धारे रंतिदेवोद्भृतायाः

[3]स्त्रोतस्विन्यास्तीरमध्येऽभ्यभावि ॥(।)

[4]षङ्गाषङ्गि चेमकर्णक्षितीश-

[5]श्चान्वनूब(न्व)हरीपारसीकेश्वरेण[6] ॥ २६ [॥]

इबराहिमाह्वयसुरस्थिरीभव-

द्रुरुमालवावनिपतेररुंतुदं(दम्) ॥(।)

उदर्जी–

१५ ॥ हरच्च बहरीरनाकुलै-

रभिदश्य शल्यमसिकुंतपट्टिशैः[7] ॥ २७ [॥]

कर्णः कोदंडगर्वं वितरणमहिमानं च जीमूतवाहः

कंदर्पो रूपदर्प्पं विविधमतिमदं भोजभूभृज्जहातु ॥(।)

(१) मंजुभाषिणी वृत्त ।

(२) 'अद्रिभित्' होना चाहिए ।

(३) महाकवि कालिदास ने भी चंबल नदी का परिचय कुछ विस्तार के साथ इसी तरह दिया है—

व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥ ४७ ॥

मेघदूत; पूर्वमेघ ।

(४) 'खङ्गाखङ्गि' पढ़ना चाहिए ।

(५) यह अशुद्ध प्रयोग जान पड़ता है। इस पद को '०स्तन्वन्' पढ़ना चाहिए, क्योंकि 'खङ्गाखङ्गि' से इसका संबंध मानने से इसका युक्ति-संगत अर्थ निकलता है। 'अन्वन्' प्रयोग नहीं होता, इसलिये इसके स्थान में 'तन्वन्' उपयुक्त होगा।

(६) शालिनी वृत्त ।

(७) मंजुभाषिणी वृत्त ।

गुर्वीमुर्वी यशोभिर्विशदयति[1] शरच्चंद्रगौरैरुदंच-

द्दोर्द्दोदंडखड्गे प्रभवति बहरीवीरवर्ये जगत्यां-[2]

(त्याम्) ॥ २८ [॥]

चेतस्यंकुरितः प्रमोदपयसा सिक्तः सुपात्रावना-

दास्था-

१६ ॥ नं गमितः सुवर्णमणिभिः पूर्णप्ररोहक्रमः ॥(।)

शाषा(खा)भिस्तुरगैः पचेलिमफलः कीर्त्यावदातश्रिया

चित्रं दानमहीरुहोस्य[3] बहरीवीरस्य संवर्द्धते[4] ॥२६[॥]

---

(१) संस्कृत में कवि-समय के अनुसार यश, कीर्ति, हास आदि के संबंध में धवलता, शुभ्रता आदि का उल्लेख होना चाहिए (मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः—साहित्यदर्पण; सातवाँ परिच्छेद, २३वें श्लोक का प्रथम चरण); इसी लिये इस श्लोक में वीर सेनापति बहरी के शुभ्र यश से भूमंडल का विशद होना बतलाया गया है। यही भाव अधोलिखित पद्यों में भी देख पड़ता है—

स्वर्ल्लोके शुचिवर्म्मणि स्वसुकृतैः पौरंदरं विभ्रमं

बिभ्राणे कलकंठकिन्नरवधूसंगीतदोर्विक्रमे ।

माद्यन्मारविकारवैरितरुणीगण्डस्थलीपांडुरै-

र्ब्रह्मांडं नरवर्म्मणा धवलितं शुभ्रैर्यशोभिस्ततः ॥ २४ ॥

धवलयति स्म यशोभिः पुण्यैर्भूमंडलं तदमुं ।......॥ ४४ ॥

आबू पर अचलेश्वर महादेव के मंदिर की वि० सं० १३४२ की प्रशस्ति; भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० ८४-८७ ।

(२) स्रग्धरा वृत्त ।

(३) इस श्लोक में प्रशस्तिकार ने बहरी के दान की भरपेट प्रशंसा की है। प्रशस्तियों में दानशीलता के ऐसे अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन प्रायः मिलते रहते हैं। किसी कवि ने भोज की दानशीलता का क्या ही चमत्कार-पूर्ण वर्णन किया है—

स्वर्गाद्गोपाल कुत्र व्रजसि सुरमुने भूतले कामधेनो-

र्वत्सस्यानेतुकामस्तृणचयमधुना मुग्ध दुग्धं न तस्याः ।

श्रुत्वा श्रीभोजराजप्रचुरवितरणं व्रीडशुष्कस्तनी सा

व्यर्थो हि स्यात्प्रयासस्तदपि तदरिभिश्चर्वितं सर्वमुर्व्याम् ॥

सुभाषितरत्नभांडागारम्; पृ० १२२, श्लो० ६७ ।

(४) शार्दूलविक्रीडित वृत्त ।

न कदाचिदस्य मदनः पुरस्फुर-

त्परसुंदरीषु हृदयं व्यचीकरत् ॥(।)

न च लोभवैभवमिदं व्यमूमुहत्

परवस्तुनि स्तुतिपदेपि कुत्रचित्[1] ॥ ३० [॥]

अचीखनद्दुग्घ्रपयोधिशैशव[2]-

श्रियं वहत् शाल्मलिमत्पु[3]-

१७ ॥ रे सरः ॥(।)

अचीकरत्पुण्यमिवात्मन[4] स्थिरं

महत्तरं सेतुमसौ शकाग्रणीः[5] ॥ ३१ [॥]

बहरीस्सरः परममुत्र सुंदरं

समचीखनद्धनददिकू स(क्स)माश्रितं(तम्) ॥(।)

यदुपेतसोदरसमागमागतो

दधिवारिधिः किमयमित्यतर्क्यत[6] ॥ ३२ [॥]

बहरीविनिर्मितसरःपरिस्फुर-

त्तरुणारुणारुणसरोजराजिषु ॥(।)

परिहाय भूरिपरिरंभणं हरे-

रुरसो रमारमत[7] रागवत्तया ॥ ३३ [॥]

(१) मंजुभाषिणी वृत्त ।

(२) 'दुग्धपयोधि०' पढ़ना चाहिए ।

(३) 'वहच्छाल्मलिमत्' होना चाहिए ।

(४) यहाँ षष्ठी विभक्ति है, किंतु 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' इस वार्तिक के अनुसार विसर्ग का लोप हुआ है ।

(५) वंशस्थ वृत्त ।

(६) श्लो० ३२-३३ में मंजुभाषिणी वृत्त है ।

(७) इसी भाव से मिलते-जुलते महेश-रचित निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय हैं—

यत्रो—

१८ ॥ ल्लसत्कमलमंडललोलभृंगी-

संगीतसंवलितरंगरथांगनादा: ॥(।)

मानेंगना: पतिषु मन्मथधाविधाटी-

घंटारवा इव नयंति समुत्सुकत्वं(त्वम्[1]) ॥ ३४ [।।]

तत्तीरे तरवो रसालपनसा: पांथव्रजेभ्योनिशं

सत्रं पुष्पफलैरलं व्यतिसृजंत्यामोदिभि: स्वादुभि:[2] ॥(।)

वापीमचीखनदियं मणिबद्धभित्ति-

मर्णोनिधे: सहचरीमिव भूरिनीरां।

यामंबुराशिमपहाय रमासमेत:

श्रीकेशव: समधितिष्ठति वारिलुब्ध: ॥ २० ॥

घोसुंडी की बावड़ी की प्रशस्ति; जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल; जि० ५६, भाग १, पृ० ८१।

अचीकरच्छंकरनामधेयं

महासरो भूपती(ति)राजमल्ल:।

तन्मानसं यज्जलकेलिलोभा-

च्छिश्रियाते गिरिजागिरीशौ ॥ ७५ ॥

एकलिंगजी के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति।

अचीखनत्सप्तसरांसि भूभृद्विशोककोकानि निजांशुजालै:।

यत्राश्रित: श्रीपतिरेष शश्वत्श(च्छ)य्यासुखान्यंबुनिधौ न दध्यौ ॥ ५१ ॥

एकलिंगजी के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति।

(१) वसंततिलका वृत्त।

(२) जान पड़ता है कि घोसुंडी की बावड़ी की प्रशस्ति का निम्न-लिखित श्लोक लिखते समय महेश कवि ने अपने पूर्व-रचित इस श्लोक का ही भाव ले लिया है—

......। रंभारसालपनसा: पथिकातिथेय-

श्रेयो दिशंति निजभर्तुरदस्तटोत्था: ॥ २१ ॥

स्पर्द्धते जनकं तु तद्ध्रुवममी सर्वान्नदं सूनव-

स्तातं स्वं व्यतिशेरते गुणगणैः पुण्यात्मनां ह्युन्न[1]-

१९ ॥ ताः ॥३५ [॥]

बहरीरकारयत[2] दीर्घदीर्घिकां

ककुभं षि(खि)डावदपुरस्य दक्षिणां(णाम्) ॥(।)

अधिनद्धनिर्मलशिलातलस्फुर-

द्रचनामनोज्ञमणिबंधभासुरां(राम्[3]) ॥ ३६ [॥]

[4]पीयूषपोषमविशोषमदोषमाप्य

वापी पुपोष कतमन्न विशेषमेषाः[5] ॥(।)

कालेपि मानससरोवरमाश्रयंति

यस्यां निबद्धमनसो न हि मल्लिकाक्षाः[6] ॥ ३७ [॥]

या चंद्रकांतपरिकल्पितभित्तिजात-

जां-

२० ॥ बूनदांबुजततिप्रतिबिंबकांत्या ॥(।)

तीरेपि नीरभरविभ्रमभांजि पांथ-

यूथानि हंत हसतीव तरंगरंगैः ॥ ३८ [॥]

---

(१) शार्दूलविक्रीडित वृत्त।

(२) मंजुभाषिणी वृत्त।

(३) महाकवि कालिदास ने अलका नगरी की एक वापी का भी ऐसा ही वर्णन किया है—

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा

हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।...... ॥ १६ ॥

मेघदूत; उत्तरमेघ।

(४) श्लोक ३७-३९ में वसंततिलका वृत्त है।

(५) यहाँ विसर्ग नहीं चाहिए।

(६) देखो पृष्ठ ४७, टिप्पण १-२। कालिदास-वर्णित अलका के यक्ष-गृह की उपर्युक्त वापी के विषय में भी ठीक यही बात कही गई है—

यत्रारहट्टघटितोरुघटी नटीव-
आनर्त्ति कुट्टिम इव प्रचलज्जलौघे[1] ॥(।)
रज्जौ क्वचित्क(त्क)चन नीरधरांतराले
ताले मिलत्युपरिदारुवियोगयोगैः ॥ ३९ [॥]
[2]यत्सोपानश्रेणिरेणात्तणाना-
मंभः कुंभैर्नेतुमभ्युद्यतानां(नाम्) ॥(।)
फुल्लांभो-
२१ ॥ जैर्मंजुसिंजानहंसै[3]-
रंह्रिन्यासैरंचते वा विभाति ॥ ४० [॥]
यन्नीराहरणोपनम्रतरुणी कुंभं जले दोलय-
न्त्या(न्त्या)त्मीयं परिचिन्वती गुरुकुचद्वंद्वानुबिंबद्वयं-
(यम्) ॥(।)
नो गृह्णाति घटं न गच्छति तटं वाटं न चावेक्षते
संपन्नभ्रमविभ्रमा त्रिकलशीमेवेक्षते विस्मिता[4] ॥ ४१ [॥]
नीरक्रीडां[5] संगतैर्यत्र कांता
वेणित्राणा बद्धचंडातकांता: ॥(।)

यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥ १६ ॥
मेघदूत; उत्तरमेघ।

(१) घोसुंडी की बावड़ी के लेख में कुछ शब्द इस श्लोक से ज्यों के त्यों उद्धृत किए गए हैं—
रम्यारघट्टघटितोरुघटीविनिर्य-
दंभोभिषेकमनुभूय महीरुहोमी।...... ॥ २१ ॥
(२) शालिनी वृत्त।
(३) ०शिंजान० पढ़ना चाहिए।
(४) शार्दूलविक्रीडित वृत्त।
(५) शालिनी वृत्त।

वीचीदोलालोलनीवीनिवेशाः
खिं-

२२ ॥ ग्नैरंगीचक्रिरे[1] वारवध्वः[2] ॥४२ [॥]

अनर्घ्यतरदीर्घिकातरणसंमिलंत्कामिनी[3]-
कुचस्थलपरिस्खलन्मृ(न्मृ)गमदैकपंकाविले[4] ॥(।)
सुपेशलशिलातले कमलमंडलीमंतिके-
प्यपास्य परिविभ्रति भ्रमणमत्र भृंगस्रजः[5] ॥ ४३ [॥]

(१) 'खिन्नै०' होना चाहिए।

(२) महाकवि भारवि ने भी इससे कुछ मिलता-जुलता जल-क्रीड़ा का वर्णन किया है—

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसंभ्रमा।
सखीषु निर्वाच्यमधाष्टर्य्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ॥ ४८ ॥
प्रियैः सलीलं करवारिवारितः प्रवृद्धनिःश्वासविकम्पितस्तनः।
सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजनः ॥ ४९ ॥

किरातार्जुनीय; आठवाँ सर्ग।

(३) '०संमिलत्कामिनी' पढ़ना चाहिए।

(४) यह जलक्रीड़ा का वर्णन है। इसको पढ़कर महाकवि कालिदास-वर्णित कुश की सरयू नदी की जलक्रीड़ा का स्मरण होता है। पास खड़ी हुई चँवर करनेवाली किराती से कुश कहते हैं—

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥

रघुवंश; सर्ग १६।

श्रीहर्ष कवि ने भी भीम नृपति के कुंडिनपुर की वापिका का बहुत यथार्थ वर्णन किया है—

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया।
न निशाखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

नैषधीयचरित; द्वितीय सर्ग।

(५) पृथ्वी वृत्त।

उत्तुंगस्तनभारभंगुरुगुरुश्रोणीश्रमव्याकुला[१]
यन्नोराहरणाध्वनीनतरुणी विश्रांतिमृच्छेदिति ॥(।)
च्छायाभूरुहराजिमत्र बहरी-
॥ वीरो मुदावीवप-

२३

यामुभ्भ्भंति[२] न कुत्रचिन्नवनवोल्लासा वसंतश्रियः[३] ॥४४[॥]
उपर्युपरि दीर्घिका समतले धरामंडले
मनोहरतरुश्रिया तरणितापलोपोन्नतां(ताम्) ॥(।)
दलत्कुसुमसौरभभ्रमदभंगभृंगावली-[४]
मिलन्मृदुलकाकलीमकृत सोत्र वाटीं विभुः[५] ॥४५ [॥]
श्रोणीभारचलद्रसालविटपव्यालंबिदोलामिल-
द्रामोरुश्वलचोलिकांचलचलद्वातैरपेत-[६]
॥ श्रमाः[७] ॥(।)

२४

(१) '०भंगुर०' पढ़ना चाहिए ।
(२) 'यामुज्भंति' चाहिए ।
(३) शार्दूलविक्रीडित वृत्त ।
(४) देखो घोसुंडी की बावड़ी के लेख में—
उपर्युपरितस्तटीं विटपिनः सदामोदव-
त्प्रसूनभरविभ्रमद्भ्रमरमंजुगुंजायुजः ।... ॥ २२ ॥
(५) पृथ्वी वृत्त ।
(६) प्राचीन काल से ही बाग-बगीचों में झूलना (विशेषतः वर्षा ऋतु में) एक प्रकार के मनोरंजन का साधन माना जाता है । महेश कवि के इस श्लोक को पढ़कर हमें झूलती हुई स्त्री के वर्णन के किसी कवि के एक अत्यंत सुंदर श्लोक का स्मरण होता है—
प्रत्यासन्नमुखी कराम्बुजयुगप्रेङ्खोलिता प्रेङ्खिका-
मारुह्य यमुदस्तहारलतिकाव्याविद्धतुङ्गस्तनी ।
दृष्टादृष्टमुखा गतागतवशादालोलमानांशुका
तन्वङ्गी गगने करोति पुरतः शातह्रदं विभ्रमम् ॥
(७) विसर्ग नहीं होना चाहिए ।

जेतुं पंचशरः शरानिव जगद्भूयो जितं विभ्रमा-
निभ्यो लंभयति स्म सैनिकधिया मन्येत्र
लीलावने[1] ॥ ४६ [॥]

पनसे पचेलिमफले चलदृशा
कतमेन नास्मृयत[2] यत्र कानने ॥(।)
परिरंभसंभ्रमदलत्तनूरुहा
विरहे प्रिया पृथुपयोधरद्वयी[3] ॥४७ [॥]

स्पर्द्धंते लकुचफलानि बालिकाना-
मुद्भिन्नस्त[न]युगलेन[4] काननेस्मिन् ॥(।)
कुंदानामविकलकोर-

२५ ॥ कस्रजोपि
व्याकोशाधरपुटविस्फुरन्[5] स्मितेन[6] ॥४८ [॥]

आश्लेषं कुसुमितमालतीलताना-
मासाद्यामलजलदीर्घिकाभिषिक्तः ॥(।)

---

(१) शार्दूलविक्रीडित वृत्त ।

(२) व्याकरण के अनुसार यह प्रयोग अशुद्ध है। इसके स्थान में 'नास्मर्यत' होना चाहिए।

(३) मंजुभाषिणी वृत्त ।

(४) भगवान् रामचंद्र को भी अशोक लता के पुष्प-गुच्छ स्तनों जैसे जान पड़े थे, अतएव सीता के वियोग में उन्हें उस लता को देखकर जनक-नंदिनी का ही भ्रम हुआ और वे उसे आलिंगन करने चले, तब लक्ष्मण ने उनका भ्रम निवारण किया। महाकवि कालिदास ने लिखा है—

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा सास्रमहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥
रघुवंश; सर्ग १३ ।

(५) 'विस्फुरन्' 'स्मित' का विशेषण है, इसलिये समास होने से इसे 'विस्फुरत्स्मितेन' पढ़ना चाहिए।

(६) श्लोक ४८-४९ में प्रहर्षिणी वृत्त है।

स्वेदांभोनिवहमलुंपदंगनाना-

मश्रांतं श्रमजममुत्र गंधवाह[1] : ॥४९ [॥]

इदं[2] कचन काननं मृदुलमल्लिकाशोभनं

कचित्कनककेतकप्रकरभूरिवानीरवत् ॥(।)

कचिन्मधुरसारसप्रहिलकोकिलाविभ्रमं

कचित्तरुणपल्लवैररुणितांतरालद्रुमं(मम्) ॥ ५० [॥]

२६ ॥ वनं[3] कापि पुंनागरंगावरुद्धं

कचित्तुंगनारंगभंगावनद्धं(द्धम्) ॥ ।)

कचिच्चंपकस्वच्छगुच्छप्रपंचं

कचिद्भृंगसंरब्वसंगीतसंचं(चम्[4]) ॥५१ [॥]

कचिच्चित्तमुत्कंठते मंजुगंधे

मनो मोदते कुत्रचित्कुंजबंधे ॥(।)

इहाहंयुजाया जहाति प्रकोपं

प्रिये नानुरागस्य धत्ते विलोपं(पम्) ॥५२ [॥]

कचित्सारणीवारिपूरा वलंति

कचिन्मालतीपुष्पमाला दलंति ॥(।)

---

(१) संस्कृत-साहित्य में कविजन प्रायः शीतल सुगंधित वायु से स्त्रियों का श्रम मिटने का उल्लेख करते हैं, जैसा यहाँ प्रशस्तिकार ने लिखा है। महाकवि कालिदास ने भी उज्जैन में शिप्रा नदी की वायु के लिये बतलाया है कि—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां

प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः

शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ ३१ ॥

मेघदूत; पूर्वमेघ ।

(२) पृथ्वी वृत्त

(३) श्लोक ५१-५४ में भुजंगप्रयात वृत्त है।

(४) '०संरब्धसंगीत०' पढ़ना चाहिए।

क्वचित्कोकिला[1] मंजु सज्जंति मा-

२७ ॥ नं

क्वचिद्योषितस्तेन मुंचंति मानं(नम्) ॥५३ [॥]

क्वचिन्नालिकेरीतरुश्रेणिसंप-

न्निकुंजीभवद्यूथिकावल्लिसंसत् ॥(।)

मिलन्मातुलिंगद्रुमद्रोणियुक्ते

वने राजते पारसीकप्रयुक्ते ॥ ५४ [॥]

विटपानुषंगकृतकंटकव्यधां[2]

शतपत्रचित्रकुसुमावचायिकां(काम्[3]) ॥(।)

विजनेपि मालिकयुवात्र कानने

विगतागसं न रमणीममन्यत[4] ॥ ५५ [॥]

यावत्शेषशिरस्सु[5] भूमिवलयं भूमंड-

२८ ॥ ले मध्यतो

मेरुर्मेरुगिरावसावहरहः प्रद्योतते भास्करः[6] ॥(।)

---

(१) इसी तरह के वर्णन को देखो—

क्वचिज्झिल्लीनादः क्वचिदतुलकाकोलकलहः

क्वचित्कंकारावः क्वचिदपि कपीनां कलकलः।

क्वचिद्घोरः फेरुध्वनिरयमहो दैवघटना

कथंकारं तारं क्वणतु चकितः कोकिलयुवा ॥

वल्लभदेव-संकलित सुभाषितावलि; श्लोक ७२३।

(२) '०कंटकव्यथां' पढ़ना चाहिए।

(३) इसी प्रकार का भाव निम्नलिखित श्लोक में है—

एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं

नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥

साहित्यदर्पण; चतुथ परिच्छेद, पृ० २१५।

(४) मंजुभाषिणी वृत्त।

(५) 'यावच्छेषशिरस्सु' होना चाहिए।

(६) प्रशस्तियों की रचना में प्रायः देख पड़ता है कि जिस मंदिर,

तावद्वापिकया सहेह बहरी सत्पुत्रपौत्रावृतौ[1]

तालाब, बावड़ी आदि के संबंध में प्रशस्ति लिखी जाती है, उसके विषय में सूर्य, चंद्र, मेरु, हिमालय, पृथ्वी आदि अचल एवं अविनाशी वस्तुओं का उल्लेख कर रचयिता द्वारा आशा प्रकट की जाती है कि जब तक ये अचल वस्तुएँ विद्यमान हैं, तब तक उक्त देवालय आदि का भी अस्तित्व बना रहे और वह उसके निर्माता की कीर्ति को चिरस्थायी बनाए रखे। प्रशस्तियों से ही उद्धृत इस संबंध के कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं—

शृंगारदेव्या सह राजमल्लः सन्नीरपूर्णापि च वापिकेयं।
यावद्धरासागरसूर्यचंद्रं राजंतु सानंदमनंतरायाः॥ २३॥

घोसुंडी की बावड़ी की प्रशस्ति।

यावत्कूर्म्मधृता धरा विजयते यावद्भुजंगाधिपः
पाताले पवमानपूरिततनुर्यावद्रविश्चंद्रमाः।
तावत्तिष्ठतु तीर्थमेतदमलं वापी महामंडपा
साहश्रीसुरताणकेन विहितं मांगल्यतुष्टिप्रदं॥

सादड़ी (जोधपुर राज्य) की बावड़ी का वि० सं० १६५४ का शिलालेख, पंक्ति १८-२२। भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १४४।

उर्वी यावदहींद्रशेखररुचं धत्ते तुषारत्विषं
श्रीकंठः शिरसि स्ववक्षसि हरिः श्रीवत्समंभोनिधिः।
तावद्राज्यमखंडितं कलयतः श्रीराजमल्लप्रभो-
रेषा कीर्त्तिलता परेव विजयं धत्तां प्रशस्तिश्रिरं॥ ९७॥

महेश-रचित एकलिंगजी के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति। भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० १२२।

यावत्सप्तसमुद्रमुद्रितमही हीनामकामस्थिरा (?)
यावत्तुंगतरंगरंगचपला स्वःसिंधुराबंधुरा।
तारामंडलमंडितो हिमरुचिर्मेरुर्महीमंडले
यावद्भांतितरां कराः खरकरस्योद्वेगहर्त्तुः सदा॥ ५॥
तावद्रामपुरे सदैव रुचिरे..........

रामपुरे में सासबहू की बावड़ी का शिलालेख (स्वयं तैयार की हुई छाप के आधार पर)।

(१) 'बहरीस्सत्पुत्र०' पढ़ना चाहिए।

[1] निःप्रत्यूहमचंचलप्रमुदितश्रीसंश्रितो नंदतु[2] ॥५६ [॥]

वंशे भृगोर्भगवतो भुवनप्रकाशे
चंद्रावतंसचरणांबुजचंचरीकः ॥(।)
आसीत्पवित्रचरितानुवसंतयाजी[3]
श्रीसोमनाथधरणीविबुधो धरण्यां(ण्याम्[4]) ॥५७ [॥]

तस्यात्मजो नरहरिर्हरिरेव साक्षा-
दान्वी-

२९ ॥ क्षिकीकुमुदकाननशीतभानुः[5] ॥(।)

आसीदिलातलविरंचिरिति स्फुटार्थं
यो वेदवेदवसतिर्बिरुदं[6] बभार ॥५८ [॥]

तस्मादंबुजिनीपतेरिव मनुश्चंडद्युतिः कश्यपा-
दंभोजासनतो भृगुर्जलनिधेर्यद्वत्सुधादीधितिः[7] ॥(।)
संजातो नृहरेरहीनमहिमा श्रीकेशवः कीर्त्तिमान्
यो झोटिंग इति प्रथामुदवहद्दुर्वादिपंचाननः[8] ॥५९ [॥]

(१) पाणिनि के 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' ८ । ३ । ४१ के अनुसार 'निष्प्रत्यूह०' होना चाहिए ।

(२) शार्दूलविक्रीडित वृत्त ।

(३) यह श्लोक एकलिंगजी की दक्षिण द्वार की प्रशस्ति में ज्यों का त्यों (श्लो० ६१) और कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति में जरा-से परिवर्तन के साथ (उसमें 'पवित्रचरितोनुवसंतयाजी' पाठ है) लिखा गया है (श्लो० १८८) ।

(४) श्लो० ५७-५८ में वसंततिलका वृत्त है ।

(५) यही पाठ कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति (श्लो० १८९) में है दक्षिण द्वार की प्रशस्ति में 'आन्वीक्षिकीकमलकाननतिग्मरश्मिः' (श्लोक ६२) पाठ है ।

(६) '०विशदं'—दक्षिण द्वार की प्रशस्ति ।

(७) श्लोक ५९-६० में शार्दूलविक्रीडित वृत्त है ।

(८) अन्य दोनों प्रशस्तियों में सारा श्लोक ज्यों का त्यों है ।

अत्रिस्तत्तनयो नयैकनि-

३० ॥ लयो वेदांतदांतद्युति[1]-

मीमांसारसमांसुलातुलमतिः साहित्यसौहित्यवान्[2] ॥(।)

मान्यः[3] श्रीगुं(गु)हिलान्वयांबुजवनीविद्योतनस्याभवत्

श्रीमत्कुंभमहीपतेर्दशपुरज्ञातिद्विजाग्रेसरः ॥ ६० [॥]

अत्रेः[4] सूनुर्दर्शनांभोजभानु-

र्वादिश्रेणीवाक्यवल्लीकृशानुः ॥(।)

किंचित्कालं मालवेराजतोद्य-

त्काव्योल्लासैः श्रीमहेशः कवींद्रः[5] ॥६१ [॥]

बहरीविनिर्मि-

३१ ॥ तसुदीर्घदीर्घिका-

मधि स प्रशस्तिमकरोन्महेश्वरः[6] ॥(।)

---

(१) 'वेदान्तवेदस्थितिः'—कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति (श्लो० १६१)। 'ज्ञानी विदांतस्थितिः'—दक्षिण द्वार की प्रशस्ति (श्लो० ६४)।

(२) दक्षिण द्वार की प्रशस्ति में, कुछ पाठ-भेद के साथ, यह सारा श्लोक मिलता है, किन्तु कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति में केवल पहले दो चरण पाए जाते हैं। इस श्लोक (संख्या १६१) के उत्तरार्ध के चरणों के लिये देखो पृष्ठ ५५, टिप्पण २।

(३) दक्षिण द्वार की प्रशस्ति में विसर्ग नहीं है और यह समास-युक्त पद बनाया गया है।

(४) अत्रि-सुत महेश का भिन्न भिन्न प्रशस्तियों में विभिन्न प्रकार से परिचय दिया गया है, जिसके लिये देखो पृ० ५५, टिप्पण २; पृ० ६०, टि० १-२ तथा पृ० ६३, टि० १। पृ० ५५, टि० २ से जान पड़ेगा कि कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति के श्लो० १६३ का पूर्वार्ध उपर्युक्त श्लो० ६१ के पूर्वार्ध से बराबर मिलता है।

(५) शालिनी वृत्त।

(६) देखो—प्रासाद एकलिंगस्य कीर्तिस्तंभस्य चोपरि।

अकार्षीद्यो महेशोसाविमामप्यकरोत्सुधीः ॥ २६ ॥

घोसुंडी की बावड़ी की प्रशस्ति।

अनवद्यपद्यविकसद्रसश्रिया
परितर्पितोत्तमकवींद्रमानसः[1] ॥ ६२ [॥]
श्रीमद्विक्रमभूमिभर्तृसमयाच्चंद्रागमेष्विदुंभि[2]-
विख्याते परिधाविवत्सरवरे मासे लसत्कार्त्तिके ॥(।)
शुक्ले धर्मतिथौ[3] बृहस्पतियुते[4] पूर्णाभवद्दीर्घिका
दीर्घायुर्बहरी[5] बहूनि वितरन्वि(न्वि)-
त्तानि[6] यामातनोत्[7] ॥ ६३ [॥]
मध्ये सितासि-
३२ ॥ तसरिद्रितयं[8] चकास्ति
पूः पावनश्रुतिहमीरपुराभिधाना ॥(।)

…… ..तेनात्रेस्तनयेन नव्यरचना रम्या प्रशस्तिः कृता
पूर्णा पूर्णतरं महेशकविना सूक्तैः सुधास्यन्दिनी ॥ १६२ ॥
कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति ।

इसके सिवा पृष्ठ ६०, टिप्पण २ भी देखना चाहिए।

(१) मंजुभाषिणी वृत्त ।

(२) 'चंद्रागमेष्विंदुभि०' होना चाहिए ।

(३) इसका अर्थ द्वितीया तिथि होता है। इसके लिये देखो इस निबंध का पाँचवाँ विभाग (पृष्ठ ६४)।

(४) 'बृहस्पतियुते' पढ़ना चाहिए ।

(५) 'बहरीर्बहूनि' होना चाहिए ।

(६) इसी तरह की शब्द-रचना के लिये देखो—
बध्वा नदीं पिंगलिकां धनानि
श्रीदुर्गभानुर्वितरन्बहूनि ॥ २ ॥
रामपुरे में पाथूशाह की बावड़ी का शिलालेख, पंक्ति १३ ।

(७) शार्दूलविक्रीडित वृत्त ।

(८) 'सरिद्द्वितयं' पढ़ना चाहिए ।

तस्यां वभूव[1] करचुल्लिकुलांशुमाली
श्रीभैरवो नृपतिरुग्रतरप्रतापः[2] ॥ ६४ [॥]

श्रीभैरवावनिपतेरभवत्पुरोधा
माध्यंदिनद्विजवरः कुशलद्विवेदः ॥(।)

तत्सूनुरर्थपतिरुच्चतर[3] चकार[4]
गोत्रं गुणैरनणु भार्गवनामधेयं(यम्) ॥ ६५ [॥]

तत्सूनुः[5] पुरुषोत्तमस्त्रिनयनं भक्त्या समाराधयन्
वेदव्याकृतिसंप्रदायप-

३३ ॥ रमाचार्यो बभूवावनौ ॥(।)

तत्पुत्रो घुडऊ कलासु कुशलो मान्योस्ति भूमीभुजा-
मेनं कादिरसाहिभूपतिरेनैषीत्पारसीकस्थितिं(तिम्[6])
॥ ६६ [॥]

यवनत्वमाप्य घुडऊ गुणांबुधिः
प्रभुतावशेन शलहाभिधामधात् ॥(।)

अभणच्च खानममुमुग्रतेजसं
[7]महमूंदभूपतिरनल्पविक्रमः[8] ॥ ६७ [॥]

---

(१) 'बभूव' होना चाहिए।

(२) श्लोक ६४-६५ में वसंततिलका वृत्त है।

(३) 'उच्चतरं' पढ़ना चाहिए।

(४) यही भाव इस श्लोकार्ध में व्यक्त हुआ है—

स्वगुणैरनुपस्कृतैरुदात्तैः पितरं यश्च विशेषयांचकार ॥ १६ ॥

गुप्तवंशी स्कंदगुप्त का जूनागढ़ का शिलालेख, पंक्ति ११।

कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्; जि० ३, पृ० ५६।

भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० २५।

(५) शार्दूलविक्रीडित वृत्त।

(६) '०रनैषीत्०' होना चाहिए।

(७) 'महमूद०' पढ़ना चाहिए।

(८) मंजुभाषिणी वृत्त।

शलहो यवनमकार्षीद्धहरीवीरं च बाहुजं जात्या ॥(।)
एतौ वर्णितपूर्वौ महे-
३४ ॥ शकविना प्रसंगत्या[1] ॥६८ [॥]
भांभासूनुर्दीर्धिकां चेत्रसिंहः
शस्ताकारां सूत्रधारो व्यधत्त[2] ॥(।)
शिल्पं यस्यावेक्ष्य कश्चिन्न शिल्पी
शिल्पे गर्वग्रंथिमुर्व्यां बिभर्त्ति[3] ॥ ६९ [॥]
शुभं भवतु लेखकपाठकयोः[4] ॥ शुभं ॥ छ[5] ॥

अंत में इतिहास-प्रेमी पाठकों से हमारा निवेदन है कि संभव है, इस निबंध में हम से कुछ त्रुटियाँ रह गई हों अथवा कोई ऐतिहासिक उलझन हमसे पूरी तरह न सुलझ सकी हो, किसी

---

(१) आर्या वृत्त।
(२) शालिनी वृत्त।
(३) निम्नलिखित श्लोक का ठीक ऐसा ही भाव है—
षे(खे)तासूनुः सूत्रधारो व्यधाद्दै
शस्ताकारां दीर्घिकां रामदासः।
शिल्पं तस्या वीक्ष्य शिल्पी मनोज्ञं
कश्चिच्चित्ते नादधाति स्म गर्वम् ॥ ४४ ॥
रामपुरे में पाथूशाह की बावड़ी का शिलालेख, पंक्ति २६-२७ (मूल लेख की छाप के आधार पर)।
(४) देखो—'स्वस्ति कर्तृ लेखकवाचकश्रोतृभ्यः सिद्धिरस्तु' ॥
कुमारगुप्त और बंधुवर्मन् का मंदसौर का शिलालेख। कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्; जि० ३, पृ० ८४।
(५) यह अक्षर निर्मल या शुद्ध रचना को सूचित करता है, क्योंकि 'छ' के निम्नलिखित अर्थ होते हैं—
निर्मलं छं समाख्यातं तरले छः प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥
छेदके छः समाख्यातो विद्वद्भिः शब्दकोविदैः ।......॥ १३ ॥
एकाक्षरकोष।

विवादास्पद विषय का अंतिम निर्णय न हुआ हो अथवा इधर की किसी नवीन शोध का हमें परिचय न हो; इसलिये यदि इस संबंध में कोई विद्वान् पाठक हमें सप्रमाण सत्परामर्श देंगे, तो वह हमें इतिहास की कसौटी पर जाँच करने के अनंतर सहर्ष ग्राह्य होगा[1]।

---

(१) यह लेख लिखते समय हमें अपने मित्र पंडित जवाहरमलजी काव्य-न्याय-तीर्थ से परामर्श मिला है, अतः हम उनके कृतज्ञ हैं।—लेखक

(२) प्राचीन द्वारका

[लेखक—महामहोपाध्याय श्रीहाथीभाई शास्त्री, जामनगर]

द्वारकापुरी की स्थिति के संबंध में 'द्वारकामाहात्म्य' से बहुत सी बातों का पता चलता है। इस लेख में हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कहना चाहते कि इस समय पश्चिम समुद्र के तट पर श्रोखामंडलांतर्गत जो द्वारकापुरी मानी जाती है, वह वास्तविक द्वारका है ही नहीं, किंतु उपलब्ध प्रमाणों पर से जो कल्पना उत्पन्न होती है वह विचारणीय अवश्य है।

स्कंदपुराणांतर्गत प्रभासखंड के द्वारकामाहात्म्य से द्वारका की स्थिति प्रभासक्षेत्र के पास प्रतीत होती है। आज भी प्रभासक्षेत्र के समीप प्राची स्थान से ५-६ मील दूर समुद्र-तट पर मूलद्वारका नामक स्थान है, जहाँ करीब एक फर्लांग की एक-सी शिला पर श्रीद्वारका-नाथ और कुशेश्वर ये दो मंदिर विद्यमान हैं, जिनमें से बाम पार्श्व के मंदिर में शिवलिंग भी है। अनुमान होता है कि दक्षिण पार्श्व के मंदिर में पहले जो मूर्ति होगी उसको, समुद्र द्वारा यह द्वारका डूब जाने के समय, यहाँ से ले जाकर आजकल जिसे द्वारका कहते हैं उस कुशस्थली में मंदिर निर्माण कराकर प्रतिष्ठित कर दिया हो।

इस मूलद्वारका में मंदिर के पास एक गुफा है, जिसका द्वार इस समय चुनाई से बंद कर दिया गया है। कहा जाता है कि इस गुफा में होकर एक मार्ग जाता है, जिससे गिरनार पर्वत (रैवताद्रि) पर पहुँच सकते हैं। जिस बड़ी चट्टान पर मंदिर बना हुआ है वह समुद्र-जल के भार से कुछ टेढ़ी हो गई है। आज-कल इस स्थान को मूलद्वारका बंदर कहते हैं। यह प्रभास से अनु-मानतः १८–१९ मील दूर अग्निकोण में है। अनेक प्रमाणों से यह

सिद्ध-सा जान पड़ता है कि यह टापू ही द्वारका का मूल स्थान हो।

द्वारकामाहात्म्य में द्वारका के समीप रमणद्वीप बतलाया है, जो इस समय पुर्तगाली सरकार के अधीन का 'दीव' नामक स्थान (बंदरगाह) है। द्वारका के बालकों के रैवताचल (गिरनार) पर क्रीड़ा करने के लिये जाने की कथा भी इस स्थान के अनुकूल है। यदि वर्तमान द्वारका को प्राचीन द्वारका माना जाय, तो रमणद्वीप का पता नहीं चलता और रैवताचल भी इस समय की द्वारका से दक्षिण में सौ मील से भी अधिक दूर जा पड़ता है, इसलिये इसकी स्थिति भी असंबद्ध हो जाती है।

इस संबंध में एक और भी कवि-कथन विचारणीय है। माघ कवि-रचित 'शिशुपाल-वध' महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में प्रथमसर्गोक्त नारद-वचन के अनुसार पहले शिशुपाल के साथ युद्ध करने को जाना अथवा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित होना, इस बात का निर्णय करने के लिये श्रीकृष्ण, बलराम और उद्धव, इन तीनों ने मिलकर पहले युधिष्ठिर के यज्ञ में जाने का निश्चय किया और यह सोचा कि यदि उक्त यज्ञ में शिशुपाल आया और उसने कुछ प्रतिकूल चेष्टा की, तो उसके साथ युद्ध करने का अच्छा प्रसंग मिलेगा। यदि यज्ञ में शिशुपाल उपस्थित नहीं हुआ, तो युधिष्ठिर की ओर से सेना लेकर चढ़ाई करने का अच्छा अवसर मिल जायगा। यह निर्णय कर—तृतीय सर्ग में बतलाया है कि—रानियों को साथ लेकर सेना सहित श्रीकृष्ण ने द्वारका से इंद्रप्रस्थ के लिये प्रस्थान किया, तब उनकी यात्रा का पहला मुकाम रैवताद्रि पर हुआ, जिसका वर्णन चतुर्थ सर्ग में मिलता है।

इस संबंध में यह विचारणीय है कि वर्तमान द्वारका से इंद्रप्रस्थ को जाते हुए कच्छ और सिंध का प्रदेश रास्ते में पड़ता है और रैवताचल मार्ग में नहीं आता। जैसा पहले बतलाया गया

है, वर्तमान द्वारका से रैवताद्रि १०० मील से भी अधिक दूर है और इंद्रप्रस्थ बिलकुल उत्तर में पड़ता है, अतएव वर्तमान द्वारका से इंद्रप्रस्थ जाते हुए रैवताद्रि जाना केवल द्रविड़ प्राणायाम हो जाता है और एक सौ से अधिक मील की यात्रा करना—और वह भी सैन्य सहित—असंभव ही है।

यदि मूलद्वारका से इस संबंध में विचार किया जाय तो इस स्थान से उत्तर में प्रयाण करने पर लगभग २८—३० मील चलकर रैवताचल की तलहटी आ जाती है। इस बात का विचार करते हुए इस समय मानी जानेवाली द्वारका की अपेक्षा प्रभास के समीप के मूलद्वारका स्थान में ही प्राचीन द्वारका की स्थिति मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

महाभारत के मौसलपर्व में लिखा है कि एक बार सब यादव मद्यपान करके समुद्र-तट पर गए और समुद्र में से एरका, जो एक प्रकार की समुद्री घास होती है, उखाड़कर आपस में लड़ने-भिड़ने लग गए, जिसमें स्वयं श्रीकृष्ण ने भी क्रुद्ध होकर उस एरका से अपने भाई बेटों का संहार किया। यह घटना प्रभास के समीप ही हुई थी। अंत में एक शिकारी ने सोते हुए श्रीकृष्ण को मृग समझकर उनके पैर में मुसलावशेष-फलकयुक्त बाण मारा। इस घटना-स्थल को आज भी मालककुंड कहते हैं। बाण लगने से दु:खित होकर श्रीकृष्ण इस स्थान से लँगड़ाते हुए चले और सरस्वती के तीर पर जाकर उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। इसी स्थान को देहोत्सर्गस्थान कहते हैं। यह सब वृत्तांत मूलद्वारका स्थान में ही द्वारका की स्थिति मानने से संगत हो सकता है। वर्तमान द्वारका से प्रभास अनुमानत: १५० मील दूर होने के कारण वहाँ तक पहुँचने में कम से कम ५—६ दिन लग जायँगे; अत: ऐसा मानने से इस स्थान का संबंध ठीक नहीं जमता।

द्वारका-यात्रा में सोमेश्वर का दर्शन और उसका फल लिखा मिलता है। यह भी मूलद्वारका स्थान से ठीक जँचता है। आगे चलकर कुबेरनगरी और इससे पश्चिम में न्यंकुमती नदी इत्यादि भी मूलद्वारका स्थान से ५ मील पर हैं। कुछ अपभ्रंश रूप में कुबेर-नगरी कोडीनार और न्यंकुमती निकुमती नदी के नाम से आज भी प्रसिद्ध हैं। यहाँ से पश्चिम में धर्मपुर, जिसे विष्णुप्रयाग या विष्णुगया कहते हैं, और चक्रकुंड (चक्रतीर्थ) आदि स्थानों का भी मूलद्वारका स्थान से ठीक पता चल जाता है।

हरिवंश से जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण के वंशज हरियशा ने कुशस्थली में द्वारका बसाकर मंदिरादि निर्माण कराए और प्रतीत होता है कि कुशेश्वरमाहात्म्य से भी यह बात कुछ संगति खाती है।

इस संबंध में एक और भी बात विचारणीय है। कुंभकोणम् में श्रीमद्भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य का जो 'मठाम्नाय' छपा है उसमें लिखा है कि पश्चिम में श्रीद्वारका में कालिकामठ है और शारदामठ, जहाँ शारदांबा स्वयं विराजमान हैं, शृंगेरी नामक स्थान में है। यह कालिकामठ आज भी प्रभासक्षेत्र में त्रिवेणीतट पर विद्यमान है। इसमें विक्रम संवत् ४२१ का एक शिलालेख भी है, जिसमें 'कालिकामठ' नाम पाया जाता है। कई लोग इसे शारदामठ भी कहते हैं। यह स्थान भी मूल द्वारका के समीप है। अस्तु।

इस विषय में महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा जैसे कोई मर्मज्ञ इतिहास-संशोधक एवं पुरातत्त्ववेत्ता विशेष प्रकाश डालें तो उनका प्रयत्न समादरणीय होगा *।

* विद्वान् लेखक महोदय ने द्वारका के मूल स्थान का जो निर्णय किया है, उससे हम भी सहमत हैं। [सं०]

(३) पदमावत की लिपि तथा रचना-काल

[लेखक—श्रीचंद्रबली पांडेय, एम० ए०, काशी]

पदमावत का अध्ययन करते करते जब हम उसकी कथा के उपसंहार में पहुँचते हैं तब हमारी कुछ विचित्र स्थिति हो जाती है। उस समय हम एक ऐसी परिस्थिति में पड़ जाते हैं जिसकी हमें संभावना भी नहीं हुई थी। हम यह नहीं कहते कि जायसी ने उस स्थल पर जो कुछ लिख दिया है वह अनुचित अथवा असंगत है। पर इतना कहने का साहस तो अवश्य ही करते हैं कि उन्होंने अपना आशय इस प्रकार प्रकट कर हमको बंधन में डाल दिया है। हमारे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उन्होंने अपनी कथा को अन्योक्ति कहकर हमको चकित कर दिया है अथवा हमारे सम्मुख एक नया प्रश्न उपस्थित कर हमको विस्मय में डाल दिया है। हमारे कथन का सीधा-सादा अर्थ यह है कि उन्होंने उस स्थल पर अपनी एक ऐसी मनोवृत्ति का परिचय दे दिया है जिसकी संभावना हमको नहीं थी।

जायसी का कथन यह है, "केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल ? जो यह पढ़ै कहानी हम्ह सँवरै दुइ बोल।" न जाने कहाँ से यह बार-बार प्रतिध्वनित होता है, "जो यह पढ़ै कहानी हम्ह सँवरै दुइ बोल।" हमारा विश्वास है कि यदि यह ध्वनित न होता तो भी हम जायसी को स्मरण करने से न चूकते। हाँ, इसका प्रभाव यह अवश्य ही हो रहा है कि हम इस चेतावनी से सावधान होकर उनको स्मरण करना अपना धर्म समझने लगे हैं। अब हमारे हृदय में यह बात घर करती जा

रही है कि यदि हम इन कवियों की कृतियों का रसास्वादन कर 'वाह-वाह' करके ही रह गए तो हमने अपने उस कर्तव्य का पालन नाममात्र को भी नहीं किया जिसकी आशा किसी भी कृतज्ञ प्राणी से की जा सकती है। भला हमसे बढ़कर कृतघ्न और कौन होगा जो इन कवियों की ओर आँख उठाकर भी देखने का कष्ट सहन न कर सके, जिनकी कविता के कलनिनाद में हम स्वर्ग-सुख का अनुभव कर रहे हैं। अस्तु, हम जायसी के इस वाक्य के कारण अपने को अब एक महान् बंधन में पाते हैं। हम जायसी की इस अंतिम शिक्षा को शिरोधार्य कर अपने कर्तव्य के पालन में दत्तचित्त होने को लालायित हो उठे हैं। हम यह जानते हैं कि इस बंधन से मुक्त होना सुगम नहीं है, पर हमारा विश्वास हमें ललकारता है कि हम कभी न कभी इन कवियों की कृपा से इस कार्य में अवश्य सफल होंगे।

जायसी की ओर ध्यान जाते ही उनसे परिचित होने की कामना हृदय में हलचल मचा देती है। पर बुद्धि ठिठककर कहती है कि जायसी से पूर्णतः परिचित होना टेढ़ी खीर है। अतः हम भी उचित समझते हैं कि जायसी से मिलने के पहले हम उस सहायक या पथ-प्रदर्शक को ही भली भाँति समझ लें जिसकी सहायता से उन्होंने हमारे हृदय में घर कर लिया है और जो हम लोगों का मध्यस्थ है। हमारी तो धारणा यह है कि पदमावत जायसी की कृति ही नहीं, प्रतिनिधि भी है। पदमावत को समझ लेना जायसी को स्मरण करना ही है। अतः जायसी की जीवनी की ओर अग्रसर होने के पहले पदमावत के देश-काल से परिचय प्राप्त कर लेना परम आवश्यक जान पड़ता है। अस्तु, यहाँ पर हमारा मंतव्य केवल इतना ही है कि हम पदमावत के रचना-काल से भली भाँति परिचित हो लें। कारण यह है कि जायसी के जीवन की व्याख्या एक

प्रकार से उसी में निहित है। उसके एक अंश पर प्रकाश पड़ते ही सारा जीवन चमक उठेगा।

पदमावत भी रामचरित-मानस की भाँति ही हिंदी-साहित्य का चक्षु है। चक्षु का काम केवल पथ-प्रदर्शन ही नहीं है, प्रत्युत हृदयगत भावों को व्यक्त करना भी है। वह अपने हृदय की एक एक बात कहने को जी खोलकर लालायित है, पर उधर ध्यान ही किसका जाता है। यह देखकर हर्ष होता है कि डाक्टर ग्रियर्सन तथा पंडित सुधाकर जी ने उसकी पुकार सुन उसके उद्धार में हाथ लगाया और शुक्लजी ने उसकी दुर्गति देख उसका एक स्वच्छ तथा शुद्ध संस्करण निकाल उसके गौरव को बढ़ाया। किंतु खेद यह देखकर होता है कि हमारे विद्वानों ने इसी को पर्याप्त समझा। संतोष की उपासना किसी अन्य मंदिर में होती है। समीक्षा के क्षेत्र में तो जिज्ञासा का अंत ही विनाश है। यही कारण है कि हम शुक्लजी के निर्धारित मार्ग पर चलकर उसकी पूर्ण समीक्षा करना चाहते हैं।

लोग कहते हैं कि पदमावत के रचना-काल में गहरा मतभेद है। पर हमारी दृष्टि में उसमें मतभेद नहीं है। यदि है तो केवल दो और चार का भेद। इस भेद का कारण खोजने के लिये भी गंभीर विवेचन की आवश्यकता नहीं है। यह तो पाठ-भेद का परिणाम है। जिसकी पुस्तक में जो पाठ मिल गया उसने उसी को प्रमाण मान उसका रचनाकाल स्थापित कर दिया। इस दृष्टि से, हम इतना कहने का साहस अवश्य करते हैं कि सन् ९४७ हि० को पदमावत का निर्माण-काल मानना अधिक संगत जान पड़ता है; क्योंकि उसी समय में शेरशाह दिल्ली का बादशाह था। परंतु उसी पद्य का भूतकाल एक विचित्र बाधा उपस्थित कर देता है। उपर्युक्त पाठ-भेद का कारण यह कहा जाता है कि उर्दू-लिपि में सत्ताईस

और सैंतालीस में कुछ विशेष अंतर नहीं रह जाता। अतः यह संभव है कि लेखकों ने भूलकर सैंतालीस को सत्ताईस पढ़ लिया हो। इसी को बाबू श्यामसुंदरदास जी के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—"पदमावत की प्रतियाँ अधिकतर उर्दू-लिपि में मिलती हैं। संभव है, और अधिक संभव है, कि जायसी ने स्वयं उसे उर्दू-लिपि में लिखा हो। उर्दू में सत्ताईस और सैंतालीस लिखने पर उनमें अधिक अंतर नहीं होता। थोड़े से भ्रम में सैंतालीस का सत्ताईस पढ़ा जा सकता है। उर्दू लिपि की यह कठिनाई जगत्प्रसिद्ध है।"*

बाबू साहब का अवतरण देखकर पदमावत का रचना-काल भूल जाता है और एक दूसरी बात पर ध्यान सहसा चला जाता है। हमारी समझ में उस बात पर विचार करना रचना-काल पर विचार करने से अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। यदि यह बात ठीक ठीक हमारी समझ में आ गई तो यह प्रश्न स्वतः ही हल हो जायगा। अतः हम अब उसी पर विचार करना उचित समझते हैं।

जायसी के समय में उर्दू का तो नाम भी नहीं था।* अतः उर्दू-लिपि से संभवतः फारसी-लिपि का अर्थ लिया गया है। बाबू साहब के कथन पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि यह उनका अनुमान ही है। पर जन-समाज में तो बड़े लोगों का अनुमान भी प्रमाण का काम करता है। अतः इस अनुमान पर विशेष ध्यान देना उचित जान पड़ता है। यही बाबू साहब अपने संक्षिप्त-पदमावत में एक स्थल पर लिखते हैं, "मुसलमान लेखक प्रायः सूफी संप्रदाय के अनुयायी थे जिनका उद्देश मनोरंजक प्रेमगाथाओं-द्वारा अपने उदार आध्यात्मिक भावों को हिंदू जनता के कानों तक पहुँचाना था।" यदि हम बाबू साहब की बात को मान लेते हैं तो जायसी

* संक्षिप्त पदमावत पृ० १२, जायसी ग्रंथावली, वक्तव्य, पृ० ६

का भी उद्देश अपने उदार आध्यात्मिक भावों को हिंदू-जनता में प्रचलित करने का था। अब यह बात समझ में नहीं आती कि जायसी ने हिंदू-जनता में प्रचार करने के लिये फारसी या उर्दू-लिपि को क्यों चुना ? वह भी उस समय जब उर्दू का नाम भी न था। यदि हम सुगमता का नाम लेकर इस प्रश्न का समाधान करने बढ़ते हैं तो 'उर्दू-लिपि की यह कठिनाई जगत्प्रसिद्ध है', हमको छेंक लेता है और हम विवश होकर मुँह ताकने लगते हैं। अस्तु, यदि जायसी का संबंध हिंदू जनता से था, वे पदमावत की रचना हिंदुओं की हित-कामना से प्रेरित होकर कर रहे थे, तो उन्होंने उसकी रचना हिंदी-लिपि में ही की होगी, फारसी-लिपि में कदापि नहीं।

हम कह ही चुके हैं कि पदमावत की लिपि का प्रश्न बहुत ही जटिल है। अतः उस पर जमकर विचार करना ही समीचीन है। शुक्लजी प्रसंगवश एक स्थल पर लिखते हैं कि "झंझट का एक बड़ा कारण यह भी था कि जायसी के ग्रंथ फारसी लिपि में लिखे गए थे। हिंदी-लिपि में उन्हें पीछे से लोगों ने उतारा है।"* यह तो स्पष्ट ही है कि शुक्लजी का यह कथन या तो बाबू साहब के अनुमान को प्रमाणित करता है या तटस्थ रह जाता है; हमारे पक्ष में तो भूलकर भी नहीं आता। यदि 'जायसी के ग्रंथ' से उनका अभिप्राय जायसी के स्वलिखित ग्रंथ से है तो उनके कहने का तात्पर्य

* शेरशाह के समय उर्दू लिपि और भाषा प्रचलित थीं। हिंदी भाषा लिखने के लिये फारसी की वर्णमाला में नये अक्षरों की योजना कर साधारण लोगों के काम योग्य उर्दू लिपि की सृष्टि हो चुकी थी। जायसी ने पदमावत हिंदी में लिखी या उर्दू में यह अनिश्चित है, परंतु हिजरी सन् ९४७ का ९२७ हो जाना यही बतलाता है कि यह भ्रम उर्दू लिपि के कारण ही हुआ हो। [सं०]

यही है कि जायसी ने अपने ग्रंथों को फारसी-लिपि ही में लिखा। यदि यह ठीक है तो शुक्लजी सरीखे विद्वान् की बात को असंगत ठहराने का साहस नहीं होता। पर विचार करने से यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि शुक्लजी ने प्रकृत प्रश्न पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने तो झंझट के कारण का उग्र रूप दिखा दिया। संभवतः लिखते समय उनके ध्यान में जायसी के ग्रंथों की उपलब्ध प्राचीन फारसी-लिपि की प्रतियाँ थीं जो हिंदी प्रतियों से प्राचीन थीं। कुछ भी हो, हम इस प्रश्न को यहीं छोड़े देते हैं, और आगे बढ़कर डाक्टर ग्रियर्सन साहब की बातें सुनना चाहते हैं। हमारी समझ में इस विचार के उत्पादक यही महानुभाव हैं। इन्हीं का कथन अन्य विद्वानों को भी मान्य है। अतः हम उनके विषय में कुछ कहना व्यर्थ ही समझते हैं।

ग्रियर्सन साहब साहित्य-संसार के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं। हिंदी के तो वे कर्णधार ही समझे जाते हैं। उनकी साधारण बातें भी प्रमाण की कोटि में आ जाती हैं। अतः उनके कथन पर उचित ध्यान देना ही समीचीन है। उनका कथन यह है—

"He wrote his poem in what was evidently the actual vernacular of his time, tinged with an admixture of a few Persian words and idioms due to his Muslman predilections. It is also due to his religion that he originally wrote it in the Persian character, and hence discarded all the favourite devices of Pandits, who tried to make their language correct by spelling (while they did not pronounce) vernacular words in the Sanskrit fashion. He had no temptation to do this. The Persian character did not lend itself to any such false antiquarianism. He spelled each word rigorously as it was pronounced. His work is

hence a valuable witness to the actual condition of the vernacular language of the Northern India in the 16th Century. It is, so far as it goes, and with the exceptions of a few hints in Alberuni's Indica, the only trustworthy witness which we have. It is trustworthy, however, only to a certain extent, for it often merely gives the consonantal frame-work of the words, the vowels, as is usual in Persian manuscripts being generally omitted. Fortunately, the vowels can generally be inserted with the help of a few Devanagari manuscripts of the poem which are in our possession."*

प्रस्तुत अवतरण से यह तो स्पष्ट ही है कि जायसी ने पदमावत को फारसी-लिपि में लिखा था। वस्तुत: बाबू साहब और डाक्टर ग्रियर्सन के आधार भिन्न भिन्न नहीं हैं। उनमें जो अंतर लक्षित होता है उसका कारण यह नहीं है कि डाक्टर ग्रियर्सन ने बहुत सोच-समझकर अपनी व्यवस्था दी है, प्रत्युत यह है कि उन्होंने अपने को एक द्रष्टा के रूप में अंकित करने का प्रयत्न किया है और अपने अनुमान को प्रमाण के अभाव में भी सत्य दिखा देने की चेष्टा की है। यही कारण है कि उन्होंने अपने कथन में इस विषय पर इस ढंग से प्रकाश डाला है कि साधारण दृष्टि उसकी चकाचौंध में फँस जाती है और तथ्यातथ्य का विचार नहीं कर पाती। उनके कथन से ऐसा जान पड़ता है कि उनकी लेखनी से जायसी की आत्मा ने स्वयं आकर ऐसा लिखा दिया है। जायसी के विषय में ये ही ग्रियर्सन साहब कहते हैं, "He studied Sanskrit Prosody and Rhetoric from Hindu Pandits at Jayas." और "हौं पंडितन केर पछलागा। किछु कहि चला तबल देइ डागा"

* सटीक पदुमावती (Introduction)।

के पंडितन का अर्थ भी वे Hindu Scholars करते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि पंडितों, संस्कृत के उन पंडितों, को क्या पड़ी थी कि वे जायसी के पास अपना 'डेपुटेशन' इस विचार से ले जाते कि वे कृपया फारसी-लिपि में धर्म-भावना से लिखी गई पुस्तक में संस्कृत के शब्द घुसेड़कर उनको परम लाभ पहुँचावें। संस्कृत के जिन पंडितों की दृष्टि 'मानस' से बचना चाहती थी वह पदमावत की फारसी-लिपि पर टूट पड़ी हो, इसकी कल्पना ग्रियर्सन साहब ही को शोभा देती है। हम तो "औ बिनती पंडितन सन भजा। टूट सँवारहु मेरवहु सजा" "एक नयन कबि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेइ कबि सुनी" तथा 'प्रमदामोद' आदि के आधार पर अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि जायसी ने भाषा-पंडितों से प्रार्थना की। वस्तुतः ग्रियर्सन साहब के Sanskrit Pandits उनके विपक्ष में साक्ष्य देते हैं।

ग्रियर्सन साहब की एक बात और भी बेढब जान पड़ती है। आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि ग्रंथ के संपादन में आपको उस पुस्तक से अधिक सहायता मिली है जो हिंदी-लिपि में थी, पर यह नहीं मानते कि जायसी ने भी उसी सुगम लिपि का पल्ला पकड़ा होगा जिसका दामन आप पकड़ते हैं। यह क्यों? यही न कि जायसी मुसलमान थे! इस विषय में हम केवल इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि उस समय में मुसलमान राजा होने पर भी एक साधारण मुसलमान को महात्मा गाँधी से अच्छा नहीं समझते थे। जायसी के विचार में तो "मातु के रकत पिता के बिंदू। उपने दुवौ तुरुक औ हिंदू", यही नहीं है वरन् उनका तो यहाँ तक कहना है कि "बिधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन-रोवाँ जेते॥" हमको तो यह देखकर मार्मिक दुःख होता है कि जायसी की 'पदुमावती' के भक्त ग्रियर्सन साहब फारसी-लिपि का

कारण धर्म की प्रेरणा बतलाते हैं। न जाने उनकी लेखनी से यह कैसे निकल पड़ा—"It is also due to his religion that he originally wrote it in the Persian character." विचित्र एवं पते की बात तो यह है कि डाक्टर ग्रियर्सन साहब "भँवर आइ बनखँड सन लेइ कँवल कै बास। दादुर बास न पावई भलहि जो आछै पास" की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"The author means that he is aware that his own country-folk, and his own people (the Musalmans) will not care for his poem, for it is in Hindu dialect and not in Urdu ; but, on the other hand men of distant lands and of other religions (the Hindu) will be attracted by the distant lotus."* इस अवस्था में भी जायसी फारसी-लिपि ही में लिखते हैं—यह आश्चर्य की बात है।

ग्रियर्सन साहब के इस शुद्ध भ्रम का निवारण करने के पहले ही इसके कारण पर विचार कर लेना असंगत नहीं कहा जा सकता। संस्कार के कारण भयंकर भूलें सभी कर जाते हैं। ग्रियर्सन साहब उसके अपवाद नहीं कहे जा सकते। अतः हमारी समझ में इस भ्रम का मुख्य कारण वह वातावरण है जिसमें हिंदू और मुसलमानों का विरोध वैमनस्य के रूप में बढ़ाया जाता है। जायसी इस वातावरण के मित्र तो कदापि न थे, यदि थे तो कट्टर शत्रु। उनके जीवन का प्रयत्न राम-रहीम की एकता से भिन्न नहीं था। वे अलाउद्दीन को 'माया' कहते भी हैं। अपने ग्रंथों में वे फारसीपन लाना नहीं चाहते थे, संस्कार के कारण वह घुस पड़ा है। द्वितीय कारण संभवतः यह हो सकता है कि ग्रियर्सन

* सटीक पदुमावती (Page 14)

साहब को जो पुस्तकें मिली हैं उनकी प्राचीन प्रतियाँ फारसी-लिपि में ही अधिक हैं। सब से प्राचीन प्रति सन् ११०७ हि० (सन् १६९५ ई०) की फारसी-लिपि ही में है। इस आधार पर यदि फारसी-लिपि की कल्पना ग्रियर्सन साहब अथवा अन्य किसी के मस्तिष्क में उठे तो स्वाभाविक ही है। हम देखते भी हैं कि अभी उस दिन इंशा ने "रानी केतकी की कहानी" को इसी लिपि में लिखा। यदि समय का फेर न होता तो कदाचित् हम इस अनुमान को ठीक समझ लेते।

अधिकतर लोगों की यह धारणा है कि मुसलमान सदा से ही उर्दू-प्रेमी रहे हैं। उनकी समझ में खुसरो, जायसी तथा रहीम आदि हिंदी-कवि भी फारसी-लिपि के ही भक्त थे। अतः हम यह उचित समझते हैं कि इस प्रश्न पर कुछ और अधिक विवेचन कर लिया जाय। प्रायः यह देखा जाता है कि आज-कल के ग्रामीण भी हिंदी या खड़ी बोली की बात-चीत को "फारसी बूकना" कहते हैं; कहीं कहीं 'मुसलमानी बोलना' का भी प्रयोग करते हैं। हमारी दृष्टि में ग्रियर्सन साहब तथा अन्य विद्वानों के उपर्युक्त कथन के मूल में यही व्यापक 'अध्यास' काम कर रहा है। इसके फेर में पड़ जाना दोष नहीं है। हाँ, इससे बचकर तथ्यातथ्य का विचार करना गुण अवश्य है। हमारी तो समझ में नहीं आता कि धर्म के प्रचार की दृष्टि से फारसी-लिपि को अपनाने का प्रतिपादन किस विवेक से किया जाता है? आजकल के पादरी भी तो जनता में प्रचलित लिपि ही की शरण लेते हैं। अब अँगरेज तब मुसलमान विदेशी थे। उन्होंने इस दृष्टि से हिंदी-लिपि ही को अपनाया होगा। कहते हैं कि खालिकबारी की लाखों प्रतियाँ ऊँटों पर लदवाकर देश में बाँटी गई थीं।

जायसी के समय में कुछ ऐसी स्थिति थी कि जनता तो बोल-चाल की कविता को ध्यान से सुन लेती थी, परंतु पंडित-मंडली

उसका आदर नहीं करती थी। पंडितों तथा मुल्लाओं की इस उपेक्षा का पता जायसी, तुलसी और केशव आदि सभी कवियों से चल जाता है। तुलसीदास को तो यहाँ तक कहना पड़ा, "का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच। काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच।" जायसी भी यदि पंडित होते तो पंडितों से इसी प्रकार कहते। परंतु वे मौलवी थे। अत: मुसलमानों से कहते हैं कि "तुरकी, अरबी, हिंदुई भाषा जेती आहिं। जेहि महँ मारग प्रेम कर सबै सराहैं ताहि।" यहाँ पर हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते कि जायसी का तात्पर्य इस 'तुरकी' से फारसी, रेखता या मुख्य तुरकी में किससे है। साधारणत: तो उसका अर्थ तुरकों की मुख्य भाषा तुरकी से है जिसमें, उसी समय में, बाबर की 'तुजुक-बाबरी' लिखी गई थी। यह तो कहना व्यर्थ ही है कि जायसी की दृष्टि इसी 'हिंदुई' पर है।

कुछ दिनों से हिंदी, हिंदुई, हिंदवी, रेखता और उर्दू आदि शब्दों तथा भाषाओं को लेकर एक प्रकार का खिलवाड़ सा हो रहा है। जिसके जी में जो आता है वह उसी का प्रचार करने लगता है। देखिए सर ग्रियर्सन का कथन क्या है—"You are quie right in stating हिंद is a Persian word, and is the Persian equivalent of सिंधु. The Persian called the whole of India by this name. The old form of हिंदू was हिंदी, which is derived from an older from हैंदव which is the equivalent of the Sanskrit सैंधव, not of सिंधु. The word हिंदी means a native of हिंद, that is a native of India, an Indian. But, in Persian, हिंदू or हिंदी means a person of the Hindu religion. Thus Amir Khusro says of Sultan Firoz Shah Khilzi, in his 'Ghurratal kanae', "whatever like fell into the King's hands was pounded into bits under the feet of elephants

The Muslmans, who, were Hindis, had their lives spared." You will thus see that, when applied to a language, Hindi properly means any Indian language. Bengali and Marathi are as much Hindi as the language we now call Hindi. The use of the word Hindi in its modern sense, is quite late. Its proper name is हिंदुई i. e. the language of Hindus, as opposed to Urdu, the language of Muslmans." * अस्तु, जायसी की हिंदुई का अर्थ हिंदुओं की भाषा है, मुसलमानों की उर्दू या ग्रियर्सन साहब की हिंदुस्तानी नहीं। प्रसंगवश यहाँ पर हम यह कह देना अपना धर्म समझते हैं कि ग्रियर्सन साहब की सम्मतियाँ प्राय: अनुमान पर ही टिकी हैं, वस्तुत: उनका कुछ आधार नहीं है। विश्वास न हो तो विचार करने का कष्ट कीजिए।

आपका कथन है कि हिंद शब्द सिंधु का रूपांतर है परंतु हिंदु शब्द सिंधु का रूपांतर नहीं है। हिंदू शब्द विषयांतर है। अत: उसके विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उसका संबंध हिंदी से कुछ भी नहीं है।

ग्रियर्सन साहब के विचार में 'हिंदी' शब्द की निष्पत्ति सैंधव से होती है। सैंधव से हैंदव तो सहज में बन जाता है; पर हैंदव से हिंदी का सिद्ध होना द्रविड़-प्राणायाम से कुछ कम नहीं है। यदि हिंदी की उत्पत्ति सैंधव से होती तो उसका अर्थ भी कुछ घोड़ी ला या नमकीन सा ही होता—'सैंधवमानय' की दृष्टि से। हिंदी का अर्थ 'Indian' किस भाषा में होता है, इसका पता आप नहीं देते हैं। यदि आपका ध्यान कुछ भी उस ओर मुड़ा होता तो व्यर्थ का घपला न होता। हिंदुस्तानी का अर्थ आजकल भी Indian नहीं होता—कभी कभी कुछ लोग कर देते हैं।

* कविता-कौमुदी प्रथम भाग, पृ० २२।

हिंदुस्तान का क्रमागत अर्थ मध्य देश है। पंजाबी तथा बंगाली यहाँ के निवासियों को ही हिंदुस्तानी कहते हैं। परंतु अब यह हिंदुस्तान शब्द India के लिये व्यवहृत होने लगा है। कुछ भी हो, हिंदी शब्द का प्रयोग हिंदुई से प्राचीन है और उसका अर्थ भी वही है जो आजकल समझा जाता है। बंगाली (बँगला) और मराठी को कुछ ही लोग हिंदी समझ सकते हैं। हमारी समझ में तो हिंदी शब्द उसी प्रकार से बना है जिस प्रकार से स्वयं ग्रियर्सन साहब बंगाल से बंगाली बनाने का कष्ट करते हैं—बँगला का प्रयोग नहीं करते। वास्तविक बात यह है कि सिंधु का परिवर्त्तित रूप हिंद है और ई उसमें निस्बती है। उसका अर्थ होता है हिंद के निवासी अथवा हिंद की भाषा। जिस प्रकार पंजाबी का अर्थ पंजाबियों तथा उनकी भाषा दोनों ही के लिये होता है उसी प्रकार हिंदी का प्रयोग भी दोनों के लिये फारसी में होता था। दूर की बात जाने दीजिए, स्वयं अमीर खुसरो इसका प्रयोग करते हैं। निवासियों के विषय में हिंदी का प्रयोग ग्रियर्सन साहब को भी मान्य है; अत: भाषा का ही प्रमाण देना हमको अभीष्ट है।

अमीर खुसरो ने अपनी प्रसिद्ध मसनवी "देवलरानी-खिज्र खाँ" में हिंदी के विषय में जो कुछ लिखा है उसके निदर्शन की कुछ विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अत: हम यहाँ पर उसके कतिपय पद्यों पर ही विचार करना पर्याप्त समझते हैं। खुसरो का कहना है—

غلط کردم گر از دانش زنی دم—نه لفظ هندیست از پارسی کم

इससे स्पष्ट है कि हिंदी का प्रयोग भाषा विशेष के लिये भी प्राचीन है। لفظ هندی के आधार पर हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि हिंदी देशभर की भाषा नहीं, प्रत्युत एक मुख्य भाषा थी। यही नहीं,[1] زبان هندهم تازی مثالست—

१ मसनवी दवलरानी-खिज्रखाँ (अलीगढ़) पृ० ४२-४३।

کہ آمیزش دراں جاکم محال ست आदि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह भाषा उस समय विदेशी शब्दों से मुक्त ही नहीं, नियमों से भी अनुशासित थी।

वस्तुतः हिंदी, हिंदुई तथा हिंदवी में कुछ भी अंतर नहीं है। यहाँ पर इस प्रश्न को छेड़ना कुछ असंगत जान पड़ता है; अतः इस पर कभी स्वतंत्र रूप से विचार किया जायगा। इस समय हम केवल इतना ही कह देना उचित समझते हैं कि यदि ग्रियर्सन साहब के कथनानुसार हिंदुई का अर्थ हिंदुओं ही की भाषा मानें तो मुसलमानों की भाषा का नाम—यदि विलक्षण न रही हो—मुसलमानी को छोड़कर उर्दू क्यों मानें, हिंदुई का प्रयोग उस समय मिलता है जब उर्दू का अर्थ छावनी या लश्कर होता था, भाषा-विशेष नहीं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो हिंदुई का हिंदवी बनते विलंब भी नहीं लगता। स्वयं अमीर खुसरो ने हिंदवी का प्रयोग किया है—"मुश्क काफर अस्त कस्तूरी कपूर। हिंदवी आनंद शादी औ सरूर"। इस प्रकार अमीर खुसरो की दृष्टि में हिंदी तथा हिंदवी एक ही सिद्ध होती है। हिंदी फारसी शब्द है और हिंदुई या हिंदवी, हिंदी—मूलतः नहीं अंशतः तो सही।

जायसी ने पदमावत में एक ओर तो भाषा का प्रयोग—"आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै"—किया है और दूसरी ओर हिंदुई—"तुरकी, अरबी, हिंदुई भाषा जेती आहिं"—का किया है। इससे स्पष्ट है कि उनकी समझ में भाषा और हिंदुई एक ही है। अस्तु, हमारी समझ में मुसलमानों की साक्षी से ही हमारा अर्थ सिद्ध हो जाता है और ग्रियर्सन साहब का कथन कल्पनामात्र शेष रह जाता है। यदि ग्रियर्सन साहब तथा उनके सदृश विवेचकों को हमारे कथन में आपत्ति हो और धर्म की बाधा बीच में उत्पात मचाती हो तो अमीर खुसरो के पद्यों का अध्ययन करें

और कृपया देखें कि उनका प्रेम और धर्म कितना उदार था। कवियों, मुसलमान-कवियों का यह दल हिंद तथा हिंदू संस्कृति पर किस प्रकार मुग्ध था। खुसरो कुछ कहना चाहते हैं। कान लगाकर सुन तो लीजिए—[१]

بہشتے فرض کن ہندوستاں را
کز انجانبت است ایں بوستاں را
کسے کز گنگ ہندوستاں بود دور
زنیل و دجلہ لا فدھست معذور

जायसी भी उसी गुरु के चेले थे जिसके शिष्य अमीर खुसरो थे। अब भी जिसकी धारणा यह हो कि अमीर खुसरो ने फारसी-लिपि में हिंदी कविता लिखी होगी उसको इस विषय पर विचार करना चाहिए कि उस समय फारसी-लिपि में कितने अक्षर थे और वह कहाँ तक हिंदी उच्चारण को अपनाने में समर्थ थी। यदि आप खुसरो का पिंड छोड़कर जायसी के पीछे पड़ते हैं तो वे डंके की चोट कह बैठते हैं "लिखि भाषा चौपाई कहै" अथवा "कहौं सो ज्ञान ककहरा सब आखर मँह लेखि। पंडित पढ़ि अखरावटी टूटा जोरेहु देखि"। जायसी के अक्षरों का लेखा यह है—क ख ग घ न, च छ ज झ न, ट ठ ड ढ न, त थ द ध न, प फ ब भ म, ज र ल व स ख स ह ख छ न।

जायसी के अक्षरों पर विचार करने के पहले ही हम यह कह देना अत्यंत आवश्यक समझते हैं कि हमारी दृष्टि में पदमावत जायसी का अंतिम ग्रंथ है। हमने 'अखरावट का रचनाकाल' नामक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उसकी रचना पदमावत के उपरांत नहीं हो सकती। अतः यहाँ पर केवल एक ही प्रमाण देकर हम छुट्टी लेना चाहते हैं। जायसी

१ मसनवी दुवलरानी व खिज्र खाँ (रसीद अहमद, अलीगढ़) ४२,४४

अखरावट के शैतान 'नारद' के विषय में कहते हैं—"ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहै सौं मैं हारा॥ प्रेम तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई॥......ना ओहि लेखे राति न दिना। करगह बैठि साट सो बिना॥" यह कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि उक्त जुलाहा महात्मा कबीरदास ही हैं। कबीरदास की निधन-तिथि के विषय में कुछ मतभेद है। पर सब से अंतिम तिथि सं० १५७५ में मानी जाती है जो सन् १५१८ ई० में पड़ती है—"संवत पंद्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन। माघ सुदी एकादशी रलो पवन में पवन"। पदमावत का रचनाकाल किसी भी दृष्टि से सन् ९२७ हि० अथवा सन् १५२० ई० के पहले नहीं जा सकता। अब तो यह स्पष्ट ही है कि अखरावट की रचना कबीर के जीवन-काल ही में हो रही थी। निश्चय ही यह समय पदमावत के पहले का समय है। अतः पदमावत तथा अखरावट की लिपि को एक ही मान लेने में किसी प्रकार की भी अड़चन या क्षति नहीं है।

जायसी ने अखरावट की रचना कबीरदास के ज्ञानचौतीसा के ढंग पर की है। कबीरदास के अक्षर ये हैं—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह ख। यह अंतिम ख संस्कृत का क्ष है जो बोल-चाल में ख और छ का रूप धारण कर लेता है। यह बात समझ में नहीं आती कि क्ष के स्थान पर ख का प्रयोग कबीर से कैसे हो गया, जब कि प्रत्येक अक्षर का शुद्ध रूप ही ज्ञानचौतीसा में लिया गया है। कुछ भी कारण हो, इससे हमारा प्रयोजन नहीं। हम तो केवल यही कहकर आगे बढ़ना चाहते हैं कि कबीर ने उन्हीं ३४ व्यंजनों को अपनाया है जिनको बौद्ध तथा जैन प्राकृत में मानते थे। परंतु जायसी ने अपने व्यंजनों की संख्या बढ़ाकर ३६ कर

दी है। इसका कारण यह है कि वे क्ष के दोनों रूप 'ख' और 'छ' लेते हैं और ज्ञ को भी अपने व्यंजनों में जोड़ लेते हैं। इस प्रकार जायसी की वर्णमाला में ३६ + १२ (व्यंजन स्वर) अर्थात् ४८ अक्षर हो जाते हैं। जायसी का यह ज्ञ भी प्राचीन काल से चला आता है। 'प्राचीन लिपिमाला' में पूज्य ओझा जी लिखते हैं "हुएनसंग अक्षरों की संख्या ४७ बतलाता है जो अ से ह तक के ४५ अक्षर हैं तो ऊपर लिखे अनुसार और बाकी दो अक्षर 'क्ष' और 'ज्ञ' होने चाहिएँ। बौद्ध और जैनों के प्राकृत ग्रंथों में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ इन चार स्वरों का प्रयोग नहीं होता है"। ध्यान देने की बात यही है कि जायसी भी उन्हीं व्यंजनों का प्रयोग करते हैं जो परंपरा से चले आते हैं। आजकल एक अक्षर 'त्र' और बढ़ गया है, जिसका प्रयोग जायसी ने नहीं किया है। इसके विषय में ओझा जी का कथन है—"वर्तमान 'त्र' में मूल घटक दोनों अक्षरों में से एक अर्थात् 'र' का चिह्न तो पहिचाना जाता है, परंतु 'त्' का नहीं, किंतु 'क्ष' और 'ज्ञ' में दोनों ही के मूल अक्षरों का पता नहीं रहा। इतना ही नहीं, 'ज्ञ' में तो वास्तविक उच्चारण भी नष्ट हो गया"। ओझा जी के कथन में हम इतना और जोड़ सकते हैं कि अब क्ष की भी कहीं कहीं कुछ वही दशा है। संभवतः जायसी के समय में 'त्र' एक स्वतंत्र व्यंजन नहीं, 'त्' और 'र' का संयोग (संयुक्ताक्षर) ही समझा जाता था।

जायसी में द्वितीय विचारणीय बात यह है कि वे 'ङ', 'ञ' और 'ण' के स्थान पर भी 'न' ही का उपयोग करते हैं। उनके दिए हुए अक्षरों में ५ 'न', ३ 'ख', २ 'ज' और २ 'छ' हैं। इस प्रकार वस्तुतः जायसी के व्यंजन ये हैं—क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, त थ द ध न, प फ ब भ म, र ल व स ह। जायसी ने वस्तुतः इन्हीं २७ व्यंजनों को लेकर अखरावट की रचना की। कबीर और

जायसी के चुनाव में मुख्य भेद यह है कि कबीर ने ष (ख) को छोड़कर शेष व्यंजनों का संस्कृत उच्चारण ही लिया है और जायसी ने उस समय का प्रचलित उच्चारण। यद्यपि पंडित-गण भी 'य' को 'ज' पढ़ लिया करते हैं तथापि इसका लोप कभी भी संभव नहीं था। 'यह' को 'जह' अब भी नहीं कहा जाता, हाँ, 'यदि' को 'जदि' कह देते हैं। 'ब' और 'व' का भी भेद प्राय: नहीं रह गया था—'वकारो बकारो भेदो नास्ति'—पर उसका व्यवहार 'य' की भाँति ही होता था। 'वह' का 'बह' कभी नहीं होता। जायसी ने अखरावट में 'य' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग कर दिया, पर वे 'व' को त्याग न सके। कारण यह जान पड़ता है कि ककहरा पढ़ते या पढ़ाते समय अब भी कुछ लोग 'य' को 'ज' कह जाते हैं परंतु 'व' को 'ब' नहीं कहते। निदान हम देखते हैं कि जायसी के ३६ व्यंजनों के केवल २७ ही रूप हैं।

अखरावट में जायसी एक स्थल पर اںس का भी प्रयोग करते हैं; पर वह اِس की दृष्टि से। जायसी के व्यंजनों का परिशीलन हो चुका। अब उनके स्वरों की पड़ताल आवश्यक जान पड़ती है। स्वरों का प्रयोग तो जायसी ने अवश्य ही किया होगा। विचार करने पर यह अवगत होता है कि स्वरों को लेकर कविता करने की परिपाटी न थी। कबीर ने भी व्यंजनों को ही पकड़ा है। अवधी अथवा हिंदी के स्वर संभवत: ये ही हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ। अनुस्वार और विसर्ग को लेकर जो 'अं' तथा 'अ:' निकल पड़े थे उनकी गणना प्राचीन काल ही से स्वरों में चली आती है। अस्तु, जायसी के भी स्वर १२ हैं।

बारहखड़ी की जो परिपाटी चली आती है उसकी दृष्टि से जायसी की वर्णमाला का निदर्शन हो चुका। पर जिज्ञासा की तृप्ति इतने ही से नहीं हो सकती। उसकी आँखों के सम्मुख 'ड़'

तथा 'ढ़' उपस्थित हैं। उन पर भी कुछ दृष्टि डालना अनिवार्य हो रहा है। विचित्र बात तो यह है कि हमारी वर्णमाला में व्यर्थ के 'ङ' एवं 'ञ' को स्थान दिया जाता है पर 'ड़' और 'ढ़' को नहीं। इस स्थल पर एक नया प्रश्न खड़ाकर हम विवाद में पड़ना उचित नहीं समझते। हमारा मंतव्य तो केवल 'ड़' तथा 'ढ़' पर कुछ विचार करने का ही है। 'ड़' तथा 'ढ़' के नीचे के बिंदु को देखकर यह अनुमान किया जा सकता था कि ये अरबी या फारसी के प्रसाद हैं। परंतु विचित्र बात तो यह है कि उन भाषाओं में टवर्ग होता ही नहीं। इन अक्षरों को देशज मान लेना भी युक्तिसंगत तभी कहा जा सकता है जब हम टवर्ग को ही देशज मान लें। बाबा आदम के समय में न जाकर हम इतना ही कह देना अलं समझते हैं कि 'ड़' तथा 'ढ़' स्वतंत्र व्यंजन नहीं जान पड़ते। हमारा अनुमान है कि ये क्रमशः 'ड' और 'ढ' के रूपांतर मात्र हैं। वैदिक काल से ही इनमें कुछ ध्वनि-परिवर्तन हो चला था। 'प्राचीन-लिपि-माला' में ओझा जी लिखते हैं—"ऋग्वेद में दो स्वरों के बीच के 'ड' का उच्चारण 'ळ' और वैसे ही आए हुए 'ढ' का उच्चारण 'ळह' होता है"। हमारी दृष्टि में इसी 'ळ' तथा 'ळह' का क्रमागत विकास 'ड़' तथा 'ढ़' है। अस्तु, 'ड़' तथा 'ढ़' वस्तुतः स्वतंत्र अक्षर नहीं थे, प्रत्युत धीरे-धीरे मुख-सुख के कारण स्वतंत्र वर्ण बन गए। अब भी इनका प्रयोग दो स्वरों के मध्य ही में प्रायः पाया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि जायसी की लिपि हिंदी थी और उसके अक्षर ये थे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः (नाममात्र) क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ (ड़, ढ़), त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व स ह। निस्संदेह, इन अक्षरों की रूप-रेखा उस समय यह न थी जो यहाँ पर देख रहे हैं। संभवतः उनके रूप का दर्शन आधुनिक कैथी

लिपि में ही गोचर हो सकता है, नागरी (हिंदी) में नहीं। हमारी समझ में यही कैथी लिपि उस समय की प्रचलित लिपि थी, जिसको आज कल भी लोग हिंदी ही कहते हैं। ग्रामीणों की दृष्टि में हिंदी तथा नागरी लिपि में भेद है। वे कैथी लिपि को ही हिंदी कहते हैं। उनका कथन अनुचित नहीं कहा जा सकता। कैथी नाम तो उस समय का ज्ञात होता है जिस समय कायस्थ लोग मुंशी और दीवानजी बन गए थे। लिखने का काम अधिकतर कायस्थ ही करते थे, अतः इस लिपि का नाम कैथी पड़ गया। वस्तुतः यह हिंदी के अंतर्गत ही है।

जायसी के समय में हिंदी का प्रचार था। उस समय में हिंदी-उर्दू का झगड़ा खड़ा कर मनमाना मुल्लापन का प्रदर्शन नहीं किया जाता था। होता भी कैसे, उर्दू का तो नाम भी न था। हाँ, यदि लाग-डाँट थी तो फारसी और हिंदी में। फारसी बेगम थी और हिंदी दासी। दोनों की पट न सकी। अंत में, अकबर के शासन-काल में हिंदी को हिंदू राजा टोडरमल के अनुरोध से सरकारी दफ़्तर छोड़ना ही पड़ा। इसका कारण धर्म नहीं कहा जा सकता, यह तो पद की लोलुपता थी। अपने कथन के पुष्टीकरण में हम श्रीयुत् रामबाबू सेक्सेना का यह वाक्य—"The public accounts formerly kept in Persian, were now written in Hindoy (Hindi) under the management of the Brahmin, who soon acquired great influence in his (Ibrahim Adil Shah 1580-1626) Government."[१] दे देना अनुचित नहीं समझते हैं। यह देखकर हर्ष होता है कि जिस समय में उत्तरापथ के हिंदू लोभ के कारण फारसी के भक्त हो रहे थे उसी समय में दक्षिण के बहमनी राज्य में हिंदी को फारसी

१ History of Urdu Literature.

का स्थान मिल रहा था। वहाँ का दफ्तर फारसी से हिंदी में हो गया। जायसी के समय में हिंदी का आदर था। शेरशाह के शासन-काल में "Each Pargana had a Shiqdar, an Amin, a Treasurer, a Munsif, a Hindi writer and a Persian writer, to write accounts.'[१] यही नहीं, शेरशाह की मुद्राओं पर भी उसको स्थान मिला था—"His silver rupees......often have the King's name in Nagri characters, in addition to the usual Arabic inscriptions."[२] और "The name of the King was variously spelt. e. g. Sri Ser Sahi (Agra), Sri Sar Sah (Gwalior); Sri Siri Sah."[३] अब तो स्पष्ट ही है कि उस समय धर्म का अर्थ अंधापन न था। मुसलमान दिल खोलकर हिंदी को अपनाते थे। उन्हें हिंदी से प्रेम था, घृणा नहीं।

अपनी समझ में पदमावत की लिपि के विषय में जो कुछ निवेदन करना था हम कर चुके। हम नहीं कह सकते कि वह कहाँ तक साधु है। पर जो लोग उसको फारसी लिपि में मानते हैं उनकी फारसी के अक्षर ये हैं— ا ب پ ت ث ج چ ح خ د ذ ر ز ژ س ش ص ض ط ظ ع غ ف ق ک گ ل م ن و ه ی (۳۲) इनमें से जायसी के काम के ا अ ب ब پ प ت त ث स ج ज چ च ح ह خ ख د द ر र ک क گ ग ل ल م म ن न و व ی य ف फ केवल १९ हैं। विचारणीय प्रश्न यह है कि शेष हिंदी के अक्षरों का समावेश जायसी ने किस प्रकार किया? जहाँ तक

---

१ A Short History of Muslim rule in India (Dr. Iswari Prasad) Page 333.

२ Imperial Gazeteer of India II. 145-46.

३ Sher Shah (Qanungo) Page 385.

हमारी पहुँच है वहाँ तक तो डाक्टर ग्रियर्सन का कथन कोरी कल्पना सिद्ध होता है। हमारी दृष्टि में तो ये महानुभाव प्रचलित उर्दू लिपि की शक्ति को देखकर तथा मुल्लापन का कट्टर विरोध ताड़कर ही ऐसी निराधार कल्पना करने में समर्थ होते हैं। अंत में, इस प्रश्न के संबंध में इतना और निवेदन कर देना हम अपना धर्म समझते हैं कि उर्दू की उत्पत्ति का कारण केवल लश्कर या छावनी ही नहीं है। हमारा तो अनुमान यह है कि शाहजहाँ के समय में इब्रानी अरबी, फारसी तथा हिंदी अक्षरों के मेल से लिखने की एक ऐसी लिपि प्रचलित हो पड़ी थी कि उसका व्यवहार प्रायः होने लगा, वह यहाँ की बोल-चाल को लिपिबद्ध करने में समर्थ होने लगी और उसी समय उसका नाम उर्दू पड़ गया। उर्दू लिपि में उसके अनंतर कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" का समय इसके उपयुक्त ही था। अस्तु, यदि पदमावत की कुछ प्रतियाँ प्राचीन समय, सन् १६९५ ई० की मिल जाती हैं तो उनसे यह निष्कर्ष निकाल लेना कि जायसी ने स्वतः उसको फारसी लिपि में लिखा था, बड़े ही साहस का काम है। अब भी यदि किसी को इस विषय में संदेह हो और धर्म की बाधा उत्पात मचाती हो तो उसे टर्की के 'कमाल' के पास जाना चाहिए। वहाँ पर सब संदेह काफूर हो जायगा।

जायसी की हिंदी लिपि का प्रतिपादन करने के उपरांत अब हम अपने पुराने प्रश्न 'पदमावत के रचना-काल' पर आते हैं। हम कह ही चुके हैं कि पदमावत के रचना-काल के विषय में जो मतभेद कहा जा सकता है वह दो और चार पर अवलंबित है। हमारी समझ में तो इस मतभेद के मूल में कुछ तथ्य नहीं है; क्योंकि इसका कारण गंभीर विवेचन नहीं, 'शाहेवक्त' की वंदना है। यद्यपि हमारी धारणा यही है कि विद्वानों ने 'शाहेवक्त' के अनुरोध

से ६२७ के स्थान पर ६४७ मान लिया है तथापि हम इस प्रश्न पर भली भाँति विचार करना उचित समझते हैं। कारण यह है कि हिंदी के धुरंधर विद्वानों ने इसी सन् को संगत ठहराया है। हमारी दृष्टि में इसके प्रचारक भी ग्रियर्सन साहब ही हैं। वे लिखते हैं—"Malik Muhammad's poem was written in 1540 A. D." कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 1540 A. D. "सन नौ सै सैंतालीस अहा" का ही रूपांतर है, जिसका कारण "सेरसाह देहली सुलतानू" जान पड़ता है।

शेरशाह के विषय में कुछ निवेदन करने के पहले ही पदमावत के 'अथ' से परिचित हो लेना आवश्यक हो रहा है। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना अनुचित नहीं समझते कि इस विषय में हम कोरे अनुमान ही से काम ले रहे हैं। अत: संभव है, अधिक संभव है कि हम भयंकर भूलें कर बैठें। पदमावत के 'श्रीगणेश' पर विचार करने के पूर्व ही उस बाधा से सावधान हो जाना चाहिए जो प्राय: क्षेपक के कारण पड़ा करती है। हम जानते हैं कि पदमावत में क्षेपक की कल्पना बहुत ही कम की जाती है, पर हमारा अनुमान है कि उसमें इस कल्पना के पनपने के लिये पर्याप्त सामग्री है। शुक्लजी ने एक स्थल पर इस ओर संकेत भी कर दिया है। उनका कथन है—"अब या तो यह मानें कि समुद्र का दिया हुआ रत्न या द्रव्य सब रास्ते में खर्च या नष्ट हो गया अथवा यह मानें कि समुद्र से पाँच वस्तुओं के अतिरिक्त द्रव्य मिलने का प्रसंग प्रक्षिप्त है।"[१] जिस विरोध के कारण शुक्लजी उक्त निष्कर्ष पर पहुँचते हैं यदि वह विरोध अन्यत्र दुर्लभ होता तो हम भी शुक्लजी की बात मान लेते। हमारी समझ में तो ऐसे विरोध जायसी में भरे पड़े हैं। कदाचित्, कारण यह है कि एक तो जायसी अपनी अलौकिक

१ जायसी ग्रंथावली पृ० १५४।

भावना में प्रकृत विषय को भूल जाते हैं, दूसरे अपनी जानकारी के विज्ञापन में बहँक जाते हैं। कुछ भी हो, उदाहरणों की कमी नहीं है। वे एक ओर तो अलाउद्दीन के पक्ष में देवगिरि तथा उदयगिरि को रखते हैं और दूसरी ओर फिर उन्हीं को रत्नसेन के पक्ष में—"कँवरु, कामता औ पिंडवाए। देवगिरि लेइ उदयगिरि आए" तथा "काँप उदयगिरि, देवगिरि डरा। तब सो छपाइ आपु कहँ धरा॥" इतना ही नहीं उस कुंभलनेर के राजा को भी रत्नसेन के पक्ष में कह जाते हैं जिसके विषय में वे स्वयं कहते हैं "कुंभलनेर राय देवपालू। राजा केर शत्रु हिय सालू॥ वह पै सुना कि राजा बाँधा। पाछिल बैर सँवरि छल साधा॥" समझ में नहीं आता कि यही कुंभलनेर का राजा, जो पद्मावती के पास दूती भेजता है, रत्नसेन के साथ—"चितउरगढ़ औ कुंभलनेरै। साजे दूनौ जैस सुमेरै"-कैसे आ गया है। कभी कभी तो वर्णन करते करते जायसी कहीं से कहीं चले जाते हैं। पद्मावती के रूप-वर्णन में एक स्थल पर कहते हैं—"बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं।" तो फिर उसी वर्णन में कुछ ही पद्यों के उपरांत यह कह बैठते हैं—" खाँडै धार रुहिर जनु भरा। करवत लेइ बेनी पर धरा।" एक बात और है। पदमावत का प्रचार भी उतना नहीं हो सका कि उसमें क्षेपक की संभावना की जा सके। "सबदी, साखी, दोहरा, कहि कहनी उपखान" से चिढ़नेवाले तुलसी के 'मानस' की बात और ही है।

पदमावत के अध्ययन से यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि वह एक ही काल की रचना नहीं है। उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है। परंतु यह परिवर्त्तन, जहाँ तक हम समझ सके हैं—'स्तुति खंड' ही में है। यह 'स्तुति खंड' ही हमारे विवेचन का केंद्र है। उस पर उचित ध्यान देना चाहिए। हम इस संपूर्ण खंड को ग्रंथ की

'इति' के उपरांत की रचना मानने में असमर्थ हैं। "सिंहलद्वीप कथा अब गावौं। औ सो पदमिनि बरनि सुनावौं" का 'अब' ही हमें लाचार करता है। परंतु हम इस खंड को सर्वथा आदि की रचना भी नहीं कह सकते। "जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" का 'कीन्ह' ही हमें ऐसा कहने से दृढ़ता-पूर्वक रोकता है।

हाँ, तो सिंहलद्वीप के 'अमराउ' के वर्णन में जायसी कहते हैं—
"फरे आम अति सघन सुहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए॥
खिरनी पाकि खाँड असि मीठी। जामुन पाकि भँवर अस दीठी॥...
पुनि महुवा चुव अधिक मिठासू। मधु जस मीठ, पुहुप जस बासू॥"
अब विचारणीय बात यह है कि जायसी के इस वर्णन से प्रस्तुत प्रश्न पर कहाँ तक प्रकाश पड़ता है। जायसी स्वयं कहते हैं "अस अम-राउ सघन घन बरनि न पारौं अंत। फूलै फरै छवौ ऋतु जानहु सदा वसंत॥" पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट जान पड़ता है कि यह ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है। दूसरी बात यह है कि रत्नसेन का पयान भी इसी ग्रीष्म ऋतु में होता है—"ग्रीसम जरत छाड़ि जो जाई। सो मुख कौन दिखावै आई।" संभवत: रत्नसेन ने दशहरे को घर छोड़ा था—"दसवँ दावँ कै गा जो दशहरा। पलटा सोइ नाव लै महरा।" पर इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालने में कि यही ग्रंथ के आरंभ का समय है यह बाधा उपस्थित होती है कि जायसी ने प्रेमाधिक्य के कारण उसी समय में रत्नसेन से प्रस्थान करा दिया हो—"प्रेम-पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा।" ठीक है, पर जब हम इस प्रस्थान में क्रमश: ये वर्णन—"सघन ढाँख-वन चहुँ दिसि फूला। बहु दुख पाव उहाँ कर भूला॥ चलि दस कोस ओस तन भीजा। काया मिलि तेहि भसम मलीजा॥ बन अँधियार, रैनि अँधि-यारी। भादों बिरह भएउ अति भारी" पढ़ते हैं तब हमारे हृदय में यह

बात नहीं बैठती कि जायसी ने ऐसा असंबद्ध वर्णन कैसे कर दिया। हमारे विचार में इस गड़बड़ी का कारण यह है कि जायसी ने कथा का आरंभ ग्रीष्म ऋतु में कर दिया था। उन्होंने प्रसंगवश, कथा के अनुसार, भादों का वर्णन तो कर दिया पर उस समय वसंत-काल था, जिसका वर्णन जायसी झोंक में कर जाते हैं। यह उनका स्वभाव सा है। किंतु, यदि हम इस अनुमान को ठीक भी मान लें तो भी हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। कारण यह है कि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह वर्णन उसी वर्ष का है। अतः हम इस प्रकार के वर्णन के विवेचन में समय नष्ट न कर केवल इतना ही कहकर संतोष करते हैं कि हमारी समझ में पदमावत का आरंभ ग्रीष्म ऋतु में, संभवतः दशहरा को ही हुआ। यदि हमारा यह अनुमान ठीक है तो उस समय शेरशाह 'देहली सुलतानू' नहीं था। वह तो अगस्त के लगभग दिल्ली में पहुँचता है। अतः इस दृष्टि से सन् ९४७ हि० को ठीक मानना उचित नहीं जान पड़ता।[1]

---

1 ता० १० मुहर्रम हि० स० ९४७ (ता० १७ मई ई० स० १५४०) शेरशाह ने हुमायूँ को दूसरी बार कन्नौज के निकट हराया तब से ही हुमायूँ राज्यच्युत होकर आगरा लाहौर आदि की तरफ भागता फिरा और दिल्ली के सिंहासन का स्वामी शेरशाह हुआ। उसने हुमायूँ का खटका मिटाकर ता० ७ शव्वाल हि० स० ९४८ (ता० २५ जनवरी ई० स० १५४२) में अपनी गद्दीनशीनी का उत्सव किया था। जायसी ने हि० स० ९४७ के कौन से महीने में पद्मावत का प्रारम्भ किया यह तो लिखा ही नहीं। उक्त सन् के पहले महीने में ही शेरशाह दिल्ली के राज्य का स्वामी बन चुका था। ऐसी दशा में जायसी उक्त सन् में शेरशाह को दिल्ली का सुलतान कहे यह स्वाभाविक बात है। 'स्तुति-खंड' पीछे से लिखा गया, मानना भी कल्पनामात्र है। दूसरे अर्थात् सिंहलद्वीप वर्णन खंड के प्रारम्भ में ही वह लिखता है कि "अब मैं सिंहलद्वीप की कथा गाता हूँ" जिससे स्पष्ट है कि पहले अर्थात् स्तुति-खंड के समाप्त करने के पश्चात् उसने द्वितीय खंड लिखना प्रारम्भ किया था। कई

अब हम अपने विवेचन के मुख्य भाग 'स्तुति-खंड' में आते हैं। हम यह कह ही चुके हैं कि जायसी के जीवन तथा पदमावत के रचना-काल की दृष्टि से यही खंड मर्मस्थल है। अतः इसका बहुत ही गंभीर विवेचन अपेक्षित है।

अब तक जो कुछ कहा गया है उसका अधिकतर आधार "सन नव सै सैंतालीस अहा" था, जो केवल एक पक्ष कहा जा सकता है। अतः अब कुछ दूसरे पक्ष "सन नव सै सत्ताईस अहा" पर भी विचार कर लेना परम आवश्यक हो गया है। 'मिश्रबंधु-विनोद' के लेखकों का कथन है—"पदमावत में यह लिखा है कि वह सन् ९२७ हि० में आरंभ की गई जो संवत् १५७५ में पड़ता है, परंतु उस समय के बादशाह का नाम इन्होंने यों कहा है कि "सेरसाह दिल्ली सुलतानू। चारिउ ओर तपा जस भानू"। बादशाह के नाम लिखने की यह आवश्यकता पड़ी कि फ़ारसी-नियमानुसार ग्रंथ बनाने में खुदा रसूल और खलीफाओं की स्तुति करके उस समय के बादशाह की भी तारीफ की जाती है। शेरशाह संवत् १५९६ में गद्दी पर बैठा था और संवत् १६०० में उसका देहांत हुआ। इस हिसाब से २२, २३ साल का गड़बड़ दीखता है। जान पड़ता है कि जायसी ने कथा का बनाना संवत् १५७५ में आरंभ कर दिया था और फिर ग्रंथ समाप्त हो जाने पर शेरशाह के समय में उसकी वंदना बनाई। उसके प्रभाव के आधिक्य से जान पड़ता है कि यह ग्रंथ शेरशाह के अंतिम संवत् में समाप्त हुआ। खोज सन् १९०३ से पदमावत का रचनाकाल १५९५ आता है। कदाचित् इस अंतर का कारण सन् ९२७ हिजरी-विषयक पाठभेद है। हमारी प्रति में रचना-काल

संस्कृत ग्रंथकर्ता भी अपने ग्रंथ के प्रारम्भ या समाप्ति के संवत् के साथ उस समय के अपने यहाँ के राजा के नाम का उल्लेख करते हैं। ऐसा ही जायसी भी किया है [सं०]।

सन् ६२७ हिजरी है।"[1] यह तो कहना व्यर्थ ही होगा कि 'विनोद' की बातें विनोद की ही हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्वयं ही व्यक्त हो जाता है कि लेखकों ने सन् ६२७ हिजरी को इसी लिये माना है कि वे उसको मान चुके हैं। उस पर उठती हुई आपत्तियों का समाधान करना तो दूर रहा, प्रत्युत उनको और भी बढ़ावा दिया गया है। उनके दिए गए संवत् भी प्रायः अशुद्ध हैं। यही नहीं, उन्होंने "सेरसाहि देहली सुल-तानू। चारिउ खंड तपै जस भानू" का "सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ और तपा जस भानू" करके अपने पक्ष को—यदि कहा जा सकता है—और भी निर्बल बना दिया है। यदि उनकी दृष्टि में 'तपा' का अर्थ 'तपा हुआ है' होता तो वे 'तपै' का ही प्रयोग करते। खैर, उनकी बातें यहीं पर छोड़कर हम आगे बढ़ते हैं और इतना कह देना असंगत नहीं समझते कि स्थूल दृष्टि होने पर भी उनका तीर लग गया है।

इधर-उधर की सामान्य बातों को तिलांजलि दे अब विवाद-ग्रस्त पद्य ही को खरी कसौटी पर कसना अनिवार्य हो गया है। वह पद्य यह है—"सन नव सै सैंतालीस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।" 'अहा' और 'कहा' पुकारकर कह रहे हैं कि जायसी भूतकाल की बातें कर रहे हैं, वर्तमान की नहीं। "कथा अरंभ बैन कवि कहा" से यह स्पष्ट भी है कि यह ग्रंथ के आरंभ का समय है। अब प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि जब जायसी ने सन् ६४७ हिजरी में कथा का आरंभ कर दिया तब उन्होंने शेरशाह की वंदना किस समय में की?

हम पहले ही कह चुके हैं कि समूचे स्तुति-खंड को—जो एक प्रकार से वंदना ही है—हम बाद की रचना नहीं कह सकते हैं।

[1] मिश्रबंधु-विनोद (प्रथम भाग) २५५, २५६।

हम अपने कथन के पुष्टीकरण में इसी खंड की सहायता लेना अधिक उपयुक्त समझते हैं। ध्यान देकर देखने से यह स्पष्ट गोचर होता है कि इस 'स्तुति-खंड' में भूतकाल तथा वर्तमानकाल दोनों ही का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। जायसी के कुछ ही दिन बाद तुलसी का उदय होता है। वे भी अपने 'मानस' की भूमिका में दोनों ही कालों का प्रयोग करते हैं—"संवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥ नौमी भौम बार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥" तथा "विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥ रामचरितमानस यहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ विस्रामा॥" चिंतन करने के उपरांत दोनों का भेद स्वयं ही अवगत हो जाता है। तुलसीदासजी 'हरि-पद' की वंदना कर कथा का आरंभ करने के पहले ही इसका गुण-गान कर देते हैं, जिसके कारण हम कथा सुनने के लिये उत्सुक हो जाते हैं। इसी उत्सुकता की तृप्ति के लिये वे कह बैठते हैं कि मैंने उस विमल कथा का आरंभ कर दिया जिसके लिये तुम लोग लालायित हो रहे हो। अतः उनके वर्णन में क्रमिक विकास है, विरोध नहीं। पर जायसी में यह बात नहीं है। लिखने को तो वे भी कुछ इसी ढंग की बातें लिखते हैं—"सन नौ सै सैंतालिस अहा। कथा अरंभ बैन कबि कहा॥ जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥ आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥" अवश्य ही, जायसी के 'अहा' तथा 'अहै' में वह संबंध नहीं है जो तुलसी के 'करौं' और 'कीन्ह' में है। तो क्या इसमें कुछ रहस्य है?

यह तो स्पष्ट ही है कि इस रहस्य को समझाने में 'विनोद' की यह सम्मति—"ग्रंथ समाप्त हो जाने पर शेरशाह के समय में उसकी वंदना बनाई"—असमर्थ है। सबसे बड़ी आपत्ति तो इस

कथन में यह है कि जब लेखकगण स्वयं ही यह कहते हैं कि शाहेवक्त की प्रशंसा नियमानुसार है तब जायसी ने इस नियम का उल्लंघन क्यों किया? यदि 'उसकी' का अर्थ 'ग्रंथ की' लेते हैं तो उनका पक्ष और भी दुर्बल पड़ जाता है। जायसी की भूल मान लेने पर भी प्रस्तुत प्रश्न बना ही रह जाता है। सच बात तो यह है कि इसका समुचित समाधान करना अत्यंत कठिन काम है। अतः हम 'विनोद' को छोड़कर कुछ स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहते हैं।

जायसी का नियम है कि वे दो दोहों के बीच में ७ चौपाइयों का प्रयोग करते हैं, अथवा ७ चौपाइयों के उपरांत एक दोहा लिख देते हैं। जायसी कभी भी इस नियम का उलंघन नहीं करते। इस दृष्टि को सामने रख जब हम इस खंड की अंतिम सात चौपाइयों पर ध्यान देते हैं तब कुछ विचित्र बातें सामने आ जाती हैं। जायसी एक स्थल पर यदि "सन नौ सै सैंतालीस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा॥" कहते हैं तो दूसरे स्थल पर वे ही फिर कहते हैं—"आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥" इस 'अहा', 'अहै' तथा 'कहा', 'कहै' की उलझन को किस प्रकार सुलझाया जाय, यही प्रश्न है। इसमें तो संदेह नहीं कि "लिखि भाषा चौपाई कहै" आदि की रचना है, बाद की कदापि नहीं। पर "कथा अरंभ बैन कवि कहा" का ठीक ठीक अर्थ व्यक्त नहीं हो पाता है। 'मानस' में इस स्थल पर वर्तमान काल है। पदमावत में भी किसी किसी ने 'अहा' और 'कहा' का 'अहै' और 'कहै' कर दिया है। ग्रियर्सन साहब की 'सुधाकर-चंद्रिका' में 'अहे' और 'कहे' का प्रयोग किया गया है, पर अर्थ 'था' और 'कहा' ही किया गया है। यह कथन कथा की समाप्ति तथा आरंभ दोनों ही में कहा जा सकता है। आरंभ का मान लेने में अड़चन यह

पड़ती है कि 'आरंभ बैन' से इस समय तक पर्याप्त काल व्यतीत नहीं होता; और तुलसीदास भी इसी स्थिति या अवसर पर वर्तमानकाल का प्रयोग करते हैं। दूसरी ओर जब हम इसको कथा की समाप्ति पर की रचना मानते हैं तब चौपाइयों की संख्या में व्यतिक्रम पड़ जाता है। आशा है कि इस प्रश्न का समाधान आगे चलकर हो जायगा।

जायसी का एक और प्रसिद्ध पद्य है, जिसका संबंध प्रस्तुत पद्य से बहुत ही गंभीर है। हम उस पर विचार करना परम आवश्यक समझते हैं। वह पद्य यह है—"जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू॥" जायसी की भाँति ही तुलसीदास भी अपने 'मानस' में लिखते हैं "नौमी भौम बार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।" पर जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, इस 'कीन्ह' और उस 'प्रकासा' में बड़ा भारी अंतर है। उस 'प्रकासा' से एक ओर तो स्वयं रामचंद्रजी का प्रकाश हो रहा है और दूसरी ओर मासा के तुक पर उसका अर्थ प्रकाशित हो रहा है। पर जायसी के यहाँ तो शुद्ध कीन्ह है। अवश्य ही यह पंक्ति बाद की रचना है। "औ विनती पंडितन सन भजा" से भी कुछ यही प्रमाणित होता है।

यहाँ पर लगे हाथों एक और प्रश्न पर विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। कवि कहता है "जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू॥" सबसे प्रथम प्रश्न तो यह उठता है कि कवि जायस को 'धरम अस्थानू' क्यों कहता है? जब हम जायस के अर्थ पर विचार करते हैं तब वह विलास (عیش) का घर (جا) ठहरता है। उसका रंग-ढंग भी कुछ इसी बात का पोषण करता है। आज-कल तो लोग उसका नाम लेना भी उचित नहीं समझते, 'बड़का शहर' के नाम से उसे याद करते हैं। पर यह हमारा मुख्य विषय नहीं है। अतः केवल "तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू" पर

ही ध्यान देना हमको अभीष्ट है। यहाँ पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि जायसी ने पदमावत का आरंभ भी जायस में किया अथवा नहीं ? हिंदी के विद्वानों ने इस पद्य के आधार पर यह तो निश्चित कर लिया है कि जायसी वस्तुतः जायस के निवासी नहीं थे; वे कहीं अन्यत्र से जाकर वहाँ पर बस गए थे। पर इस विषय पर उन लोगों ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया कि स्वयं पदमावत की उस समय क्या दशा थी। शुक्लजी का कथन है—"परंपरा से प्रसिद्ध है कि एक चेला अमेठी (अवध) में जाकर इनका नागमती का बारहमासा गा गाकर भीख माँगा करता था। एक दिन अमेठी के राजा ने उस बारहमासे को सुना। उन्हें वह बहुत अच्छा लगा, विशेषतः उसका यह अंश—"कँवल जो विगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ। सूखि बेलि पुनि पलुहै, जो पिउ सींचै आइ ॥" राजा उस पर मुग्ध हो गए। उन्होंने फकीर से पूछा "शाहजी ! यह दोहा किसका बनाया है ?" उस फकीर से मलिक मुहम्मद का नाम सुनकर राजा ने बड़े सम्मान और विनय के साथ उन्हें अपने यहाँ बुलाया। तब मलिक मुहम्मद जायस में आकर रहने लगे और वहीं पर इन्होंने पदमावत समाप्त की।" शुक्लजी के इस अवतरण से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जिस समय जायसी जायस में आए उस समय पदमावत की रचना आरंभ हो चुकी थी। आरंभ ही क्यों ? कम से कम वहाँ तक बन भी चुकी थी जहाँ पर उक्त दोहा मिलता है। "तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू" से भी कुछ ऐसा ही ध्वनित होता है। यदि यह ठीक है तो ग्रियर्सन साहब का यह कथन "He studied Sanskrit Prosody and Rhetoric from Hindu Pandits at Jayas." अक्षरशः असत्य है। इस प्रश्न का अधिकतर संबंध जायसी के जीवन से है, अतः हम इसको उनकी जीवनी के लिये ही छोड़ देते हैं।

पदमावत के रचना-काल के विषय में जो मत-भेद चल पड़ा है उसका मुख्य कारण शेरशाह की वंदना है। शेरशाह के प्रति जायसी की जो सहानुभूति है उसका कारण 'शाहेवक्त' की प्रशंसा में नहीं छिप सकता। विद्वानों को उसकी खोज करनी ही पड़ेगी। हम यह जानते हैं कि कवियों ने सड़े-गले व्यक्तियों की प्रशंसा का पुल बाँधकर विधि को भी चकरा दिया है। परंतु हम यह भी कहने के लिये तत्पर हैं कि "कीन्हे प्राकृत-जन-गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना॥" हमें स्मरण है कि यह जायसी का सिद्धांत नहीं है, तुलसीदास का है। पर हमने यहाँ पर इसको उद्धृत कर इसके गौरव को कम नहीं किया है। विश्वास न हो तो जायसी का कथन सुनिए—"चहै लच्छि बाउर कबि सोई। जहँ सुरसती, लच्छि कित होई!" "कबिता-संग दारिद मतिभंगी। काँटै-कूँट पुहुप के संगी॥ कवि तौ चेला बिधि गुरु, सीप सेवाती-बुंद। तेहि मानुष कै आस का, जो मरजिया समुंद?" अस्तु, जायसी ने जो कुछ शेरशाह के विषय में लिखा है वह लीक पीटने के विचार से अथवा किसी लोभ विशेष से नहीं। वह तो उनके भावुक हृदय का शुद्ध उद्‌गार है। इतिहासज्ञों की दृष्टि मे शेरशाह उस प्रशंसा का पात्र था। अतः हम जायसी के इस कथन में भी सत्य का आभास पाते हैं और उसको विवेचन का आधार भी बनाने जा रहे हैं। शेरशाह की अंतरात्मा छटपटाकर कहती है—"Alas, that I have attained the empire only, when I have reached old age, and when the time for evening prayer has arrived. Had it been otherwise, the world would have seen what I would have accomplished. I would have made a bridge to span the ocean and have so contrived, that even a widowed and helpless

woman might without difficulty perform the pilgrimage to Mecca."[१] जब तुलसीदास सा महात्मा टोडर को खोकर उसकी प्रशंसा में कुछ कह बैठता है तब जायसी सा सूफी शेरशाह को पाकर क्यों न झूम पड़े और उसकी प्रशंसा में कुछ कह उठे।

शेरशाह के व्यक्तित्व के विषय में कुछ कहना व्यर्थ ही है। वह तिनके से पहाड़ हो गया था। उसके राज्याभिषेक के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कानूनगो जी का निष्कर्ष है—"Thus we find that the ceremony took place at Gaur about the beginning of December, 1539 A. D."[२] किंतु हमारा काम इस निष्कर्ष से नहीं निकलता। हमारा शेरशाह 'देहली सुलतान' है, केवल गौड़ का नहीं। शेरशाह ने हिमायूँ को कन्नौज में १० वीं मुहर्रम सन् ६४७ हिजरी या १७ वीं मई सन १५४० ई० को हराया। विजयी शेरशाह ने हिमायूँ का पीछा किया। वह कुछ दिनों तक आगरे में रहा, फिर दिल्ली की ओर बढ़ा। पर उसी समय उसको दिल्ली की बागडोर प्राप्त न हो सकी, यद्यपि वह राज करता रहा। हिमायूँ का खटका तो उसको बराबर बना रहा। अंत में जब मालदेव ने भी हिमायूँ की सहायता नहीं की और वह बचकर काबुल की ओर चला गया तब शेरशाह दिल्ली का पक्का सुलतान हो गया। संभवत: इसी को ध्यान में रखकर स्मिथ साहब ने शेरशाह का राज्याभिषेक-काल सन् १५४२ ई० में माना है। वस्तुत: शेरशाह की राजगद्दी का समय स्मिथ साहब ने दो दिया है, पर दो दृष्टियों से। दिल्ली का बादशाह तो शेरशाह सन् १५४२ ई० में हुआ है और बिहार तथा बंगाल का सन् १५३६ ई० में।

१ Bengal in The Sixteenth Century.

२ Sher Shah (Qanungo) Page 208.

हमारा अनुमान यह है कि इस राज्याभिषेक के उपरांत ही जायसी ने शेरशाह की वंदना की और उसको पदमावत में स्थान दिया। संभव है कि उसके उपलक्ष्य ही में यह वंदना बनी हो। हम अपने अनुमान के पुष्टीकरण में इस वंदना से ही कुछ प्रमाण संग्रह करना चाहते हैं। हमारी धारणा है कि इसमें पर्याप्त सामग्री है। हमारी समझ में तो जायसी शेरशाह के मित्र भले ही न रहे हों, पर परिचित तो अवश्य ही थे। जायसी के जीवन का अधिकांश भोजपुर प्रांत ही में व्यतीत हुआ जान पड़ता है। शेर-शाह के पिता मियाँ हसन ही यदि कुतुबन के हुसेनशाह हैं तो यह अनुमान और भी दृढ़ हो जाता है। इस प्रश्न का संबंध भी विशेषत: जायसी की जीवनी ही से है। अत: इसको यहीं छोड़कर मुख्य प्रश्न पर विचार करना ही अधिक संगत जान पड़ता है।

शेरशाह की वंदना का सामान्य अवलोकन करने के उपरांत जो हृदय पर एक प्रकार की छाप पड़ जाती है वह प्राय: यही होती है कि शेरशाह उस समय का एक प्रतापी राजा था और उसकी धाक उस समय चारों ओर जम चुकी थी। इसी सामान्य प्रभाव के आधार पर मिश्रबंधु यह कल्पना करते हैं कि यह वंदना शेरशाह के अंतिम समय में बनी है। उनके विचार से शेरशाह का अंतिम संवत् १६०० है। शुद्ध समय की दृष्टि से यह संवत अशुद्ध है। शेरशाह का परलोक-गमन संवत् १६०२ सिद्ध है—"He calmly yielded his life to the Giver of life on Saturday evening, 10 Rabi I. 252 A. H. (22nd May, 1545 A. D.)"[1] अब विचारणीय विषय यह है कि यह वंदना किस समय में बनी?

जायसी शेरशाह पर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं—"दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज। बादशाह तुम जगत के जग

१ Sher Shah (Qanungo) Page 341.

तुम्हार मुहताज ॥" जान पड़ता है कि जायसी हमारी आँखों के सामने ही शेरशाह को हाथ उठाकर आशीर्वाद दे रहे हैं। इस 'दीन्ह' तथा 'तुम' पर ध्यान दीजिए। आगे चलकर कवि शेरशाह की शक्ति का वर्णन बड़े ही मार्मिक शब्दों में करता है और कहता है "जो गढ़ नएउ न काहुहि चलत होइ सो चूर। जब वह चढ़ै भूमिपति सेर-साहि जग सूर॥" हमको पता है कि शेरशाह के जीवन का अंत ही युद्ध में हुआ। अतः यह कथन उसके जीवन के अंतिम क्षण तक ठीक उतरता है। पर इसी से इस वंदना का रचना-काल उसके जीवन का अंतिम वर्ष ही नहीं माना जा सकता। "रूप सवाई दिन दिन चढ़ा। विधि सुरूप जग ऊपर गढ़ा॥" बहुत पहले भी कहा जा सकता था। कवि शेरशाह को दानवीर भी बनाता है और एक स्थल पर कहता है "हाथ सुलेमाँ केरि अँगूठी। जग कहँ दान दीन्ह भरि मूठी॥" इस 'दीन्ह' से हमें कुछ ऐसा भान होता है कि इसका संकेत किसी विशेष समय के दान से है। कारण यह है कि कवि इसका वर्णन "दातार" बनाने के पहले ही भूतकाल में करता है। दानवीर तो बराबर दान देते ही रहते हैं, उनकी दानशीलता का वर्णन, यदि जीवित हों, वर्तमान काल में होता है। जायसी स्वयं ही ऐसा करते हैं "सेरसाहि सरि पूज न कोऊ। समुद सुमेर भँडारी दोऊ॥ दान डाँक बाजै दरबारा। कीरति गई समुंदर पारा॥" इतिहास इस बात का साक्षी है कि जायसी का यह कथन सत्य से वंचित नहीं है। हमारी समझ में इस वंदना का समय सन् १५४२ ई० है। इस निष्कर्ष तक पहुँचने का एक और दृढ़ आधार है। शेर-शाह ने जो कुछ किया उसकी महिमा पढ़े-लिखे लोग ही जानते हैं। परंतु उसकी एक ऐसी लीक है जिसको सभी लोग देखते ही नहीं उस पर चलते भी हैं। उसकी प्रसिद्ध सड़कों को कौन नहीं जानता? कानूनगो जी का कथन है—"The most permanent among

the monuments of Sher Shah's glory are his great roads, which have kept his memory still green in the minds of his country-men." यही नहीं "These roads and Sarais were essential to the success of Sher Shah's administration." क्योंकि "In every Sarai he built separate quarters both for Hindus and Musalmans, and at the gate of every Sarai he had placed pots full of water, that any one might drink, and in every Sarai he settled Brahmans for the entertainment of Hindus."[१] हमारा जी अब तो यही कहता है कि यदि जायसी शेरशाह की वंदना उस समय बनाते जब ये सड़कें बन चुकी थीं तो इनका वर्णन किसी न किसी रूप में अवश्य ही करते। अस्तु, हमारा निष्कर्ष यह है कि जायसी ने शेरशाह की वंदना की रचना सन् १५४२ ई० में की।

हम शेरशाह की वंदना पर जितना ही अधिक विचार करते हैं उतना ही हमारा संदेह "सन नव सै सैंतालीस अहा" की साधुता पर बढ़ता जाता है। सन् ९४७ हिजरी का जीवन-काल ८ मई सन् १५४० ई० से २६ अप्रैल सन् १५४१ ई० तक था। निस्संदेह यह वर्ष शेरशाह के जीवन का सबसे सुंदर वर्ष था। इस वर्ष के मुहर्रम ने शेरशाह को चमका दिया, हिमायूँ को भगा दिया। क्या ही अच्छा होता, यदि यही समय पदमावत के आरंभ का भी सिद्ध हो जाता। पर करें क्या, हमारे प्रमाण तो इसके प्रतिकूल पड़ जाते हैं। फिर भी यह देखकर हमको संतोष होता है कि इस समय तक पदमावत समाप्त हो गई होगी; और इसका लाभ हिंदी-साहित्य को उसी रूप में हुआ होगा जिस रूप में कि शेरशाह को दिल्ली का

---

१ Sher Shah (Qanungo) Page 388-90.

राज्य। कहते हैं कि आदि से अंत का सुंदर होना अधिक मंगलप्रद होता है।

अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उससे यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि पदमावत का रचना-काल सन् ९४७ हिजरी या सन् १५४० ई० मानना उचित नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक हमसे बन पड़ा है हमने इसको निराधार तथा तथ्यहीन सिद्ध करने का साहस किया है। सच बात तो यह है कि यह विषय इतना गंभीर कदापि न था कि हम इस पर एक स्वतंत्र निबंध लिखने बैठ जाते। हम पहले ही कह चुके हैं कि यह 'दो और' 'चार का झगड़ा व्यर्थ ही खड़ा कर दिया गया है; इसके मूल में कुछ भी तथ्य नहीं है। परंतु जब यह प्रश्न छिड़ ही गया है तब इसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। अतः कुछ "सन नव सै सत्ताइस अहा" पर भी प्रकाश डालना कर्तव्य हो गया है।

खोज के परम उपासक बाबू श्यामसुंदरदास पदमावत के निर्माण-काल पर विचार करते समय लिखते हैं कि "अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर को पदमावत बहुत प्रिय थी। इन्होंने अपने आश्रित एक 'आलोउजालो' नामक कवि से पदमावत का अनुवाद बँगला में कराया। अनुवाद बहुत ही उत्तम हुआ है। उस अनुवाद की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं जिनमें पदमावत का निर्माण-काल यों मिलता है—"शेख मुहम्मद जति, जखन रचिल ग्रंथि संख्या सप्तविंश नव शत"। इसका अर्थ होगा कि शेख मुहम्मद ने जब ग्रंथ की रचना की उस समय सन् था "नौ सौ सत्ताईस"। यह अनुवाद संवत् १७०० के लगभग हुआ था"। प्रस्तुत अवतरण से यह तो प्रकट ही है कि इस अनुवादक ने "सन नौ सौ सत्ताईस अहा" का ही अनुवाद किया है। यदि यह अनुवाद संवत् १७०० के लगभग का है तो इसका प्रमाण आधुनिक प्रतियों से अधिक

मान्य है। ग्रियर्सन साहब ने इस बात का उल्लेख कुछ भी नहीं किया है कि उनकी प्राचीन फारसी-लिपिवाली पोथियों में कौन सी तिथि दी गई है। उनकी सबसे प्राचीन पुस्तक सन् ११०७ हिजरी अथवा सन् १६९५ ई० की है, जो इस अनुवाद-ग्रंथ के पीछे की है। अस्तु, यदि प्राचीनता को ही प्रमाण माना जाय तो भी सन् ९२७ हिजरी ही ठीक ठहरता है। जायसी के ठीक १०० वर्ष बाद ही यदि पदमावत का अनुवाद बँगला में हो गया तो यह कोई अनोखी बात नहीं हुई। बंगाल में इन सूफियों का बहुत आदर था। ईश्वरीप्रसाद जी का कथन है—"The Fourteenth Century was remarkable for the activity of the Muslim faqirs in Bengal ......There were several saints of reputed sanctity in Pandua, which owing to their presence, came to be called Hazarat;......other noted saints were Alaul Haq and his son Nur Qutb-ul-Alam. Alaul Haq was also deciple of Saikh Nizamuddin Aulia. Husain Shah of Bengal (1493—1519 A. D.) was the founder of a new cult called Satyapir, which aimed at uniting the Hindus and the Muslims. Satyapir was compounded of Satya, a sanskrit word, and Pir which is an Arabic word." [१] इस अवतरण से कदाचित् उस प्रश्न पर भी कुछ प्रकाश पड़ जाता है जो अलाउद्दीन की दूती के "पटना पुरुब सो घर घर हाँडि फिरउँ संसार" के 'पुरुब' शब्द को देखकर उठ पड़ता है। प्रसंगवश यहाँ पर हम इतना निवेदन कर देना अनुचित नहीं समझते कि कुतुबन के 'हुसेनशाह' पर एक बार फिर से विचार कर लेना चाहिए।

१ History of Medieval India (Dr Ishwari Prasad) page 321, 324.

हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि मियाँ हसन को 'शाह' की पदवी कैसे मिल गई ! उनके पुत्र फरीद (शेरखाँ) को तो मर मिटने पर नसीब हुई थी। हमारे विचार में ये ही सत्य-पीर के प्रचारक हुसेनशाह कुतुबन के हुसेनशाह हैं। जायसी तथा पदमावत को समझने के लिये इतना कह जाना आवश्यक था।

पदमावत का रचना-काल सन् ९२७ हिजरी मान लेने में एक ही बाधा मुख्य है। यद्यपि वह बाधा सन् ९४७ हिजरी में भी घुस पड़ती है तथापि उसके प्रतिकूल नहीं पड़ती। वह बाधा शाहेवक्त की वंदना है। इसके विषय में कुछ विशेष कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं है। यह तो सभी लोग जानते हैं कि मसनवियों में शाहेवक्त की वंदना अनिवार्य नहीं होती। किसी भी मंगलकार्य में परमात्मा के नाम का स्मरण करना, उसी के नाम से अपना काम आरंभ करना, एक ऐसी प्रथा है जिसका आदर बहुत दिनों से होता आया है। अतः फारसी की मसनवियों में वंदना या स्तुति का वही स्थान है जो हमारे यहाँ महाकाव्यों में मंगलाचरण का। यह बात दूसरी है कि वे लोग परिचय-प्रियता के कारण बहुतों का परिचय दे जाते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर जब हम सन् ९२७ हिजरी की ओर बढ़ते हैं तब हमारे सम्मुख जो चित्र उपस्थित होता है वह बहुत ही दुःखद होता है। सन् ९२७ हि० का जीवन-काल १२ दिसंबर सन् १५२० ई० से ३० नवंबर सन् १५२१ ई० तक था। यह वह समय था जब इब्राहीम लोदी और उसका सहोदर भ्राता जलाल परस्पर उस सिंहासन के लिये लड़ रहे थे जो सिकंदर के नाम पर रो रहा था। अब मथुरा के हिंदू यमुना में स्नान करने का साहस कर लेते थे, बाल बनवा सकते थे और अपनी मूर्त्तियों को बूचरखाने में जाने से रोक सकते थे। सिकंदर का आंतक इब्राहीम भोग रहा था। जनता उसके प्रतिकूल पड़ती जाती

थी। अनादर, अपमान एवं अन्याय में वह सिकंदर का चचा निकला। बंगाल का हुसेनशाह भी सत्यपीर की उपासना कर सदा के लिये सो गया था। जौनपुर की स्थिति भी ठीक न थी। सारांश यह कि एक भी बादशाह उस समय ऐसा न था जो जायसी का शाहेवक्त होता। संभव है कि जायसी ने पवित्र पदमावत को इन शासकों के शासन से बचाकर रखना ही उचित समझा हो, और उसकी वंदना में शाहेवक्त को स्थान न दिया हो; ग्रंथ के समाप्त होने पर शेरशाह सा न्यायी तथा उपयुक्त राजा पाकर उसकी वंदना किसी के अनुरोध अथवा अपनी प्रेरणा से जोड़ दी हो। हम पहले ही कह चुके हैं कि इस समय उनको अंशतः कुछ स्तुति या वंदना में परिवर्त्तन तथा परिवर्द्धन भी करना पड़ा था। शेरशाह भी जायसी की भाँति ही सुन्नी था। उसकी मुद्राओं पर चारों खलीफाओं के नाम अंकित मिलते हैं—"One squared-shaped coin with dotted margin (struck at Sharifabad in 946 A. H.) bears on the obverse the name of Abu Bakar on the top, Usman at the bottom, Umar on the right and Ali on the left."[१]

पदमावत के रचना-काल के विषय में हमको जो कुछ निवेदन करना था, उसकी इति हो चुकी। हमारी समझ में उसका आरंभ सन् ६२७ हिजरी में हो गया था[२]। एक प्रकार से हम सिद्ध ही

१ Sher Shah (Qanungo) Page 385.

२ पदमावत का आरंभ ६२७ हि० में मानना केवल उसकी रचना के सन् के अंकों में से ४ को २ पढ़ना ही है। हस्तलिखित उर्दू लिपि में ४ और २ में विशेष अंतर न होने से ही किसी किसी प्रति में नक़ल करते समय चार के स्थान में दो का अंक भ्रम से लिखे जाने से ही उसका रचना-काल ६२७ कोई कोई मानने लग गए हैं। यदि मूल प्रति हिंदी लिपि में होती तो ४ के स्थान में २ पढ़ा जाना सर्वथा असंभव था, यदि हि० स० ६२७ में

कर चुके हैं कि शेरशाह की वंदना सन् १५४२ ई० अथवा सन् ६४८ हिजरी में बनी। अत: हमारे विवेचन में पदमावत का रचना-काल सन् ६२७ हिजरी से सन् ६४८ हिजरी तक ठहरता है। निस्संदेह यह एक लंबा समय है। विचारणीय प्रश्न यहाँ पर यह हो जाता है कि पदमावत की रचना में जो २० या २२ वर्ष का समय लगा है उसका कारण क्या है अथवा वह कहाँ तक संगत है? क्या जायसी लगातार उसी की रचना में लिप्त रहे या किसी अन्य कारण से उनके उस पावन अनुष्ठान में व्यतिक्रम भी पड़ता रहा?

प्रस्तुत प्रश्न पर कुछ गंभीर विवेचना की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। जायसी ने स्वयं ही कहा है—"मुहमद कबि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा॥ जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई॥ औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥... कहँ सुरूप पदमावति रानी? कोइ न रहा जग रही कहानी॥ धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै, पै मरै न बासू॥ केइ न जगत जस बेचा, केइ न लीन्ह जस

उसकी रचना हुई होती तो ६४७ लिखने की आवश्यकता सर्वथा न रहती। हि० स० ६४७ में शेरशाह दिल्ली के साम्राज्य का स्वामी बन चुका था। इसलिये जायसी ने उसकी वंदना लिखी है। पद्मावत के बँगला अनुवाद में ६४७ के स्थान में ६२७ हो गया है वह उर्दू लिपि का ही दोष है। जिन थोड़ी सी प्रतियों ६२७ लिखा मिलता है उनमें भी शेरशाह को दिल्ली का सुलतान लिखा है। उक्त सन् में यह किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता। अधिकतर प्रतियों में सन् ६४७ ही मिलता है वही मानने योग्य है। यदि पद्मावत का प्रारंभ ६२७ हि० में हुआ होता तो उस शेरशाह का नाम सर्वथा न होना चाहिए था, यदि शेरशाह के राज्याभिषेकोत्सव के बाद उसने शेरशाह की वंदना लिखी होती तो वह रचना का सन् भी राज्याभिषेक के बाद का धर देता। ऐसा न होना यही सिद्ध करता है कि पद्मावत के प्रारंभ का सन् और वंदना दोनों ग्रंथ-रचना के समय के ही लिखे हुए हैं। [सं०]

मोल ? जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ॥" इस अवतरण से यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि जायसी पदमावत को अमर बनाने की लालसा में, अक्षय-कीर्ति की प्रेरणा से, जी-जान से लग गए थे। उन्होंने पदमावत को सर्व-सुंदर बनाने में कुछ उठा नहीं रखा था। पदमावत के अध्ययन के उपरांत यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि जायसी कुछ और भी कह सकते थे अथवा नहीं ? ज्योतिष, हठयोग, कामशास्त्र, रसायन आदि विविध बातों का सन्निवेश हमारे कथन का स्पष्टीकरण ही नहीं, प्रतिपादक भी है। यही नहीं; जायसी की इस अमर-कामना की आत्म-विज्ञापन-विधायिनी मनोवृत्ति से पदमावत के कथा-प्रवाह तथा रस के समुचित परिपाक में कहीं कहीं कुत्सित बाधा तक पड़ जाती है। किसी शब्द को लेकर जायसी तब तक उसके साथ खिलवाड़ करते जाते हैं जब तक वह आँख से ओझल नहीं हो जाता और उनकी बुद्धि गवाही नहीं दे देती। मुद्रालंकार तथा श्लेष की अधिकता भी हमारे कथन का प्रतिपादन करती है। पदमावत की रचना में अधिक समय अवश्य ही लगा होगा।

पदमावत का रचना-काल राजनीतिक अशांति का समय था। संभवतः जायसी ने जायस में रहने का निश्चय इस अशांति के कारण भी किया हो। किंतु हमारा ध्येय जायसी पर विचार करने का नहीं है। हम तो यहाँ पर केवल इतना ही देखना चाहते हैं कि पदमावत की रचना कब तक होती रही अथवा किस समय समाप्त हुई थी। जायसी ने "राजा-बादशाह-युद्ध-खंड" में एक स्थल पर फिरंगियों का स्मरण किया है। यद्यपि फिरंगी शब्द का प्रयोग पृथ्वीराज-रासो में भी मिलता है तथापि इससे उसकी प्राचीनता सिद्ध नहीं हो पाती। अतः हमको भी शुक्लजी का यह कथन मान्य है—"फिरंगी = पुर्तगाली। (फारस में यह शब्द रूम से आया जहाँ

'धर्मयुद्ध' के समय यूरोप से आए हुए 'फ्रांक' लोगों के लिये पहले पहल व्यवहृत हुआ।) फ़ारस से यह शब्द हिंदुस्तान में आया और सबसे पहले आए पुर्त्तगालियों के लिये प्रयुक्त हुआ।" यह तो सभी जानते हैं कि वास्को-डि-गामा ने सन् १४९८ ई० में भारत में पदार्पण किया था। जायसी का कथन है—"हबसी, रूमी और फिरंगी। बड़ बड़ गुनी और तिन्ह संगी।" अलाउद्दीन के समय में 'फिरंगी' का वर्णन, हमारी दृष्टि में, अनुचित है, कालदोष है। इस कालदोष का कारण यह जान पड़ता है कि जायसी ने इतिहास पर, उस दृष्टि से, अधिक ध्यान नहीं दिया। उन्होंने पदमावत में जिन रजवाड़ों का जैसा वर्णन किया है उसकी संगति प्रायः शेरशाह के समय में ही ठीक बैठती है। जायसी ने किसी मालवदेव का नाम लिया है। यह मालवदेव पद्मावती का स्मरण किया गया "तुम बल वीर जैस जगदेऊ। तुम संकर औ मालवदेऊ" मालवदेव है। अतः यह वह मालदेव नहीं हो सकता जिसको अलाउद्दीन ने जीतकर चित्तौर दिया था। हमारी समझ में यह जोधपुर का मालदेव[1]

---

१ लेखक महोदय ने पद्मावती के स्मरण किए हुए मालवदेव को जोधपुर का राठोड़ राजा मालदेव बतलाया है जो मानने योग्य नहीं है। क्योंकि जोधपुर के राव मालदेव पर शेरशाह ने पदमावत के लिखे जाने से तीन वर्ष पश्चात् अर्थात् हिजरी सन् ९५० (ईसवी सन् १५४४) में चढ़ाई की जिसमें वह (मालदेव) बिना लड़े ही भाग गया था। पदमावत का मालदेव जालौर के चौहान राजा सामंतसिंह का दूसरा पुत्र था। अलाउद्दीन खिलजी ने सामंतसिंह के ज्येष्ठ पुत्र कानड़देव के समय विक्रम संवत् १३६८ ईसवी सन् १३११ में (मुँहणोत नैणसी के कथनानुसार) जालौर पर चढ़ाई की जिसमें कानड़देव और उसके ३ दिन बाद उसका पुत्र बीरमदेव भी मारा गया। कानड़देव ने अपनी जीवित अवस्था में अपने छोटे भाई मालदेव को अपने वंश की रक्षा के विचार से जालौर से बाहर निकाल दिया था। जालौर को विजय कर सुलतान ने उस प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था, परंतु मालदेव अपना पैतृक राज्य पीछे प्राप्त करने के विचार से सुलतान के अधि-

है जो शेरशाह के समय का बड़ा प्रतापी राजा था और जिसके साथ उसको छल करना पड़ा था। कहने का तात्पर्य यह कि जायसी ने फिरंगी का प्रयोग इसलिये कर दिया होगा कि फिरंगी उस समय नामी हो रहे थे। एक ओर तो फिरंगियों ने धोखा देकर गुजरात के बहादुरशाह का अंत कर दिया था और दूसरी ओर वे मुहम्मदशाह (बंगाल) की ओर से शेरशाह से भिड़ गए थे। ये घटनाएँ सन् १५३७ तथा ३८ के लगभग की हैं। इस प्रकार यह सिद्ध ही है कि जायसी सन् १५४० ई० तक पदमावत की रचना करते रहे, और ग्रंथ के समाप्त हो जाने पर शेरशाह को उचित शाहेवक्त पाकर उसकी वंदना भी उसमें जोड़ दी। निदान, पदमावत का रचना-काल सन् ६२७ हिजरी से सन् ६४८ हिजरी तक मानना अनुचित नहीं कहा जा सकता है। हमको अपने कथन पर इतना विश्वास है कि हम इसको अधिक बढ़ाना उचित नहीं समझते। हमको आशा है कि जायसी की जीवनी पर ध्यान देने से हमारा कथन और भी स्पष्ट एवं दृढ़ हो जायगा। यदि हिंदी के विद्वानों का ध्यान इस प्रश्न की ओर मुड़े तो हमारा परिश्रम सफल हो जाय, नहीं तो, मनमोदक तो है ही।

कार में गए हुए उस प्रदेश को बहुत कुछ हानि पहुँचाया करता और वहाँ की मुसलमान सेना को सताया करता था। हिजरी सन् ७०२ ता० ८ जमादि-उस्सानी (ता० २८ जनवरी ईसवी सन् १३०३) में सुलतान अलाउद्दीन चित्तौड़ लेने के लिये दिल्ली से रवाना हुआ, और करीब ७ महीने पीछे चित्तौड़ को फतह किया। फिर उसने अपने पुत्र खिजर खाँ को चित्तौड़ का राज्य दिया और उस किले का नाम खिजराबाद रक्खा। खिजर खाँ ने अनुमान १० वर्ष तक चित्तौड़ पर राज्य किया। इसके बाद बादशाह ने वहाँ का राज्य मालदेव चौहान को दे दिया। कर्नल टाड के राजस्थान तथा मेवाड़ की ख्यातों में जालौर के चौहानों को मेवाड़ के राजाओं का रिश्तेदार होना भी लिखा मिलता है। ऐसी दशा में पदमावत का मालवदेव राठौड़ मालदेव नहीं, किंतु चौहान मालदेव ही होना चाहिए। [सं०]

(४) तुलसी का अलंकार-विधान

(अप्रस्तुत-समीक्षा)

[लेखक—श्री मोहनवल्लभ पंत, एम० ए०, काशी]

अप्रस्तुत में कल्पना की अपेक्षा

कवि का हृदय विश्व का प्रतिबिंब है और उसी प्रतिबिंब की अभिव्यंजना करने के लिये कवि अपने काव्य की सृष्टि करता है; उसी प्रतिबिंबित विश्व के आधार पर वह अपने प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करता है। इस प्रस्तुत को अभिव्यंजित करने के लिये उसे अप्रस्तुत का आश्रय लेना पड़ता है, अर्थात् उसको इस बात का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है कि वह प्रस्तुत के प्रति अनुभूति उत्पन्न कराने के लिये जिस अप्रस्तुत की योजना करे वह स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी हो, साथ ही प्रस्तुत की ही भाँति भावोद्रेक में भी समर्थ हो। कवि का अप्रस्तुत जितना ही प्राकृतिक होगा उसका काव्य उतना ही रमणीय होगा। अप्रस्तुत के चुनाव की उत्तमता कल्पना की पहुँच पर निर्भर है। कवि अपनी कल्पना के बल से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में अत्यंत अनुरंजक अप्रस्तुत की योजना कर आत्माभिव्यंजन में सफल होता है। कल्पना, वास्तव में, हमारे पूर्व-संचित अनुभवों के संमिश्रण से प्राप्त एक शक्ति है। जिन पदार्थों को हम एक बार देख चुके हैं अपनी स्मरण-शक्ति के द्वारा हम अपने मन में उनका तद्रूप चित्र अंकित करने में समर्थ होते हैं। परंतु हम अपने पूर्व-संचित अनुभवों के द्वारा अपनी रुचि के अनुसार उस चित्र में कुछ हेर-फेर करके उसे एक

ऐसा नया रूप दे सकते हैं जिसका बाह्य जगत् में कोई अस्तित्व नहीं है। बाह्य जगत् से पृथक् स्वतंत्र मानसिक सृष्टि का अनुभव करानेवाली शक्ति का ही नाम "कल्पना" है। कवि या चित्रकार में कल्पना-शक्ति जितनी ही अधिक होती है उतना ही वह अधिक प्रतिभाशाली कहलाता है। प्रतिभावान् कवि अपने प्रस्तुत को अभिव्यक्त करने के लिये उसके योग में अपनी कल्पना के सहारे एक ऐसे अप्रस्तुत की सृष्टि करता है जो हमारे मन को मुग्ध एवं प्रभावित कर देता है।

कल्पना के दो रूप होते हैं—एक अव्यक्त या आभ्यंतर रूप, दूसरा व्यक्त या बाह्य रूप। पूर्व-संचित अनुभव के बल पर जब कवि अपने मन में नई सृष्टि खड़ी कर देता है तब हम उसे अव्यक्त कल्पना कहते हैं। इस कल्पना के द्वारा कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करता है, अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होकर अपने प्रतिपाद्य विषय को खड़ा करने में समर्थ होता है और बाह्य जगत् को भी अपने अंतःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से अनुरंजित करता है। परंतु जब तक इस कल्पना का स्वरूप अंतरात्मा से बाहर नहीं निकलता तब तक यह कल्पना अव्यक्त ही रहती है। जब कवि शब्द-शक्ति के बल से अपने प्रतिपाद्य विषय की अभिव्यंजना के लिये कल्पना को विधायक रूप दे देता है तब हम उसे व्यक्त कल्पना कहते हैं। काव्य में यही व्यक्त कल्पना दिखाई पड़ती है। आभ्यंतर या अव्यक्त कल्पना के द्वारा नई सृष्टि का निर्माण करके ही कवि-कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। वास्तव में जब तक कवि अपने को सम्यक् प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर सकता तब तक वह कवि कहलाने का अधिकारी नहीं है। जो कवि आत्माभिव्यंजन में जितना ही सफल होता है वह उतना ही उत्कृष्ट समझा जाता है। किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिये उसी के मेल की दूसरी अप्रस्तुत वस्तु

की योजना करना इसी व्यक्त कल्पना का काम है। यदि वह अप्रस्तुत हमारे मन में वही भाव उत्पन्न कर सके जो प्रस्तुत के द्वारा हो सकता है, अथवा यदि उसके द्वारा कवि के हृदय की भावनाओं का व्यंजन स्पष्टता और स्वाभाविकतापूर्वक हुआ है तो हम कह सकते हैं कि कवि की कल्पना फलीभूत हुई।

प्रत्येक कल्पना काव्य-जगत् की सृष्टि करनेवाली नहीं हो सकती। इसमें संदेह नहीं कि कवि अपनी कल्पना का उपयोग करने में स्वतंत्र है; परंतु बिना भावों में निमग्न हुए दिमागी कसरत के द्वारा माथा-पच्ची करके लोगों को अपनी सूझ की धाक जमाने का प्रयत्न सच्ची कल्पना में स्थान नहीं पा सकता। प्रस्तुत के स्थान पर जो अप्रस्तुत लाए गए हों उनके संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे केवल खेलवाड़ ही हैं—कौतूहल उत्पन्न करने के लिये जबर्दस्ती लाए गए हैं—अथवा किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अंतस्तल की उपज के फलस्वरूप प्रस्तुत भाव के उत्कर्ष या पोषण में सहायक भी हैं। भावोद्रेक और कल्पना का संबंध अत्यंत घनिष्ठ है। कल्पना के द्वारा सौंदर्य की सृष्टि करके कवि हममें आनंद का उद्रेक कर देता है। इसी लिये एक अँगरेज समालोचक कहता है कि "कल्पना आनंद है।" (Imagination is joy.)

सच्चे कवियों के अतिरिक्त साधारण बोलचाल में भी लोग जिस कल्पना का व्यवहार करते हैं वह भावों को पुष्ट करने में बहुत अधिक सहायक होती है। किसी बड़े भारी खुशामदी को लोग 'कुत्ता' कहते हैं, वह इसलिये कि केवल 'खुशामदी' कहने से ही उनको संतोष नहीं होता—इससे उनके हृदय की खीझ या तिरस्कार की ठीक ठीक व्यंजना नहीं हो पाती। किसी निष्ठुर कर्म करनेवाले को 'कसाई' कहने से हमारे हृदय की विरक्ति या घृणा का अतिरेक व्यंजित होता है। यदि इस 'कसाई' के स्थान पर 'निष्ठुर' शब्द का ही प्रयोग

किया जाय तो भाव का उत्कर्ष न हो सकेगा। यही बात कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। जहाँ कोई अप्रस्तुत वस्तु प्रस्तुत वस्तु के प्रति उत्पन्न भाव को स्पष्ट और तीव्र करने में सहायक नहीं होती वहाँ वह कविता नहीं, कविताभास मात्र है। उदाहरण के लिये आचार्य केशवदासजी के इस छंद को लीजिए—

"राजति है यह ज्यौं कुल-कन्या। धाइ विराजति है सँग धन्या॥
केलि-थली जनु श्री गिरिजा की। शोभ धरे सितिकंठ प्रभा की॥"

इसमें कल्पना की उड़ान बहुत ऊँचे तक पहुँच गई है। परंतु यह माथा-पच्ची ही है, सच्ची कवि-कल्पना नहीं। वन की शोभा का वर्णन करने के लिये जिस अप्रस्तुत की कल्पना कवि ने की है वह भावोत्कर्ष करना तो दूर रहा किसी अन्य भाव की ओर ले जा रही है। केवल 'धाइ' और 'सितिकंठ' के शब्द-साम्य के बल पर वनशोभा को 'कुलकन्या' या 'केलिथली' मानना क्लिष्ट कल्पना के सिवा और क्या कहा जा सकता है। कल्पना की उड़ान—भावोत्कर्ष में सहायक कल्पना की उड़ान—का सबसे अच्छा नमूना कवि-शिरोमणि तुलसीदासजी के रामचरितमानस में देखिए। गोसाईंजी को सीताजी की अनुपम सुषमा दिखाना अभीष्ट है। अपनी अव्यक्त कल्पना के द्वारा वे अपने अंत:करण में सीताजी की अप्रतिम शोभा का चित्र खींचते हैं; उपमान के अभाव में उनको एक नूतन लक्ष्मी की सृष्टि करनी पड़ी है—

"जो छबि-सुधा-पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा-रजु मंदर-सिंगारू। मथै पानि-पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता-सुख-मूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिं सीय सम तूल॥"

परंतु इसमें कोरी कल्पना ही नहीं है, कुछ और भी है। यही 'कुछ और' इसको सच्ची कवि-कल्पना में स्थान देता है। सब सुंदर

पदार्थों के संयोग से जिस सौंदर्य-प्रतिमा लक्ष्मी की सृष्टि कवि ने की है उससे भी सीताजी की तुलना करने में उसको संकोच होता है। पढ़ते ही पाठक के मन में सीता के अलौकिक रूप का आभास होने लगता है, साथ ही 'लक्ष्मी' से समता देने के कारण सीताजी की दिव्य मूर्ति के प्रति मन में अत्यंत भक्ति-भाव भी जागरित हो जाता है। यही कवि का उद्देश्य भी जान पड़ता है। अपने को अभिव्यक्त करने में कवि कितना सफल हुआ है यह कहने की आवश्यकता नहीं। इतनी ऊँची उपयुक्त कल्पना हिंदी-साहित्य के अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती। हाँ, ऊहात्मक कल्पनाओं की किसी भी साहित्य में कमी नहीं। हिंदी-साहित्य तो ऊहात्मक कल्पनाओं से ओत-प्रोत है। कहीं कोई महाशय माघ के महीने में लू चलाते हैं—

"सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुएँ चलत उहि गाम।
बिन बूझे बिन ही सुने, जियत बिचारी बाम॥"

तो दूसरे महाशय, इतने पर भी संतुष्ट न रहकर, किसी विरहाकुल पथिक को अन्य राह-चलते मुसाफिरों की अँगीठी बना रहे हैं—

"विरहानलजालकरालिअउ पहिउ पंथि जं दिट्ठउ।
तं मेलवि सव्वहिं पन्थिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्ठउ॥"

अर्थात्, 'राह चलते हुए कुछ मुसाफिरों ने विरहाग्नि से तापित किसी अन्य पथिक को देखा तो सबने मिलकर उसे अँगीठी बना लिया।'

सहृदय पाठकगण कवि की इस दूर की सूझ पर वाह वाह भले ही करें पर यह सूझ जितनी ही दूर की है उतनी ही मार्मिकता से भी दूर है। कवि की इस अत्युक्तिपूर्ण युक्ति से किसी भी पाठक के हृदय में न तो विरह-भावना का ही उदय हो सकता है, न उस विरही के प्रति मन में किसी प्रकार की सहानुभूति ही। यह सच है कि कवि का संबंध किसी वस्तु के वास्तविक सौंदर्य और उसके मनो-मुग्धकर वर्णन से है। अपने अभीष्ट के प्रतिपादन के लिये वह

प्राकृतिक घटनाओं एवं हमारे और उनके पारस्परिक संबंध को कल्पना और मनोवेगों से अनुरंजित करने में स्वतंत्र होता है; परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह "निरंकुशाः कवयः" वाले सिद्धांत का दुरुपयोग करे और वस्तुओं के यथार्थ प्रभाव से हमें वंचित रखकर हमको अंधकार में ढकेल दे। सारांश यह कि कल्पना की उड़ान ही काव्य में सब कुछ नहीं है। उसमें स्वाभाविकता का होना भी परम आवश्यक है।

अप्रस्तुत-रूप-विधान की परीक्षा से हमारा तात्पर्य यही है कि कवि ने अपने प्रस्तुत के स्पष्टीकरण के लिये जिस अप्रस्तुत का उपयोग किया है, उसमें कल्पना कितनी ऊँची है, वह कहाँ तक स्वाभाविक है और उसमें प्रस्तुत के भाव को स्पष्ट और तीव्र करने की शक्ति कहाँ तक वर्तमान है।

यहाँ पर यह कहना भी अयुक्त न होगा कि अप्रस्तुत-रूप-विधान में उपयुक्त अप्रस्तुत का चुनाव करने में कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु, गुण या क्रिया के पृथक् पृथक् साम्य पर ही कवि का लक्ष्य रहता है वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों का, बिना उनके प्रभाव पर ध्यान दिए हुए, प्रयोग करता है।

अप्रस्तुत-योजना

सादृश्य-मूलक अलंकारों की योजना दो बातों को दृष्टि में रखकर की जाती है—एक तो स्वरूपमात्र का बोध कराने के उद्देश्य से, दूसरा उपमेय के भाव को उद्‌बुद्ध करने के लिये। सादृश्य में उपमान द्वारा केवल उपमेय की आकृति या रंग का बोध हो सकता है। परंतु प्रस्तुत के समान ही आकृति या वर्णवाले अप्रस्तुत की योजना कर देने मात्र से तज्जन्य भाव का उदय नहीं हो सकता; हाँ, डील-डौल, रंग, गुण आदि की न्यूनाधिकता द्योतित करनी हो तो दूसरी बात है। परंतु सादृश्यमात्र के बोध कराने में काव्यत्व नहीं आ

सकता, उपमान का प्रयोग नैयायिकों की भाँति किसी पदार्थ का ज्ञान कराने के प्रयोजन से सादृश्य दिखलाने के ही लिये नहीं होता। अतः उनके 'गोसदृशो गवयः' ऐसे सादृश्य-बोधक वाक्यों में उपमा अलंकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनमें प्रस्तुत पदार्थ के साथ अप्रस्तुत का सादृश्य दिखलाकर उसका स्वरूप-ज्ञान कराना ही वक्ता को अभीष्ट होता है। परंतु काव्य में सदृश वस्तुएँ आकृति-ज्ञान कराने के लिये कम और भाव तीव्र कराने के लिये ही अधिकतर लाई जाती है; रूप, रंग या आकृति के सादृश्य से ही भाव नहीं उत्तेजित होता।

अब साधर्म्य को लीजिए। आचार्य मम्मट ने सादृश्यमात्र को ही उपमान के लिये पर्याप्त न मानकर "साधर्म्यमुपमा" कहा है, सादृश्य और साधर्म्य दोनों एक नहीं कहे जा सकते। सादृश्य में, जैसा पहले कहा जा चुका है, उपमेय के रूप, रंग या आकृति का ही बोध अर्थात् बिंब-प्रतिबिंब भाव (Simple resemblance) होता है। साधर्म्य का अर्थ है साधारण धर्म संबंध। जब प्रस्तुत और अप्रस्तुत (उपमेय और उपमान) दोनों में समान धर्म या वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म होता है तभी दोनों में "साधर्म्य" संबंध (connection with a common property) कहा जा सकता है।

केवल सादृश्य और धर्म के ही बल पर काव्योपमा नहीं खड़ी हो सकती। अलंकार में रमणीयता का होना आवश्यक है। परंतु दो वस्तुओं की आकृति या धर्म के मिलान में ही कोई रमणीयता नहीं प्रतीत होती। जब तक अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूप या गुण को अधिक सौंदर्य्य न प्राप्त हो या प्रस्तुत के प्रति कोई भाव और भी उत्कर्ष को न पहुँचे तब तक वह अप्रस्तुत अलंकार में स्थान नहीं पा सकता। इसी लिये पंडितराज जगन्नाथ ने मम्मट के उपर्युक्त लक्षण में "सुंदर" शब्द और बढ़ाकर उक्त लक्षण का संस्कार कर दिया है। उनके अनुसार 'उपमा'—

"सादृश्यं सुंदरं वाक्यार्थोपकारकम्"

है। 'सौंदर्य' का अर्थ वे "चमत्कृत्याधायकत्व" लेते हैं। चमत्कृति से यहाँ पर तात्पर्य है "सहृदय-हृदय-प्रमाणक आनंद-विशेष" से, जिसे हम रमणीयता कह सकते हैं। परंतु आज-कल 'चमत्कृति' का अर्थ बहुत संकीर्ण हो गया है। केवल शब्दों के खिलवाड़ में और प्रस्तुत से मेल न खानेवाली दूर की सूझ में भी 'चमत्कृति' मानी जाने लगी है। अतएव जब तक अप्रस्तुत प्रस्तुत के भावों का उत्कर्ष पोषण करने में समर्थ न हो तब तक कल्पना चाहे सातवें आसमान पर ही क्यों न चढ़ी हुई हो उसे हम 'रमणीय' नहीं मान सकते—आजकल के अर्थ में 'चमत्कार' आप भले ही कह लें। जिस अप्रस्तुत की योजना से भावानुभूति में वृद्धि हो वही वास्तव में आलंकारिक 'रमणीयता' है।

एक दूसरे आचार्य का मत है कि उपमा अलंकार में जहाँ 'साधर्म्य' रहता है वहाँ 'सुंदरं' को अन्यथा-सिद्ध मानना पड़ेगा। बिना 'सुंदरं' या 'रमणीयत्व' के 'उपमा' को हम अलंकार—काव्य-शोभाधायक अलंकार—नहीं कह सकते, और कुछ कहें तो कहें। काव्य में स्वरूप-बोध के लिये भी सदृश अप्रस्तुत वस्तु लाई जाती है। यदि उसमें प्रस्तुत के भाव को उत्तेजित करने की शक्ति भी हो तो रमणीयता भी आ जाती है। सदृश अप्रस्तुत की योजना से स्वरूप-बोध के साथ साथ भावोत्तेजना भी होती है। वास्तव में जब कवि किसी भाव में निमग्न होकर अपने भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है तभी कल्पना द्वारा सदृश वस्तु की सृष्टि करता है। सुतरां काव्य की प्रक्रिया में जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत में कोरा 'सादृश्य' या साधर्म्य ही होता है वहाँ वास्तविक काव्यत्व नहीं आता। जिस उपमान में 'सादृश्य' और 'साधर्म्य' के अतिरिक्त भाव को और

रमणीयता प्रदान करने की सामर्थ्य होती है वही काव्य में स्थान पाने योग्य होता है।

हिंदी के आचार्यों ने आरंभ से ही उपमा की परिभाषा को बदल दिया। केवल 'रूप, रंग, गुण' के साम्य पर ही उपमान खोजे जाने लगे; रमणीयता का ध्यान ही न रहा। उन्हीं आचार्यों का अनुसरण कर पिछले खेवे के हिंदी-कवि भी अपनी उपमाओं में अधिकतर सादृश्य की ही योजना करने लगे। यही कारण है कि उक्त परिभाषा को ध्यान में रखकर उपमाओं की योजना करनेवाले कवियों की कल्पना में रमणीयता की ओर उतना ध्यान न रह गया।

आचार्य केशव ने भी 'रूप, शील, गुण' की समता को ही उपमा मानकर स्वयं अधिकतर सादृश्य और साधर्म्य का ही ध्यान रखा है। आचार्य होते हुए भी तत्कालीन चमत्कारवादियों की प्रवृत्ति के प्रवाह में बहकर उन्होंने रमणीयता का पूरा ध्यान नहीं रखा। कहीं कहीं तो हम देखते हैं कि उनमें वास्तविक साधर्म्य और सादृश्य भी नहीं है। है केवल शब्द-साम्य या शब्दों की कलाबाजी—

"पांडव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर औ तिलकावलि भूरी॥"

इसमें 'अर्जुन' और 'भीम, 'सिंदुर' और 'तिलकावलि' के श्लेष के सिवा और है ही क्या ? रूप-सादृश्य तक तो खोजे नहीं मिलता, फिर बेचारे साधर्म्य को पूछता ही कौन है। कवि का लक्ष्य पंच-वटी की शोभा का वर्णन करना है, पर वह अपने लक्ष्य से बहुत दूर भटक गया है। पाठक का ध्यान पंचवटी की शोभा से हटकर पहले शब्द-चमत्कार में उसके बाद काल-विरोधी दूषण में चला जाता है। रामचंद्र के समय की पंचवटी में पांडव कहाँ से आ धमके, यही आश्चर्य होता है। यह परंपरा यहाँ तक बिगड़ गई कि पिछले कँड़े के कवि उपमा का प्रयोजन ही भूल गए। उनका

लक्ष्य केवल लीक पीटना रह गया। चमत्कार की धुन में साधर्म्य और सादृश्य दोनों हवा हो गए। 'पजनेस' का एक उदाहरण लीजिए—

"छहरै छबीली छटा छूटि छितिमंडल पै;
उमग उजेरो महाओज उजबक सी।
कवि पजनेस कंजमंजुलमुखी के गाति;
उपमाधिकात कल कुंदन तबक सी॥
फैली दीप दीप दीप दीपति दिपति जाकी;
दीपमालिका की रही दीपति दबक सी।
परत न ताब लखि मुख महताब जब;
निकसी सिताब आफताब के भभक सी॥"

भला नायिका के मुख के लिये 'महताब' के सिवा अन्य कोई उपमान ही नहीं था? इसमें 'ताब' के अनुप्रास के अतिरिक्त और विलक्षणता ही क्या है? वास्तव में किसी नायिका के मुख का सौंदर्य चित्ताकर्षक होना चाहिए। परन्तु आफताब के भभक सी, 'महताब-मुखी' प्रचण्ड नायिका की ओर ताकने का हियाव किसके हृदय में हो सकता है। इस उपमा से उपमान को उपर्युक्त प्रयोजनों में से एक भी नहीं सिद्ध होता। नायिका के मुख को देखकर हृदय में स्वभावतः सौंदर्य की भावना उठती है। चंद्रमा अथवा कमल स्वभावतः सुंदर एवं हृदय को शीतल करनेवाले होते हैं। अतएव चंद्रमुखी एवं कंजमुखी कहने से सौंदर्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि होती हैं। पर सूर्य-मुखी नायिका का प्रखर प्रताप—आफताब की भभक—किसी भी प्रकार अंतस् को सुखद नहीं हो सकता।

यहाँ पर यह भी जान लेना चाहिए कि अप्रस्तुत की योजना दो दृष्टियों से की जाती है—(१) अगोचर बातों को गोचर स्वरूप देने की दृष्टि से और (२) प्रस्तुत के भावोत्कर्ष की दृष्टि से। यदि अप्रस्तुत वस्तु या व्यापार के ही समान भावना उत्पन्न करने में समर्थ

हों तो यह समझना चाहिए कि वे उपमान कवि-कर्म-सिद्ध हैं। उदाहरण के लिये नेत्रों के उपमानों को लीजिए। नेत्रों की उपमा कवि लोग कमल, खंजन, मछली, मृगनेत्र आदि अनेक पदार्थों से देते हैं। ये सब उपमान केवल आकृति के विचार से ही निश्चित नहीं किए गए हैं, वरन् सादृश्य के विचार से भी। यदि उपमान चुनना होता तो बादाम या कौड़ी की उपमा बहुत उपयुक्त होती। परंतु साहित्य में—भारतीय साहित्य में—उक्त दो पदार्थों से नेत्रों की उपमा नहीं दी जाती, कमल की पँखुड़ी का आकार नेत्र की तरह होता है। परंतु कमल में नेत्र का केवल आकार-साम्य ही नहीं है, वरन् वह नेत्र के सदृश सौंदर्य की अनुभूति में भी सहायक होता है। खंजन पत्ती में नेत्रों की चंचलता है। मछली में चंचलता के साथ-साथ कज्जलयुक्त नेत्रों का सादृश्य भी है। मृग के नेत्र तो मनुष्य-जाति के नेत्रों के ठीक अनुरूप होते ही हैं, साथ ही नेत्रों की तरह इनमें भी कुतूहल-मिश्रित चंचलता एवं जरा से खटके में सशंक होने का भाव वर्तमान रहता है। कमल, खंजन आदि में कथित साधर्म्य के अलावा एक चित्ताकर्षक रमणीयता भी है। अतएव वे काव्य के लिये अति उपयुक्त उपमान हैं। कमल की उपमा हाथ, पैर एवं मुख से भी दी जाती है। केवल आकृति के विचार से ऐसा नहीं किया गया, वरन् सौंदर्य एवं कोमलता व्यक्त करने के अभिप्राय से। भारतीय साहित्य में परंपरागत उपमानों में से अधिकांश सौंदर्य आदि के व्यंजक होने के साथ साथ रसोत्पादन में भी सहायक होते हैं, कतिपय उपमान ऐसे भी होते हैं जो केवल आकृति-मात्र का निर्देश करते हैं। जैसे सिंह या भिड़ की सी कमर, या करि-कर-सदृश जंघा, भुजंग-सदृश भुज, आदि। इनसे कमर का पतलापन और जंघा के चढ़ाव-उतार मात्र का ज्ञान अवश्य हो जाता है। परंतु इनसे न तो सौंदर्य की ही अनुभूति हो सकती है, न ये शृंगार-रस

की भावना ही उत्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं। नायिका श्रृंगार-रस का आलंबन है, अतएव उसके रूप के वर्णन में रमणीयता का ध्यान रखना अनिवार्य है। इसी लिये प्राचीन कवि कटि की उपमा कमलनाल से देते थे, मृणाल में सूक्ष्मता के साथ साथ श्रृंगार-रस के अनुकूल अनुरंजनकारी सौंदर्य भी है, अप्रस्तुत के उपयुक्त विधान का यह अच्छा उदाहरण है।

किसी नायिका को 'करि-कर-सदृश जंघावाली' कहने के बदले वीर पुरुष के हाथ को 'करि-कर-सरिस सुभग भुजदंडा' कहा जाय तो वीर रस का पोषक होने से यह अप्रस्तुत काव्योपयोगी होगा। सूँड़ में श्रृंगार-रसानुकूल रतिभाव को जागृत करने की सामर्थ्य नहीं है, परंतु सूँड़ और हाथ में केवल आकार-सादृश्य ही नहीं वरन् उपयोग एवं बल की भी समानता है; अतएव यह वीर-रसानुकूल उपयुक्त उपमान है। सारांश यह कि रसात्मक प्रसंगों में अप्रस्तुत भी उसी प्रकार भावोत्पादक होकर रस-पोषक होना चाहिए जिस प्रकार प्रस्तुत हो।

उपर्युक्त कथन से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि काव्य में केवल उन्हीं उपमानों का प्रयोग किया जाय जो प्राचीन परंपरा से बँधे हुए चले आ रहे हैं। समय के परिवर्तन के साथ साथ परिपाटी में भी परिवर्तन किया जा सकता है। प्राचीन कवियों के अनेक ऐसे उपमान जो आजकल अप्रसिद्ध हों छोड़े जा सकते हैं, साथ ही अनेक ऐसे उपमान जो प्राचीन कवियों को अज्ञात थे और जो ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से आधुनिक कवियों को प्रत्यक्ष हो रहे हैं उनका उपयोग करके काव्योपयोगी अप्रस्तुत की कल्पना करके क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है। कवि अपनी प्रतिभा द्वारा नए नए उपमानों का प्रयोग कर सकता है। परिपाटी (Convention) का अनुसरण करने अथवा नए नए उपमानों का प्रयोग करने के

पूर्व इस बात का विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि अप्रस्तुत का कल्पनात्मक महत्त्व (Jmagintive Value) कितना है।

तुलसी की अप्रस्तुत-समीक्षा

"अलंकार......कथन की एक युक्ति या वर्णन-शैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कहला सकती।" "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।"

पं० रामचंद्र शुक्ल

प्रस्तुत वस्तु का वर्णन दो प्रकार से किया जाता है। एक में वस्तु का याथातथ्य वर्णन—अपनी ओर से बिना हेर-फेर किए ही—किया जाता है; दूसरी में अपनी कल्पना के प्रयोग द्वारा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि से अलंकृत करके अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। किसी रूप या आकृति के वर्णन से वही आनंद प्राप्त हो सकता है जो उसके प्रत्यक्ष दर्शन से। यह कवि की प्रतिभा—प्रस्तुत को अभिव्यक्त करने की शक्ति पर निर्भर है। अलंकार इस संबंध में कवि के सहायक होते हैं। मनोभावों को हृदयस्पर्शी बनाने के लिये अलंकारों की योजना की जाती है। किसी प्रस्तुत वस्तु की सुंदरता, विशालता, चित्ताकर्षकता आदि को जब सदृश अप्रस्तुत वस्तु से व्यक्त किया जाता है तो प्रस्तुत की प्रतीति स्पष्ट और चित्ताकर्षक हो जाती है। सादृश्य-मूलक अलंकारों का विधान इसी लिये होता है। इन सब में 'उपमा' अलंकार प्रधान है। अतएव हम समता प्रकाशित करनेवाले अलंकारों को 'उपमा-मूलक' अलंकार कहेंगे। यों तो उपमा-मूलक अलंकार अपने भेदोपभेदों सहित अनेक हैं। परंतु तुलसीदासजी ने उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा का

ही प्रचुर प्रयोग किया है। अतएव अप्रस्तुत-रूप-विधान की चर्चा में हम इन्हीं अलंकारों को दृष्टि में रखकर विशेष विवेचन करेंगे।

जब हम उपर्युक्त विवेचन के अनुसार तुलसीदासजी के अप्रस्तुत-रूप-विधान पर विचार करते हैं तब यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी अप्रस्तुत योजना प्राय: प्रस्तुत के प्रति हमारे भावों को अनुरंजित करने के लिये ही हुई है। रसात्मक प्रसंगों में तो अनुरूप अप्रस्तुत का विशेष ध्यान रखा गया है। उनके उपमान अधिकतर काव्य-प्रसिद्ध और परंपरागत ही हैं। इन परंपरानुगत उपमानों में भी अधिकांश तो प्रसंगानुकूल भावोत्कर्ष में सहायक होते हैं, किंतु कुछ ऐसे भी हैं जो सहायक न होकर तटस्थ रहते हैं। तुलसीदासजी के उपमान उदासीन भले ही हों पर प्रस्तुत के भाव के विरोधी नहीं होते। हमारे इस कथन में कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। उनका हम यथास्थान उल्लेख करेंगे। उत्प्रेक्षा और रूपक का व्यवहार तो तुलसीदासजी ने पग पग पर किया है। ये दोनों अलंकार इन्हें बहुत प्रिय जान पड़ते हैं। सौंदर्य या दृश्य-चित्रण के लिये तुलसीदासजी उपमा और उत्प्रेक्षा का व्यवहार करते हैं और भावना या क्रिया की गहनता द्योतित करने के लिये रूपक का। इन्हीं अलंकारों के सहारे उन्होंने अपनी कल्पना का विस्तार बहुत दूर तक बढ़ाया है। कवि-समय-सिद्ध उपमानों के अलावा नूतन उपमानों के प्रयोग की भी कमी नहीं है। प्रसिद्ध उपमानों के व्यवहार में भी विशेषता दिखाई गई है। नेत्रों के अनेक उपमानों में से एक कमल भी है। कमल तीन रंग के प्रसिद्ध हैं—लाल, नीले और श्वेत। तुलसीदासजी ने तीनों प्रकार के कमलों से रामचंद्रजी के नेत्रों की उपमा दी है—पर समझ बूझकर दी है, यों ही अललटप्पू नहीं। रामचंद्रजी के बालरूप का वर्णन करते हुए इन्होंने उनके नेत्रों की उपमा नील कमल से दी है—

"(१) नीलकमल दोउ नयन बिसाला।
(२) नील-कंज लोचन भव-मोचन।"

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बालनेत्रों एवं नीलकमल में सादृश्य एवं प्रभाव दोनों हैं। कज्जल-युक्त आँखों का आकार नील-कमल की पंखड़ी के समान होता है। यह हुआ रूप-सादृश्य। बालकों की बड़ी बड़ी आँखें चित्त को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं, श्याम रंग भी चित्ताकर्षक एवं हृदय को शीतल करनेवाला होता है। अतएव यह अत्यंत उपयुक्त उपमा है। यहाँ पर केवल कमल से उपमा देने में वह खूबी नहीं आती। इसी प्रकार वीर-वेश के वर्णन में उन्होंने लाल कमल से ही नेत्रों की उपमा दी है। वीर-भाव में आँखों का लाल होना स्वाभाविक है। अतएव रावण-वध के लिए उद्यत रामचंद्र विभीषण को इस प्रकार दिखलाई पड़ते हैं—

"भुज प्रलंब कंजारुण लोचन।
स्यामल गात प्रनत-भय-मोचन।"

रावण-हंता रामचंद्रजी की स्तुति करते हुए देवगण भी—

"चाप मनोहर तूणधरं, जलजारुण लोचन भूप वरं।"

ही कहते हैं। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि लाल कमल सौंदर्य का द्योतक है न कि उग्रता का। उग्रता द्योतित करने के लिये लाल कमल की उपमा कदापि उपयुक्त न होती। परंतु तुलसीदासजी के राम सत्त्वगुण-प्रधान थे, तमोगुणी नहीं। उग्रता तामसिक गुण है। उग्रता और वीरता दोनों पृथक् पृथक् हैं। वीरता में सौंदर्य है, उग्रता में भीषणता। तुलसीदासजी को रामचंद्रजी के रूप में भयंकरता दिखलाना अभीष्ट न था। उनके नेत्रों की लालिमा को उत्साह-जन्य समझकर वे रक्त-कमल से उनकी उपमा देते हैं। राम को हम रौद्र भाव में कहीं नहीं देखते। अतएव उनके नेत्रों की लालिमा की उपमा उग्रता-सूचक संतापदायक अग्नि के समान पदार्थों

से कहीं नहीं दी गई है। इस प्रकार तुलसीदासजी ने प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपमानों को भी बड़ी अनूठी उद्भावना के साथ विशेष विशेष प्रसंगों में बैठाया है। साधारण अवसरों पर योंही 'नीरज-नयन', 'सरद-सरोरुह-नैन' आदि कहकर छोड़ दिया है।

तुलसी के अप्रस्तुत में केवल रूप-सादृश्य का ध्यान नहीं रखा गया है। रूप-वर्णन में तो उनके उपमान ऐसे होते हैं जो वर्ण्य विषय का सजीव चित्र ही अंकित कर देते हैं—

"तुलसी-मन-रंजन रंजित-अंजन नैन सु-खंजन-जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै, नव नील सरोरुह से बिकसे॥"

प्रस्तुत के सौंदर्य के स्पष्टीकरण के लिये कैसी सुंदर कल्पना है! शशि और मुख, नेत्र और नील सरोरुह, दोनों में रूप-सादृश्य के साथ ही साथ प्रभविष्णुता भी है।

सौंदर्य-वर्णन में तो तुलसीदासजी उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार कर देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कवि का हृदय उपमानों का अक्षय भांडार है। ये उपमान या तो प्रकृति से लिए गए हैं या परंपराभुक्त हैं। ज्यों ही कवि को सौंदर्य की व्यंजना करनी होती है त्यों ही ये उपमान स्वभावत: निकल पड़ते हैं। सजावटवाले उपमानों की अपेक्षा प्रकृति से ग्रहण किए हुए उपमान प्रस्तुत के भाव को अनुरंजित करने में अधिक समर्थ होते हैं।

जानकी-बर सुंदर माई।
इंद्रनील-मनि-स्याम सुभग अँग अँग मनोजनि बहु छबि छाई॥
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत कछुक अरुनाई।
कंज-दलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सुसदसि बनाई॥
पीत जानु, उर चारु, जटित मनि नूपुर-पद, कल मुखर सोहाई।
पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई॥
किंकिनि कनक-कंज अवली मृदु मरकत-सिखर मध्य जनु पाई।

गई न ऊपर सभीत नमित मुख, बिकसि चहूँ दिसि रही लोनाई ॥
यज्ञोपवीत विचित्र हेममय मुक्तामाल उरसि मोहिं भाई ।
कंद तड़ित बिच जनु सुरपति-धनु रुचिर बलाक-पाँति चलि आई ॥
कंबु-कंठ चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहों दसनन की रुचिराई ।
पदुमकोस महँ बसे बज्र मनो निज सँग तड़ित अरुन रुचि लाई ॥
नासिका चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल, कचनि अनुपम छबि पाई ।
घेरि रहे राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदय डेराई ॥

तुलसीदासजी की सहृदयता की एक विशेषता यह भी है कि वे उन दृश्यों को नहीं भूलते जिनका माधुर्य भारतीयों के हृत्पट पर चिरंतन से अंकित है। किसी उत्सव को देखने की उत्कंठा से महल की अटारियों पर इकट्ठा होना भारतीय स्त्रियों का बहुत पुराना स्वभाव है। सीताजी के स्वयंवर को देखने की उत्कंठा से राजमहल की स्त्रियाँ महल की अटारियों पर चढ़ती हैं—

तुलसी मुदित-मन जनक-नगर-जन
झाँकती झरोखे लागीं सोभा रानी पावतीं ।
मनहुँ चकोरी चारु बैठीं निज निज नीड
चंद की किरन पीवें पलकें न लावतीं ॥

ऐसे दृश्यों में जो स्वाभाविक आकर्षण होता है उसी का निरीक्षण करके कवि ने प्राकृतिक वस्तुओं के आधार पर उक्त दृश्य का मनोहर चित्रण किया है। चकोर चकोरियों का टकटकी लगाकर चंद्रमा को देखना काव्य में प्रसिद्ध है। चंद्रदर्शनाभिलाषिणी नीडस्थ चकोरियों से रामचंद्रदर्शनाभिलाषिणी रानियों को फबती हुई उपमा देकर कवि ने सौंदर्य की अनुभूति कराने के साथ रामचंद्र पर उनकी अनुरक्ति भी दिखाई है।

जहाँ जहाँ रूप या अंग-शोभा का वर्णन किया है वहाँ वहाँ उत्प्रेक्षा और उपमा की बहुत अधिकता है, विशेषतः "रघुबर बाल

छवि" वर्णन में, उपमान सभी तरह के हैं। अधिकांश तो किसी न किसी भाव को पुष्ट करने के लिये लाए गए हैं। कवितावली के दो सवैयों में कवि ने रामचंद्रजी की निःस्पृहता, निरपेक्षता एवं संतोष के भाव को व्यक्त करने के लिये अत्यंत काव्योपयोगी उपमानों का प्रयोग किया है। उनमें से केवल एक सवैया उद्धृत करना पर्याप्त होगा—

"कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई॥
संग सुबंधु, पुनीति प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं॥"

सुग्गे वसंत में पुराने पंख गिराकर नवीन पंख धारण करते हैं, इसी प्राकृतिक व्यापार के आधार पर तुलसीदासजी कहते हैं कि जैसे सुग्गे को अपने पुराने पंखों को गिराने में कुछ भी खेद नहीं होता वैसे ही रामचंद्रजी को भी राजसी वस्त्राभूषण त्यागने में कुछ भी दुःख न हुआ। 'कीर-कागर' और 'राज-वस्त्र' दोनों में सादृश्य के साथ साथ सुंदरता की अनुभूति कराने की शक्ति भी है और दोनों, क्रिया की समता के द्वारा, निःस्पृहता का उत्कर्ष भी प्रदर्शित करते हैं। 'मगबास के रूख ज्यों' और 'पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई' इन दो उपमाओं के द्वारा अयोध्या और उसके निवासियों के प्रति राम की उदासीनता एवं निरपेक्षता व्यक्त करके कवि ने अप्रस्तुत-योजना में अपनी पटुता दिखाई है। अपने घर को छोड़ने में तो कष्ट होता है, पर मार्ग के वृक्ष और साथियों को छोड़ने में भला किसे कष्ट हो सकता है? 'बटाऊ की नाईं' में तो निरीहता की चरम सीमा हो गई है। इससे अधिक निरीहता की व्यंजना क्या हो सकती है?

प्रस्तुत वस्तु और अप्रस्तुत वस्तु का बिंब-प्रतिबिंब-भाव ही वर्ण्य रूप का पूर्णतः अनुभव कराने में सहायक होता है—

(१) नाभी-सरसि, त्रिबली निसेनिका, रोमराजि सेबाल छबि पावति।
उर मुकुतामनि-माल मनोहर मनहुँ हंस-अवली उड़ि आवति॥

(२) सतानंद सिख सुनि पाँय परि पहिराई,
माल सिय पिय हिय, सोहत सो भई है।
मानस तें निकसि बिलास सुतमाल पर,
मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है॥

इन उदाहरणों में 'सर', 'निसेनिका', 'सेबाल', और 'तमाल' में केवल आकृति-सादृश्य है, वस्तु-प्रतिवस्तु-धर्म नहीं। परंतु 'मुक्तामाल' और 'जयमाल' का 'हंस-अवली' से केवल वर्ण-सादृश्य ही नहीं प्रत्युत सौंदर्य्य की ओर भावना भी है। सौंदर्य की झलक दिखलाने के लिये सृष्टि के सुंदर पदार्थ की ही योजना की गई है।

कवि अपनी प्रतिभा के बल से अरुचिपूर्ण विषयों को भी रुचि-पूर्ण दृष्टि से देखता है, कुरूप वस्तुओं को भी अपनी ललित पदावली का आवरण देकर सुंदर बना देता है। राम के बाणों से घायल ताड़का खून से लथफथ होकर मर जाती है। पर कालिदास यह वीभत्स एवं अरुचिकारक दृश्य पाठकों के सामने रखना पसंद नहीं करते। वे कहते हैं—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गंधवद्रुधिरचंदनोक्षिता जीवितेश वसतिं जगाम सा॥

इसी प्रकार रावण-विजयी रामचंद्र रणभूमि में खड़े हैं। उनके शरीर पर राक्षसों के खून के छींटे पड़े हुए हैं। यह दृश्य रुचि-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। शरीर पर रक्त के छींटे देखकर मन में घृणा का भाव उदय होता है। परंतु कवि को इस वीभत्सता में भी सौंदर्य ही दृष्टिगोचर हो रहा है और वे अपने पाठकों के सामने भी ऐसा ही सौंदर्य रखना चाहते हैं—

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित-पटल समेत उडुगन भ्राजहीं॥
भुजदंड सर-कोदंड फेरत रुधिर-कन तन अति बने।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥

पहली उत्प्रेक्षा में 'नीलगिरि' में और 'जटाओं' में केवल वर्ण-सादृश्य है, परंतु 'उडुगण' में 'प्रसूनों' का केवल वर्ण-सादृश्य ही नहीं सौंदर्य-व्यंजन करने की शक्ति भी है। इसी प्रकार 'शरीर' और 'तमाल' में वर्ण-सादृश्य के अतिरिक्त सरसता भी है; पर 'रुधिरकन' और 'राय-मुनि' में केवल सादृश्य है। दूर से देखनेवाला तमाल पर बैठी हुई लाल रंग की रायमुनियों को इसी प्रकार देखेगा। प्रकृति के निरीक्षण का भी कवि ने यहाँ पर अच्छा परिचय दिया है।

दोनों कविपुंगवों ने अपनी कल्पना के द्वारा वीभत्स में भी सौंदर्य ला दिया है; परंतु यह मानना पड़ता है कि कालिदास का वर्णन अनुपम होने पर भी उसमें विरोधी रस की सामग्री अवश्य कुछ खटकती है, चाहे उसके कारण रस-विरोध न माना जाय।

'वीभत्स' में 'शृंगार' का मिश्रण करके भी कवि ने दूषण माने जानेवाले विरोध से अपने को बचा लिया है, पर प्रभाव की ओर दृष्टि नहीं रखी है। तुलसी चमत्कारवादी न थे। उन्होंने अपने आलंबन का जो सौंदर्य सब अवस्थाओं में देखा था उसी को उपर्युक्त छंद में व्यक्त किया है। तुलसीदास की कल्पना उनके हृदय के भावों से संबद्ध रहती है, किंतु कालिदास की कल्पना केवल सुंदर कवि-कल्पना कही जा सकती है। एक में अंतरनुभूति है, दूसरी में बाह्यानुभूति।

कवि रूखे—मानव-हृदय को न रुचनेवाले—पदार्थों को भी अपनी कल्पना से सरस कर देता है। इसका पूरा आभास हम गोस्वामीजी के इस पद में भी पाते हैं—

झलका झलकत पाँयन कैसे। पंकज-कोस ओसकन जैसे॥

किसी के पैरों में छाले पड़े देखकर सौंदर्य की भावना नहीं हो सकती, प्रत्युत हृदय में बड़ा कष्ट होता है और उसके प्रति सहानुभूति सी होने लगती है। परंतु यहाँ यह बात नहीं है। कमलपत्र में स्थित ओस-बिंदु और भरतजी के कमलवत् चरणों में पड़े हुए 'झलके'—पानी के फफोले—दोनों में गंभीर सादृश्य है। साथ ही उपमान द्वारा उपमेय में सुंदरता और सुकुमारता की व्यंजना भी हुई है।

सौंदर्य-वर्णन में उक्त-विषया वस्तूत्प्रेक्षा का प्रयोग तुलसीदासजी बहुत अधिक करते हैं। सौंदर्य की व्यंजना के लिये उनकी कल्पना कितनी उपयुक्त है इसके भी दो एक उदाहरण देना आवश्यक है—

(१) प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु-मंडल-डोल॥

(२) लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि औसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद-पटल बिलगाइ॥

दोनों उत्प्रेक्षाओं में चंद्रमंडल में खेलती हुई दो सुंदर मछलियों और बादलों को चीरकर निकलते हुए दो चंद्रमाओं के जो दृश्य लाए गए हैं वे प्रस्तुत दृश्यों की मनोहरता के अनुभव की वृद्धि करते हैं। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच सादृश्य की भावना अत्यंत माधुर्य-पूर्ण और स्वाभाविक है।

......अधर सुंदर, द्विज छबि अनूप न्यारी।
मनहुँ अरुन-कंज-कोस मंजुल जुग पाँति प्रसव
कुंदकली जुगल जुगल परम सुभ्रवारी॥
चिक्कन चिकुरावली मनो षडंघ्रि-मंडली
बनी, बिसेसि गुंजत जनु बालक किलकारी॥

इन उत्प्रेक्षाओं में कल्पना की उड़ान अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती। किसी भाव को बहुत बढ़ा हुआ देखकर उसको व्यक्त करने

के लिये जो नहीं है उसकी कल्पना की जाती है। यदि संभावना का आश्रय लिया जाय तो अतिशय होने पर भी कवि का प्रभाव बना रहता है। यथार्थता के न होने पर भी वस्तु के सौंदर्य आदि का महत्त्व बढ़कर प्रतीत होता है, अत: कल्पना संगत कही जा सकती है। आतिशय्य के कारण उत्प्रेक्षा में अनुपपत्ति नहीं रहती। इन उत्प्रेक्षाओं में उपमान यद्यपि प्राय: कविपरंपरानुगत ही हैं तथापि कवि ने इनका जो समीकरण किया है वह श्रोता के हृदय में सौंदर्य की अपरिमित भावना भर देता है।

भावना को उत्कर्ष पर चढ़ाने के लिये जिस प्रकार गोस्वामीजी ने उपयुक्त उपमानों का व्यवहार किया है उसी प्रकार किसी भावना को स्पष्ट करने के लिये भी वे बड़े उपयुक्त उपमान लाए हैं—

चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसुमृगी सभीत।

जिस प्रकार मृगी सशंकित होकर इधर उधर देखती हुई चौकड़ी भरती है उसी प्रकार सीताजी भी इस शंका से चारों ओर देखती हुई चलती हैं कि कहीं कोई उनके इस व्यापार को देख तो नहीं रहा है।

प्रस्तुत के भाव का उत्कर्ष करने के लिये तुलसी ने जिन उपमानों का प्रयोग किया है उनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनमें केवल वस्तु-प्रति-वस्तु धर्म है, सादृश्य बिलकुल नहीं। पर इस साधर्म्य से देखिए घृणा या विरक्ति की अनुभूति कितनी बढ़ गई है—

तुलसी अस बालक सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किए।
नर ते खर सूकर स्वान समान कहौ जग में फल कौन जिए॥

"वे मनुष्य महा नीच हैं" ऐसा कहने पर भी भाव की वह तीव्रता—घृणा एवं विरक्ति—नहीं हो सकती जो 'खर सूकर स्वान समान' कहने से हुई।

हनुमान् जी द्रोणाचल पर्वत हाथ में लेकर अत्यंत वेग से आकाश-मार्ग से उड़े जा रहे हैं। इस त्वरा का वर्णन करने के लिये

"मारुत को, मन को, खगराज को" उपमान मानकर भी कवि को प्रतीत हुआ कि इस त्वरा का गोचर दृश्य नहीं खड़ा हो पाया है। अत: वे एक अभिनव उपमान की कल्पना करते हैं—

"तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिए उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभलीक लसी कपि यों धुकि धायो॥"

इस बात को सभी जानते हैं कि कोई चीज जब अत्यंत वेग के साथ गमन करती है तो एक सीधी लकीर सी बन जाती है। यह कोई नई बात नहीं है। प्राय: रात को गिरते हुए तारों को देखने से यह आभास होता है मानो आग की एक लकीर सी नीचे उतर रही हो। इसी स्वभावसिद्ध व्यापार के आधार पर तुलसीदासजी ने उक्त उत्प्रेक्षा की योजना की है।

स्वाभाविक और प्रत्यक्ष-सिद्ध उपमानों के अतिरिक्त कवियों की परंपरा के अनुसार तुलसीदासजी कहीं कहीं ऐसे उपमान भी लाए हैं जिनका आधार कृत्रिम अर्थात् कुछ ग्रंथ या पुस्तकें ही हैं; जैसे—

"भाल बिसाल ललित लटकन बर बालदसा के चिकुर सुहाए।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन धाए॥"

परंतु ऐसे उपमान उतने काव्योपयोगी नहीं जँचते, क्योंकि नक्षत्रों के रूप-रंग आदि का सामान्यत: प्रत्यक्ष परिचय नहीं होता, केवल ज्योतिष के ग्रंथों में वर्णन मिलता है। गुरु शनि मंगल और चंद्र का रंग क्रम से पीत, श्याम, रक्त और श्वेत होता है या नहीं, कौन कह सकता है? इसी लिये यह उत्प्रेक्षा हृदय में जमती नहीं।

तुलसीदासजी को हम श्रद्धेय लाला भगवानदीनजी के शब्दों में 'रूपकों का बादशाह' कह सकते हैं। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में जब सादृश्य और साधर्म्य दोनों पाए जाते हैं तब एक का दूसरे में आरोपण किया जाता है। तात्पर्य यह कि 'रूपक' में अप्रस्तुत में प्रस्तुत का केवल रूप-सादृश्य ही नहीं वरन् उसमें प्रस्तुत के भाव को तीव्र

करने की पूरी शक्ति भी रहनी चाहिए। निरंग-रूपकों में सादृश्य, साधर्म्य तथा प्रभाव तीनों का ध्यान रह सकता है, परंतु सांग-रूपकों में—खासकर लंबे लंबे सांग-रूपकों में—दोनों का तो क्या एक का भी अंत तक निर्वाह होना बहुत बड़ी बात है। तुलसीदासजी ने जितने रूपक कहे हैं उतने बहुत कम कवियों ने कहे होंगे। सांग-रूपक बाँधने की तो उन्हें झक सी सवार हो जाती है। सौंदर्य एवं वेश-भूषा के वर्णन में वे उपमा और उत्प्रेक्षा का उपयोग करते हैं तो गंभीर विषयों में सांग-रूपक का। उनके ऐसे लंबे रूपक किसी कवि ने नहीं लिखे। लंबे रूपकों में भी सादृश्य और साधर्म्य दोनों का निर्वाह जितना तुलसीदासजी ने किया है उतना और कोई कवि नहीं कर सका। इस संबंध-निर्वाह में कहीं कहीं रूपकों के 'महारथी' भी फिसल गए हैं; किसी किसी स्थल पर तो भावोद्रेक की शक्ति की तो बात ही क्या सादृश्य और साधर्म्य दोनों में से एक भी पूरे पूरे नहीं उतरते। उक्त विवेचना के अनुसार ही हम तुलसीदासजी के कुछ रूपकों की समीक्षा करेंगे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि तुलसीदासजी ने गंभीर विषयों के लिये रूपकों का व्यवहार किया है। रामचरित-मानस में अयोध्याकांड गंभीर विषयों से भरा पड़ा है। इसी लिये इसमें उन्हें स्थान स्थान पर रूपक की शरण लेनी पड़ी है। मंथरा के द्वारा सिखाई-पढ़ाई कैकेयी कोप-भवन में जाती है। उसकी इस करतूत का क्या परिणाम होगा, यह वह नहीं जानती। कारण और कार्य के बीच देश-काल के व्यवधान को तुलसीदासजी रूपक द्वारा प्रत्यक्ष कर देते हैं—

बिपति बीज बरषा रितु चेरी। भुइँ भई कुमति कैकेई केरी॥
पाइ कपट-जलु अंकुर जामा। बर दोउ दल दुख फल परिनामा॥

यहाँ विपत्ति और बीज, वर्षा ऋतु और चेरी आदि में रूप-सादृश्य तो नहीं है किंतु अनुगामी धर्म सबमें वर्तमान हैं। इसी प्रकार

कैकेयी के प्रचंड क्रोध को व्यक्त करने के लिये वे क्रोध को तलवार का रूप देते हैं—

आगे दीखि जरत रिसि भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥
मूठ कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा॥

यहाँ भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत में परस्पर अनुगामी धर्म मात्र है—सादृश्य नहीं; पर भीषणता का प्रभाव पूरा पूरा है। अंतिम पंक्ति '...कराल कठोरा' 'सत्य कि जीवन लेइहि मोरा' से क्रोध की प्रचंडता प्रत्यक्ष सी हो जाती है। आगे चलकर जब क्रोध की भीषणता और बढ़ जाती है तब एक बरसाती नदी से क्रोध का रूपक बाँधकर तुलसीदासजी उसका परिणाम आखों के सामने ले आते हैं—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप-पहार प्रगट भई सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन-प्रचारा॥
ढाहति भूप-रूप तरु-मूला। चली बिपति बारिधि-अनुकूला॥

इस रूपक में पाप और पहाड़ एवं क्रोध और जल में अनुगामी धर्म है। इसी प्रकार बर और कूल, हठ और धारा, भँवर और कूबरी-वचन-प्रचार, भूप और तरु एवं विपत्ति और वारिधि में भी वस्तु-प्रतिवस्तु-धर्म ही है। बरसाती नदी का स्मरण आते ही आँखों के सामने उसके द्वारा होनेवाले सर्वनाश का चित्र सा खिंच जाता है। इस सांग-रूपक के द्वारा कैकेयी के क्रोध के भावी परिणाम की भयंकरता गोचर हो जाती है।

काव्याभ्यासी लोग रोष का रूपक तरंगिणी से बाँधा गया देखकर नाक भौं सिकोड़ सकते हैं; क्योंकि परंपरा के अनुसार अग्नि को क्रोध का उपमान माना जाता है। दोनों में साधर्म्य है, अतः यह ठीक भी है। पर कैकेयी का क्रोध वीरों का क्रोध

नहीं है। इसमें भयंकरता न होकर कुटिलता है, साथ ही स्त्री-चरित्र की अगाधता एवं अविचारिता बाढ़ की नदी के साथ रूपक बाँधने से अच्छी तरह व्यक्त हो जाती है।

कैकेयी के दुःसंकल्प एवं उसके कर्म की भीषणता का कैसा स्पष्ट चित्र इस रूपक में मिलता है—

भूप-मनोरथ सुभग बन, सुख सुबिहंग समाज।
भिल्लिनि जिमि छाँड़न चहति, बचन भयंकर बाज॥

मनोरथ एवं उपवन दोनों से ही हमारे मन में सुंदरता का भाव उठता है। जिस प्रकार वन में रंग-बिरंगे अनेक प्रकार के पक्षी होते हैं उसी प्रकार सुख भी नाना प्रकार के होते हैं। कैकेयी इस समय भिल्लिनी के समान भयंकर रूप धारण किए हुए है। जिस प्रकार बाज पक्षियों का घातक होता है उसी प्रकार कैकेयी के वचन भी राजा के सुखों के लिये घातक सिद्ध हो रहे हैं। इस प्रकार इस रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में वस्तु-प्रतिवस्तु-धर्म तो है ही, प्रभाव भी दोनों का प्रत्यक्ष है।

भरतजी की निरीहता एवं विरक्ति का ठीक ठीक अनुमान कराने के लिये रूपक का सहारा लेकर वे कहते हैं—

संपति-चकई भरत-चक, मुनि-आयसु-खेलवार।
तेहि निसि आश्रम-पींजरा, राखे भा भिनुसार॥

सचमुच यह संयम 'योगिनामप्यगम्यः' है। इस रूपक में संपत्ति और चकई, भरत और चक, मुनि-आयसु और खिलवार सब में परस्पर न तो किसी प्रकार का सादृश्य ही है न साधर्म्य ही, केवल आश्रम-पींजरा में साधर्म्य वर्तमान है। इस दृष्टि से तो यह रूपक साधारण है। पर जब प्रभाव पर हमारी दृष्टि पड़ती है तब इस रूपक की सफलता स्वीकार करनी पड़ती है। जिस प्रकार रात के समय एक ही पिंजड़े में रहते हुए चकवा चकई की ओर से निरपेक्ष

रहता है उसी प्रकार अवसर मिलते हुए भी भरतजी ने सुख-विलास की ओर से एकदम उपेक्षा का भाव प्रकट किया। अतएव फल की दृष्टि से उत्तम होते हुए भी, सादृश्य-साधर्म्य के अभाव के कारण, हम इसे मध्यम श्रेणी का रूपक कहेंगे।

तुलसीदासजी ने बहुत लंबे लंबे रूपक कहे हैं। रामचरित और मानसरोवर का रूपक तो इतना लंबा है कि कदाचित् ही उसके जोड़ का और कोई रूपक मिल सके। ज्ञानदीपक, चित्रकूट का आश्रम-सागर, तीर्थराज आदि अनेक और भी बड़े अच्छे रूपक हैं। इन सब रूपकों के द्वारा भावों की गहनता द्योतित करना ही उनको अभीष्ट था। इनमें कहीं कहीं तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत में केवल रूप, रंग या आकृति का सादृश्य है, कहीं वस्तु-प्रतिवस्तु-धर्म ही है और कहीं दोनों वर्तमान हैं। पर प्रत्येक रूपक तो प्रस्तुत-वस्तु के भाव को स्पष्ट करने या तीव्र करने में सहायक है। अनेक रूपकों में प्रायः तुलसीदासजी प्रकृति के व्यापारों से ही अपना अप्रस्तुत चुनते हैं—

बोरति ज्ञान-बिराग-करारे। बचन ससोक मिलत नद नारे॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट-तरुबर कर भंगा॥
बिषम बिषाद तुरावति धारा। भय भ्रम भँवरावर्त अपारा॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ अइकु नहिं आवा॥
बनचर कोल-किरात बेचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई॥

आश्रम सागर सांतरस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना-सरित, लिए जाहिं रघुनाथ॥

बरसाती नदी के समुद्र में गिरते ही मुहाने में खलबली मच जाती है। समुद्र में दूर तक का पानी नदी के प्रभाव से गँदला हो जाता है। गोस्वामीजी में सृष्टि-व्यापिनी सहृदयता है, इसी लिये

उन्होंने अपने सादृश्य-विधान में प्राकृतिक व्यापारों का ही उपयोग किया है। शांतरस का समुद्र भी करुणा-सरिता के मेल से करुणामय हो जाता है, पाठक भी पढ़ते पढ़ते शोक में निमग्न हो जाते हैं। तुलसीदासजी की यही विशेषता है। यह रूपक सृष्टि के व्यापारों के साथ उनके हृदय का पूर्ण सामंजस्य प्रमाणित करता है। वे अपने अप्रस्तुत-विधान में प्रकरण-प्राप्त सामग्रियों का उपयोग करने से नहीं चूकते।

जनकपुर में रामचंद्रजी के प्रताप के प्रभाव से अन्यान्य राजा लोग हतप्रभ हो गए थे। इस बात को तुलसीदासजी राम को 'सूर्य' मानकर गोचर करते हैं—

उदित उदय-गिरि-मंच पर, रघुबर-बाल-पतंग।
बिकसे संत-सरोज सब, हरषे लोचन-भृंग॥

नृपन केरि आसा-निसि नासी। बचन-नखत-अवली न प्रकासी॥
मानी-महिप-कुमुद सकुचाने। कपटी-भूप - उलूक लुकाने॥
भए बिसोक कोक-मुनि-देवा।..........................॥

उपर्युक्त दोहे में सांग-रूपक का बड़ा अच्छा निर्वाह है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में आद्यंत सादृश्य, साधर्म्य और कल्पना का प्रभावशाली सौंदर्य है। शेष पंक्तियों में भी उपमान और उपमेय का अनुगामी धर्म वर्तमान है। उनमें रूपादि का सादृश्य न होकर केवल क्रिया का सादृश्य है। इतनी भिन्न भिन्न क्रियाओं को एक साथ क्रियमाण दिखलाना ही कवि का अभिप्राय है। क्रियाओं के प्रति उपयुक्त घृणा इत्यादि की व्यंजना की क्षमता केवल 'उलूक' में है, अन्य उपमानों में नहीं। सादृश्य के अतिरिक्त प्रस्तुत-वस्तु के प्रति जागरित भाव को उद्दीपित करने की शक्ति रखनेवाले उपमान ही वास्तव में उक्ति को मनोरस बनाते हैं। उदाहरणार्थ संदेह, भ्रांति और रूपकातिशयोक्ति को लीजिए। समान रूप-रंगवाले पदार्थों में कभी कभी

एक में दूसरे की 'भ्रांति' हो जाती है। अंधेरे में टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर प्राय: साँप का भ्रम हो जाता है। साहित्य में 'भ्रांति' अलंकार का ढाँचा तो यही रहता है, परंतु केवल रूप और आकार के सादृश्य एवं इंद्रियजन्य दोष आदि के कारण जो 'भ्रम' होता है वह अलंकार में स्थान नहीं पा सकता। अँधेरे में रस्सी तभी तक साँप प्रतीत होती है जब तक प्रकाश नहीं रहता, पांडु रोग-ग्रस्त व्यक्ति को तभी तक श्वेत वस्तुएँ पीली जान पड़ती हैं जब तक वह रोग-मुक्त नहीं होता।—

सरद-चाँदनी सँचरति चहुँ दिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि॥

इसमें सीताजी का भ्रम विरहजन्य प्रमाद है, अत: आचार्यों के—"मर्म-प्रहारकृत-चित्तविक्षेप-विरहादिकृतोन्मदादि-जन्य भ्रांतेश्च नालंकारत्वम्।" इस मत के अनुसार यह 'भ्रम' अलंकार नहीं है। काव्य के भ्रम में कल्पना का प्रभाव अवश्य मिला रहता है। केवल भ्रम में वस्तु का अत्यंत सादृश्य ही पाया जाता है। इससे बढ़कर दो वस्तुओं का सादृश्य और क्या हो सकता है कि देखनेवाला सामने की वस्तु को वह पदार्थ समझ ले जो वह वस्तुत: नहीं है। पर सादृश्य ही इसके लिये यथेष्ट नहीं। जहाँ सदृश अप्रस्तुत लाने में कवि का उद्देश्य प्रस्तुत के प्रति जागरित भावना का उत्कर्ष-साधन होता है वहीं वास्तव में अलंकारत्व रहता है—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं। नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा। मरंदलुब्धातिकिशोरमाला॥

पंडितराज जगन्नाथ के उक्त पद्य में 'भ्रांति' स्पष्ट शब्दों में तो नहीं कही गई है; परंतु नदी तट पर तरुणी के सहास मुख और पानी में खिले कमल को देखकर रसलोभी भ्रमरों के दोनों ओर दौड़ने से "भ्रांति" अलंकार व्यंग्य है। तुलसीदासजी का एक उदाहरण लीजिए—

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न जगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रति-नायक है॥

राम के हाथ में पाँच बाण देखकर हिरनों को उनमें कामदेव का भ्रम हो जाता है। केवल अपूर्व सौंदर्य के ही कारण उन्होंने राम को कामदेव नहीं मान लिया, वरन् अपने अलंकार-निर्वाह के लिये पाँच शरों की संख्या भी युक्ति से पूरी कर दी। अब भला भ्रम क्यों न हो?

राम वन में विचरण कर रहे हैं। उनके श्याम वर्ण को देखकर मयूरों को बादल का भ्रम हो जाता है। अतः वे नाचने लगते हैं—

देखे राम पथिक नाचत बन मोर।
मानत मनहु सतड़ित-ललित घन, धनु सुर-धनु गरजनि टंकोर॥

उत्प्रेक्षा और रूपक के द्वारा 'भ्रम' के और भी कारण खड़े हो गए हैं। पीतांबर में बिजली का, धनु में सुर-धनु का, टंकार में गर्जन का रूप-सादृश्य तो है ही, साथ ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का प्रकृत सौंदर्य समान भाव को जागरित करनेवाला एवं चित्ताकर्षक है।

सादृश्य में 'भ्रम' की तरह संदेह भी हो सकता है। अंधकार में रस्सी को देखकर संदेह होता है कि यह रस्सी है या साँप। यही अनुभव संदेहालंकार का मूल-तत्त्व है। 'संदेह' और 'भ्रम' में अंतर केवल इतना ही है कि संदेह में हमारा निश्चय किसी एक पदार्थ में नहीं जमने पाता, परंतु भ्रम में हमारा अयथार्थ ज्ञान निश्चय के रूप में रहता है। संदेह भी अलंकार तभी हो सकता है जब उससे प्रस्तुत के प्रति जागरित भाव का उत्कर्ष हो। केवल "यह मनुष्य है या खंभा" कहने में अलंकारत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों में समान भाव को जागरित करने की शक्ति नहीं है। पर

यदि हम कहें कि 'यह वधिक है या यमदूत' तो दोनों में समान भाव का उद्रेक करने का सामर्थ्य होने के कारण यहाँ संदेह-अलंकार माना जायगा।

ए कौन कहाँ ते आए।
नील-पीत-पाथोज-बरन, मन-हरन सुभाय सुहाए।
मुनि-सुत किधौं भूप-बालक, किधौं ब्रह्मजीव जग जाए।
रूप-जलधि के रतन, सुछबि-तिय-लोचन, ललित ललाए।
किधौं रबि-सुवन, मदन-रितुपति, किधौं हरिहर बेष बनाए।
किधौं आपने सुकृत-सुरतरु के सुफल रावरे पाए।

यहाँ सभी अप्रस्तुतों और प्रस्तुत—राम लक्ष्मण—में सादृश्य-साधर्म्य की अव्यक्त सौंदर्यानुभूति करानेवाली शक्ति की पर्याप्त मात्रा है।

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर-रस बीर तरवारि सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस-चाप कैधौं दामिनी-कलाप,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।

इस उदाहरण में उपमेय और उपमान में सादृश्य एवं साधर्म्य दोनों मौजूद हैं, ज्वालजाल-युक्त कराल विशाल पूँछ, काल-रसना, धूम-केतु, तलवार, कृशानु-सरिता आदि में बिंब-प्रतिबिंब-भाव भी है और दाहकत्व एवं संहारकत्व में वस्तु-प्रतिवस्तु-धर्म भी। उक्त संदेह अलंकार के द्वारा प्रस्तुत अग्निकांड का अच्छा निदर्शन किया गया है।

जब प्रस्तुत और अप्रस्तुत में इतनी अधिक समता होती है कि दोनों में भेद रहते हुए भी भेद नहीं प्रतीत होता—भेदेऽप्यभेदः—तब रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है। तुलसीदासजी की रूपकातिश-योक्तियाँ भी अति मनोहर हैं। इनके द्वारा वे ऐसी रमणीय प्राकृतिक

वस्तुओं को अप्रस्तुत बनाते हैं कि उनका कथन, एक साधारण पहेली या खिलवाड़ न रहकर, हृदय को सौंदर्य की भावना में निमग्न कर देता है।

राम सीय-सिर सेंदुर देहीं। उपमा कहि न जाय कबि केहीं॥
अरुण पराग जलज भरि नीके। ससिहिं भूष अहि लोभ अमी के॥

सभी उपमान प्रसिद्ध हैं। इसी से दृश्य आँखों के सामने नाचने लगता है। परंतु यह एक ऐसा अलंकार है जिसमें कवि नए अप्रसिद्ध उपमानों का उपयोग नहीं कर सकता। ऐसा करने से पद्य दुर्बोध हो जायगा। तुलसीदासजी कोरा वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शित करने अथवा खिलवाड़ करने के लिये अलंकारों का प्रयोग नहीं करते थे। उपर्युक्त दोनों उक्तियों में सौंदर्य का कैसा मनोहर चित्र है, यह किसी से छिपा नहीं है।

तुलसीदास के अलंकारों का प्रयोग अनर्गल—केवल चमत्कार की दृष्टि से ही—नहीं होता, वे इस कार्य के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। राम सीता को वन में ढूँढ़ते फिर रहे हैं। वन के पशु-पक्षियों में सीता के भिन्न भिन्न अंगों की समता देखकर उनको सीता का स्मरण होता है। ऐसे अवसर पर उन्होंने रूपकातिशयोक्ति को अपने प्रबंध में इस स्वाभाविक ढंग पर बैठाया है कि वर्णन केवल अलंकार मात्र नहीं जान पड़ता—

खंजन, शुक, कपोत, मृग-मीना। मधुप-निकर, कोकिला प्रबीना॥
कुंदकली, दाड़िम, दामिनी। शरद-कमल, शशि, अहि-भामिनी॥
वरुण-पाश, मनोज, धनु, हंसा। गज, केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल, कमल, कदलि, हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

यहाँ प्रकरण-प्राप्त वस्तुएँ भी अलंकार-सामग्री का काम दे रही हैं। सभी अप्रस्तुत वन के भीतर ही प्रस्तुत हैं। जायसी, सूर

आदि की तरह केवल नख-शिख-वर्णन करने के ही अभिप्राय से उन्होंने सीता के शरीर को "अद्‌भुत एक अनूपम बाग" या "अजायब-घर" बनाने का प्रयत्न नहीं किया है।

प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने के लिये तुलसीदास ने केवल उन्हीं उपमानों का उपयोग नहीं किया है जो परंपरागत उपमानों के गोदाम से लिए गए हैं। काव्यानुभूति का सर्वांग-सुंदर चित्र वहीं प्रस्फुटित होता है जहाँ कवि की स्वत: अनुभूति का उसके विचारों से सामंजस्य हो। यह अनुभूति जितनी विस्तृत होती है उतना ही प्रतिपाद्य विषय आकर्षक हो जाता है। चंद्रमा, कमल, हंस और कोकिल को सुनते-सुनते समाज के कान थक गए हैं। अत: सौंदर्य की कल्पना में उनका कोई विशेष मूल्य नहीं। ये पुराने उपमान तो केवल ऊहात्मक व्यंजना की सामग्री मात्र हैं। नवीन उपमानों के संयोग से वर्ण्य विषय में नवीनता प्रतीत होती है और हृदय पर उनका प्रभाव भी चर्वित-चर्वण किए हुए उपमानों से अपेक्षाकृत स्थायी होता है। गोस्वामीजी ने कई स्थलों पर इस प्रकार के नए उपमानों का समावेश किया है। ये उपमान भर्ती के न होकर अन्य उपमानों की भाँति प्रस्तुत के प्रति भाव को जागरित एवं उत्कृष्ट करने की शक्ति रखते हैं। कवितावली का एक उदाहरण लीजिए—

कह्यो मत मातुल बिभीषनहु बार बार;
आँचर पसारि पिय पाँइ लै लै हौं परी।
विदित बिदेहपुर, नाथ ! भृगुनाथपति;
समय सयानी कीन्हीं जैसी आइ गौं परी॥
बायस, बिराध, खर, दूषन, कबंध, बालि;
बैर रघुबीर के न पूरी काहु की परी।
कंत बीस-लोचन बिलोकिए कुमंत फल;
ख्याल लंका लाई कपि राँड की सी झोपरी॥

राँड़ की असहाय एवं अरक्षित झोंपड़ी में आग लगा देना कितना सरल होता है ! इस नूतन अप्रस्तुत के द्वारा हनुमान् के पराक्रम और उनके कार्य की सुगमता की व्यंजना की गई है। रक्षकों और पहरेदारों के रहते हुए भी हनुमान् ने लंका को राँड़ की लावारिस कुटिया की तरह पल भर में फूँक दिया और सब देखते रह गए।

राजाओं के द्वारा धनुष न टूट सकने पर जब जनक ने व्यंग्य वचन कहे तब अभिमानी राजाओं की दशा इस प्रकार हुई—

जनक बचन छुए बिरवा लजारू के से,
बीर रहे सकल सकुच सिर नाइ कै।

यहाँ क्रिया की समता के द्वारा लज्जा का उत्कर्ष ठीक बिंब-प्रतिबिंब रूप में है।

भूखे एवं दीन दरिद्र भोजन को देखते ही उस पर किस प्रकार टूट पड़ते हैं, यह दृश्य कवि ने एक बार नहीं अनेक बार देखा होगा। इस साधारण बात को अप्रस्तुत बनाकर तुलसी ने भाव को कितना स्पष्ट कर दिया है। देखिए—

रोप्यो रन रावन, बोलाए बीर बानइत,
जानत जे रीति सब संजुग समाज की।
चली चतुरंग चमू, चपरि हने निसान,
सेना सराहन जोग रातिचर-राज की॥
तुलसी बिलोकि कपि भालु किलकत,
ललकत लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की।
राम-रुख निरखि हरखे हिय हनुमान,
मानो खेलवार खोली सीसताज बाज की॥

(कवितावली)

कंगालों का भोजन पर टूट पड़ना और वानर-भालुओं का राक्षसों पर टूटना एक ही बात नहीं है। परंतु कवि का अभिप्राय उनकी उत्सुकता दिखलाना ही है। भूखा भोजन के लिये लालायित रहता है, वीर शत्रु से लड़ने के लिये। यहाँ भी क्रिया में बिंब-प्रतिबिंब-भाव है।

यहाँ तक तुलसीदासजी के अप्रस्तुत-रूप-विधान के संबंध में विचार करते हुए उनके पक्ष में हम बहुत कुछ कह चुके हैं। उन्होंने जहाँ कहीं भी अप्रस्तुत का विधान किया है वहाँ वह भाव या विषय के अनुरूप है और अर्थ-विस्तार में सहायक है। इतना होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि तुलसीदासजी परंपरा-पालन से अछूते न रह सके। अतएव कहीं कहीं रूढ़ि का अनुसरण करने के कारण अलंकारों में भद्दापन आ गया है। हनुमान्‌जी पूँछ से पकड़कर राक्षसों को अग्निकुंड में पटक देते हैं—

तुलसी समिध-सौंज, लंक जज्ञ-कुंड लखि,
जातुधान पुंगीफल, जव तिल धान हैं।
स्रुवा सो लंगूल बलमूल प्रतिकूल हवि,
स्वाहा महा हाँकि हाँकि हुने हनुमान हैं॥

यहाँ केवल कवि के अभिप्रेत विषय में सादृश्य है, और किसी बात में नहीं। प्रस्तुत दृश्य वीभत्स रस के दृश्य को सामने लाता है तो अप्रस्तुत ठीक उसके विरोधी शांत रस के दृश्य को। इसी प्रकार दो एक और भी छंद हैं जिनमें प्रस्तुत रस के विरुद्ध सामग्री का आरोप किया गया है।

हाट बाट हाटक पिघिलि चलो घी सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति ताप सों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों॥

पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो,
हनुमान सनमानि कै जेंवाए चित चाय सों।
तुलसी निहारि अरिनारि दै दै गारि कहैं,
बावरे सुरारि बैर कीन्हों राम राय सों॥

इसमें अग्निदेवता को एक निमंत्रित अतिथि के रूप में कल्पित करना भोजन की वीभत्स सामग्री के अनुकूल नहीं है। भूत, प्रेत, योगिनी, डाकिनी, शाकिनी, किंवा कालिका, भैरव आदि को पाहुना मानना ऐसे प्रसंगों में अधिक उपयुक्त होता है। निम्न-लिखित छंद में ऐसा किया भी है—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मुंड के कमंडलु, खपर किए कोरि कै।
जोगिनि झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कै॥
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥

पर इस उदाहरण में भी अप्रस्तुत वस्तु प्रस्तुत की सहायक न होकर उसके विरोधी भाव की ओर खींच ले जाती है। इस वीभत्स दृश्य में तीर्थस्थान और तपस्विनियों का वर्णन अत्यंत अरुचिकर प्रतीत होता है। बात यह है कि यहाँ कवि का ध्यान अपने तात्पर्य के उत्कर्ष के प्रति रहा है। अतएव वे भाव के स्वरूप का उतना ध्यान नहीं रख सके। इस प्रकार के आरोप भावोद्रेक में बाधक होते हैं, इसमें संदेह नहीं।

एकाध जगह सांग-रूपकों में शिष्ट रुचि का परिचय नहीं मिलता—

रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर,
दिन दिन बढ़त सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर-सिद्ध-मुनि,
होत न बिसोक, श्रोत पावै न मनाक सो॥
राम की रजाय तें रसायनी समीर-सूनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो॥

भला बतलाइए विराट् के उर में रोग की कल्पना का कहाँ तक विश्वास आ सकता है। इस रूपक के अनुसार विराट् एक आधि-व्याधि से पीड़ित होनेवाला कोई साधारण व्यक्ति है। यदि विराट् को अनंत विश्व के अर्थ में लें तो बात उतनी नहीं खटकती। कहीं कहीं तो केशवदासजी की भाँति शब्दों की कलाबाजी पर ही तुलसीदास ने भी सादृश्य दिखलाने का प्रयत्न किया है—

बिबिध-बाहिनी-बिलसित सहित अनंत।
जलधि-सरिस को कहै राम भगवंत॥

यहाँ 'बाहिनी' और 'अनंत' शब्द के श्लेष पर ही राम को जलधि कहने में कोई भी रमणीयता नहीं प्रतीत होती।

सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।
मरयादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुर-बासी॥
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अबिनासी।
अंतर-अयन अयन भल, थन फल, बच्छ बेद-बिस्वासी॥
गलकंबल बरुना बिभाति जनु लूम लसति सरिता सी।
दंडपानि भैरव विषान मलरुचि खलगन भयदा सी।
लोल-दिनेस त्रिलोचन लोचन करनघंट घंटा सी।
मनिकर्निका बदन ससि सुंदर सुरसरि सुखमा सी॥

इस उदाहरण में वर्णित अप्रस्तुतों का काशीरूपिणी कामधेनु के अंगों आदि से न तो वस्तु-प्रतिवस्तु-धर्म है और न बिंब-प्रतिबिंब-भाव ही। त्रिलोचन लोचन, अंतर-अयन अयन, करनघंट घंटा, में शब्द-साम्य अलबत्ता है। विनयपत्रिका में इसी प्रकार का एक और रूपक "देखो देखो बन आजु बन्यो उमाकंत" है। ऐसे रूपकों में न तो प्रतिभा खर्च होती है, न किसी उद्देश्य की पूर्ति ही होती है। केवल एक दूसरे से असंबद्ध कुछ शब्दों की एक साथ योजना करके रूपक के अंगों की पूर्ति कर दी जाती है। उनमें सादृश्य, साधर्म्य अथवा शक्ति है या नहीं, इस बात का कोई ध्यान नहीं रखा जाता।

कहीं कहीं पर गोस्वामीजी की लोकपथ-प्रदर्शिका वृत्ति चित्त को काव्य-पथ से हटाकर नैतिक उपदेश की ओर खींच ले जाती है और पाठक गोस्वामीजी की प्रवृत्ति के साथ संपूर्ण धर्मनीति का सुस्वप्न देखने लगते हैं। उस समय की उपमाओं में वह काव्यानंद नहीं जो प्राकृतिक दृश्य-वर्णन द्वारा होना चाहिए। वर्षा होते हुए देखकर यह कहना—

वर्षहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए॥
बुंद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥
अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जिमि सुराज्य खल उद्यम गयऊ॥

अथवा शरद् के प्रसंग में कहना—

उदित अगस्त पंथ-जल सोखा। जिमि लोभहि सोखै संतोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत-मद मोहा॥

उक्त कथन के प्रमाण हैं और प्रस्तुत दृश्य के चित्रण में सहायक नहीं होते। इनमें प्रकृति-वर्णन शिथिल हो गया है और नीति का उपदेश प्रबल हो गया है। वर्णनीय विषय अर्थ का ग्रहण मात्र हुआ है बिंब-ग्रहण नहीं। यहाँ गोस्वामीजी कवि न होकर उपदेशक के रूप में व्यक्त होते हैं।

कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ कवि के तात्पर्य के विषय में तो पूरा सादृश्य है, अन्य किसी बात में नहीं।

(१) सुरसरि-धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक-पोतक-डाकिनि ॥
(२) सुनिय तासु गुण-ग्राम, जासु नाम अघ-खग-बधिक।
(३) सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं ॥
(४) रामरुख निरखि हरखे हिय हनुमान,
मानो खेलवार खोली सीसताज बाज की।

इन चारों उदाहरणों में उपमान की हीनता बहुत खटकती है। गंगा को डाकिनी, रामनाम को बधिक, कहने से मन में श्रद्धा का भाव नहीं उदय होता। परंपरित रूपक होने से ही इसको निर्दोष मानने से काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार लक्ष्मण की उपमा अविवेकी पुरुष से देना उचित नहीं प्रतीत होता। चौथे उदाहरण में भी राम को खेलवार (शिकारी) और हनुमान् को बाज मानना भी काव्योपयोगी नहीं जँचता।

सारांश यह कि परिपाटी का अनुसरण करने एवं सामयिक प्रगति से प्रभावित होने के कारण कुछ स्थल ऐसे भी आ ही गए हैं जिनसे गोस्वामीजी के काव्य का कुछ भी उत्कर्ष नहीं होता। आखिर वे भी मनुष्य ही थे; काल के प्रवाह से और तत्कालीन रुचि से अपने को कहाँ तक बचाते? इनकी विस्तृत रचना में इने गिने कुछ ऐसे स्थल इनकी विशेषताओं में, चंद्रमा की किरणों में कालिमा की तरह, विलीन हो जाते हैं। इससे अप्रस्तुत-रूप-विधान में उनको जो अद्भुत सफलता मिली है उस पर संदेह नहीं किया जा सकता।

तुलनात्मक

जब हम बिंब-प्रतिबिंब-भाव में अपने कवि-परंपरागत अथवा स्वानुभूति-जन्य अप्रस्तुत का समावेश करते हैं तब हमें यह जान

लेना परम आवश्यक है कि अन्य कवियों की अंतर्दृष्टि भी उस अंतस्तल तक पहुँच सकी है या नहीं, जहाँ से गोस्वामीजी ने अपने अप्रस्तुतों की कल्पना की है। कल्पना किसी व्यक्ति-विशेष की संपत्ति नहीं है। प्रतिभा के बल से यही कल्पना ऐसे दुरूह विषयों में भी जान डाल देती है जो बिलकुल नीरस होते हैं। अन्य भाषाओं के कवियों की कल्पना की दूरारूढ़ता पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि गोस्वामीजी ने उस निरर्थक कल्पना का आश्रय नहीं लिया है जिसके द्वारा आत्मव्यंजना न होकर केवल रीतिकारों के नियमों का परिपालन-मात्र ही होता है। इससे शब्द-चमत्कृति भले ही हो जाय किंतु लोकोत्तर आनंद की सृष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक सादृश्य-वाचक उपमान इतना सुंदर न हो कि हम उसमें भी उपमेय के भाव को उतनी ही या उससे भी अधिक मात्रा में आरोप कर सकें, जो प्रस्तुत से होता हो, तब तक उस उपमान की शक्ति का कुछ मूल्य नहीं है। किसी भाव को सदा के लिए हृदयंगम करा देना कवि का ध्येय होता है। यह तभी हो सकता है जब कवि अपने आदर्श भावों के साथ प्रकृति की उन विशेष सामग्रियों का सामंजस्य स्थापित करता है, जो हमारी ज्ञानेंद्रियों को केवल बाह्य आनंद ही न देकर हृदय में भी आनंद का संचार कर देती हैं।

जिस ऊहात्मक व्यंजना की नींव पर फारसी अथवा उर्दू के कवियों ने अपनी साहित्य-भित्ति खड़ी की है, उससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उन्होंने चाहे 'बुलबुल' और 'नर्गिस' को अध्यात्मवाद का चोला पहिना दिया हो और वास्तविक गंदे प्रेम को "इश्क-हकीकी" कहकर अभिहित किया हो, किंतु उन कवियों की मानसिक कुप्रवृत्तियों का सच्चा स्वरूप उनमें प्रकट हो जाता है। भारतीय कवियों में और फारसी कवियों में यही भेद है कि भारतीय कवि

जो कुछ कहते हैं वह स्पष्ट एकार्थी होता है; किंतु फारसी कवि जो कुछ कहते हैं वह द्व्यर्थी होता है अर्थात् उनकी व्यंजना में व्याख्या (Interpretation) की आवश्यकता होती है। उनकी उन कुप्रवृत्तियों के कारण ही उनके उपमान भी कोई नैसर्गिक पदार्थ न होकर केवल साधारण वस्तुएँ होती हैं, जैसे किसी के सुंदर गले की उपमा वे "सुराही" या "कुलकुले मीना" से ही देते हैं, भारतीय कवियों की तरह ग्रीवा-सौंदर्य का आरोप 'कपोत' अथवा 'शंख' में नहीं करते। अपने प्रियतम के लिये भारतीय काव्य में 'बेमुरव्वत', 'बेरहम', 'जालिम', 'कातिल' आदि कहीं नहीं कहा गया है; किंतु फारसी काव्य में इसका अंत नहीं है। अतएव परस्पर विरोधी दृष्टिकोणवाले साहित्यों में समता खोजना व्यर्थ समझकर हम भारतीय कवियों के अप्रस्तुत-विधान की ही समीक्षा करते हैं।

तुलसीदासजी ने स्वयं कहा है—"नानापुराणनिगमागमसंमतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।" इस 'क्वचिदन्यतोऽपि' में जो सामग्री तुलसीदासजी ने दूसरों से ली उसे उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से नया रूप दे दिया। उस सामग्री में जो उपमान बाहर से आए उनका भी तुलसीदासजी ने संस्कार करके उन्हें शुद्ध रूप दे डाला। हम यह "दावे के साथ" नहीं कह सकते कि गोस्वामीजी "मजमून ले उड़े" और "कमाल कर दिया", किंतु गोस्वामीजी ने सब ली हुई सामग्री को अपने हृदय के रंग में रँग डाला।

वाल्मीकिजी ने कैकेयी द्वारा वरदान माँगने के समय जिस कल्पना का आश्रय लिया है गोस्वामीजी ने भी ठीक उसी प्रसंग पर वैसी ही कल्पना का आधार लिया है। राजा दशरथ के मनाने पर कैकेयी अपना मतलब गाँठने के लिये प्रसन्न हो गई और अपने मृदु वचनों एवं मीठी मुसक्यान से उसने राजा के मन को मोह लिया। इसका वर्णन वाल्मीकिजी इस प्रकार करते हैं—

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशं कृतः ।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥

तुलसीदासजी इसी भाव को अपने शब्दों में यों कहते हैं—

यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मतिमंद ।
भूषन सजति बिलोकि मृग, मनहुँ किरातिनि फंद ॥

यहाँ पर गोस्वामीजी ने कैकेयी का स्त्री-जाति की किरातिनी से और उसके भूषण सजाने का फंद से साम्य दिखाकर चमत्कार ला दिया है। वाल्मीकिजी ने केवल पाश का ही जिक्र किया है, पाश फैलानेवाली की कोई चर्चा नहीं की। अपने भाव को स्पष्ट करने में तुलसीदासजी आदिकवि से कहीं अधिक समर्थ हुए हैं।

संस्कृत कवियों में जो स्थान कालिदास को प्राप्त है वही स्थान हिंदी में तुलसीदासजी को भी प्राप्त है। कालिदास की उपमाएँ संस्कृत-काव्य में अद्वितीय मानी जाती हैं। उपमानों का समुचित प्रयोग करने में वे अद्वितीय थे। जिस प्रकार कालिदास के बारे में "उपमा कालिदासस्य" प्रसिद्ध है उसी प्रकार यदि हिंदी में भी "तुलसी के उपमान" कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। अतएव कुछ उदाहरण देकर हम संक्षेप में यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि दोनों ने एक ही प्रस्तुत के लिए किस प्रकार के अप्रस्तुत की योजना की है।

गोस्वामी तुलसीदासजी रामचंद्रजी के हृत्पट पर सीताजी के सौंदर्य का अनुपम चित्र अंकित करने के लिये उत्प्रेक्षा करते हैं—

"जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगट दिखाई।"

इसी भाव को पार्वतीजी का सौंदर्य वर्णन करते हुए कालिदास यों कहते हैं—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
समर्पिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थ सौंदर्य दिदिदृक्षयेव ॥

चौपाई में सीताजी के अकथनीय सौंदर्य का वर्णन करने में असमर्थ होकर रामचंद्रजी अपने हृदय में केवल अनुभव ही कर सके हैं। श्लोक में ब्रह्मा संसार की सारी उपमायोग्य सुंदर सामग्रियों को एकत्र देखने के लिये—यह जाँचने के लिये कि समस्त सुंदर पदार्थों के समीकरण से रची हुई पार्वतीजी की सुषमा कैसी होगी—उत्सुक हैं। किंतु चौपाई के ब्रह्मा अपने समस्त रचना-कौशल के व्यय से सीताजी की अपूर्व प्रतिमा रचकर दिखलाने के लिये उत्कंठित हैं। सारांश यह कि कालिदास की उत्प्रेक्षा में प्रथम प्रयास है और तुलसीदासजी की उत्प्रेक्षा में उसी एकत्र सौंदर्य की परिपाक-अवस्था का ब्रह्माजी द्वारा विश्व में प्रदर्शन है। नौसिखुए शिल्पकार की प्रारंभिक रचना में और सिद्धहस्त कला-कोविद की कृति में जो विभेद हो सकता है वही इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में भी है।

तुलसीदासजी के सौंदर्य का मान (Standard) कालिदास के सौंदर्य के मान से बहुत बढ़ा हुआ है। सीता के अनुपम लावण्य की उपमा ढूँढ़ने में असमर्थ होने पर गोसाईंजी को विवश होकर कहना पड़ा—

सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरिअ बिदेह-कुमारी॥

सुंदरता में सर्वोपरि पार्वती, लक्ष्मी आदि विश्व-विख्यात उपमान, अपनी सदोषता के कारण, सीताजी की तुलना में नहीं ठहर सकते—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुणी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥

अतएव अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से उन्हें एक उपमान की कल्पना करनी पड़ी—

जौ छबि-सुधा-पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथइ पानि-पंकज निज मारू॥

एहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता-सुख-मूल ।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिँ सीय-सम तूल ॥

अपनी कल्पना द्वारा इन नवीन एवं समस्त सुंदर पदार्थों से रची जानेवाली लक्ष्मी से भी सीता की उपमा देने में कवि को संकोच होता है। कालिदास भी शकुंतला के सौंदर्य का वर्णन यों करते हैं—

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता तु ।
स्त्रीरत्न सृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥

और उर्वशी के सौंदर्य के विषय में उनकी कल्पना इस प्रकार है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूत् चंद्रो नु कांतिप्रदः ।
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ॥
वेदाभ्यास जडः कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहलो ।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

दोनों ही वर्णन अपूर्व हैं। पिछले श्लोक की वर्णनशैली तुलसीदासजी से प्रायः मिलती-जुलती है। परंतु जिस सौंदर्य-सामग्री की कल्पना कालिदास ने की है वह तुलसीदासजी की सौंदर्य-सामग्री की समता नहीं कर सकती। कालिदास अपनी सामग्री द्वारा उर्वशी की ही रचना कर उसके सौंदर्य की उत्कृष्टता प्रत्यक्ष करते हैं; तुलसीदास अपनी सौंदर्य-सामग्री से सीता के उपमान की रचना करते हैं, परंतु तब भी उससे सीता की उपमा देने में झिझकते हैं।

एक और उदाहरण लीजिए। तुलसीदासजी कहते हैं—

सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।

कालिदास भी ठीक ऐसे ही प्रसंग में इंदुमती की उपमा दीपशिखा से देते हैं—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।

नरेंद्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ।।

वस्तुतः उपमा की कल्पना बड़ी ही विचित्र और मनोहर है। दोनों ने एक ही उपमान का आश्रय लिया है। परंतु जब दोनों की 'दीपशिखा' की तुलना करते हैं तो कहना पड़ता है कि यदि कालिदास की दीपशिखा स्वर्ण है तो तुलसी की कुंदन। कालिदास ने इंदुमती को दीपशिखा की समता केवल उसके द्वारा त्यक्त राजाओं के लिये दी है। किंतु तुलसीदास ने विश्व की सुंदरता-रूप वस्तु का स्पष्ट प्रदर्शन कराने के लिये सीताजी को दीप-शिखा कहा है।

तुलसीदासजी के "क्वचिदन्यतोऽपि निगदितं" में जयदेव का "प्रसन्नराघव" भी आता है। रामचरितमानस का उक्त ग्रंथ से बहुत स्थलों पर बिंब-प्रतिबिंब-भाव देखकर कुछ विद्वान् कहते हैं कि तुलसीदास ने इस ग्रंथ से भी बहुत कुछ सार-भाग लिया है। हमारा उद्देश्य "चोरी के माल को बरामद" करना या किसी की हिमायत करना नहीं है और न हम यही कहना चाहते हैं कि तुलसीदासजी सबसे "बाजी मार ले गए", परंतु इसमें संदेह नहीं कि दोनों में गहरा भाव-साम्य है। इसी लिये हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि गोस्वामीजी ने जयदेव को "पछाड़ डाला"। नीचे लिखे उद्धरण इसके साक्षी हैं—

झटिति जगतीमागच्छन्त्या पितामहविष्टपान्

महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत ।

अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते

रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम् ।।

—जयदेव

भगति हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई ।।

रामचरित सर बिनु अन्हवाए। सो स्रमु जाइ न कोटि उपाए ।।

भाव एक ही है। किंतु तुलसी अलंकार-निर्वाह के विचार से पुँल्लिंग उपमेय के लिये उपमान भी पुँल्लिंग ही ले आए हैं। इस प्रकार भाव को अपनाकर भी उन्होंने साहित्य के नियम की रक्षा की है। जयदेव को लिंग-निर्वाह के लिये शब्दों का अपव्यय भी करना पड़ा है, पर तुलसी को इसकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी।

इसी प्रकार—

बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-
रभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम्॥

—जयदेव

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरहि न टारा॥
डिगै न संभु-सरासन कैसे। कामी-बचन सती मन जैसे॥

—तुलसी

में दोनों ने एक ही अप्रस्तुत का सहारा लिया है। यह उपमान तुलसी को इतना उपयुक्त प्रतीत हुआ कि उन्हें इसमें हेर-फेर करने की आवश्यकता न जान पड़ी। उनका विचार मौलिकता या कवित्व दिखाने का नहीं था। अतएव जहाँ उपमान भाव के अनुकूल पड़ा है वहाँ ज्यों का त्यों रहने दिया है।

हिंदी के कवियों में यदि किसी से तुलसीदास की तुलना की जा सकती है तो सूरदास से। सूर और तुलसी के अप्रस्तुत-विधान का संक्षेप में विवेचन करने के पूर्व यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि सूर और तुलसी के क्षेत्र भिन्न भिन्न थे, अतएव उन दोनों के उपमानों में भी भेद होना यथार्थ ही है। तुलसी का केवल गीतावली ही एक ऐसा ग्रंथ है जो सूर की शैली पर लिखा गया है। गीतावली में तुलसी ने सूर का ही अनुकरण किया है। विशेषतया

बालकांड और उत्तरकांड के रूप-वर्णन में तो सूर ही उनके आदर्श रहे हैं, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। तुलसी अपने उपमान प्रायः प्रकृति से ही लेते हैं; पर यहाँ उन्होंने अपनी निज की प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं किया है, बल्कि सूरदास ने जिस चमत्कार की आयोजना की है ठीक वैसी ही आयोजना उनकी भी है। बालकांड और उत्तरकांड में तो मानो वे सूर के साथ प्रतिस्पर्द्धा (Competition) कर रहे हैं। विभूति-वर्णन में और रूप-वर्णन के प्रसंग में जैसे सूर उपमा पर उपमा उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा करते गए हैं वैसे ही तुलसी भी। दोनों में सजावटवाली उपमाएँ अधिक हैं। जैसे—

पालने रघुपति झुलावै।
लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावै॥
केकि-कंठ दुति, स्याम-बरन बपु, बाल-बिभूषन बिरचि बनाए।
अलकैं कुटिल, ललित लटकन भ्रू, नील नलिन दोउ नयन सुहाए॥
सिसु सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पद-पल्लव लाए।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचु पाए॥
ऊपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि पुनि पानि पसारत।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु-भय बिनय करत अति आरत॥
तुलसिदास बहु-बास-बिबस अलि गुंजत सुछबि न जाति बखानी।
मनहुँ सकल स्रुति ऋचा मधुप ह्वै बिसद सुजस बरनत बर बानी॥
—तुलसीदास (गीतावली, बालकांड २०)

कहाँ लौं बरनौं सुंदरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छबि छाई॥
कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहु बिधि सुरँग बनाई।
मानो नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई॥
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगराई।
मानो प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई॥

नील सेत पर पीत लाल मनि लटकन भाल लुनाई।
सनि गुरु-असुर देव-गुरु मिलि मनौ भौम सहित समुदाई॥
दूध-दंत-दुति कहि न जाति अति अद्भुत एक उपमाई।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनौ घन में बिज्जु छपाई॥
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप जलप जलपाई।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित 'सूरदास' बलि जाई॥

—सूरदास (सूर-पंचरत्न, बालकृष्ण ३४)

उपर्युक्त उदाहरणों के देखने से साफ प्रतीत होता है कि मानो वे सूर के साथ दौड़ कर रहे हैं। इनमें तुलसी का व्यक्तित्व (Individuality) नहीं है। महाकाव्य में जिन प्रसंगों के वर्णन के लिये स्थान नहीं था उन्हीं की पूर्ति के लिये उन्होंने गीतावली की रचना की और उसमें वे पूर्णतया सफल हुए।

सूर कभी कभी उपमा या उत्प्रेक्षा की धुन में परिमिति (Sense of proportion) का कुछ भी खयाल नहीं रखते—

हरि कर राजत माखन रोटी।
मनौ बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी॥

कहाँ माखन रोटी और कहाँ वराह के दंताग्रभाग में स्थित पृथ्वी! तुलसी ने भी एक ऐसी ही उत्प्रेक्षा की है, पर परमिति का ध्यान रखकर—

सिखर परस घन-घटहि मिलति बगपाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥

अब अप्रस्तुत-विधान के संबंध में तुलसी और केशव के एक-एक उदाहरण की समीक्षा कर हम अपने विषय को समाप्त करेंगे। प्रसंग है दोनों कवियों का वसंत-वर्णन—

आजु बन्यो है बिपिन देखो, राम धीर। मानो खेलत फागु मुद मदन बीर॥
बट बकुल कदंब पनस रसाल। कुसुमित तरु-निकर कुरव तमाल॥

मानो बिबिध बेष धरे छैल जूथ। बिच बीच लता ललना-बरूथ ॥
पनवानक निर्भर, अलि उपंग। बोलत पारावत मानो डफ मृदंग ॥
गायक सुक कोकिल, भिल्लि ताल। नाचत बहु भाँति बरहि मराल ॥
मलयानिल सीतल सुरभि मंद। बह सहित-सुमन-रस रेनु बूंद ॥
मनु छिरकत फिरत सबनि सुरंग। भ्राजत उदार लीला अनंग ॥

—तुलसीदास (गीतावली)

बौरे रसाल कुल कोमल केलि काल। मानो अनंग-ध्वज राजत श्री विशाल॥
फूली लवंग लवली लतिका विलोल। भूले जहाँ विभ्रम मत्त डोल ॥
बोलें सुहंस शुक कोकिल केकिराज। मानो बसंत भट बोलत युद्ध काज ॥
सोहै पराग चहुँ भाग उड़ै सुगंध। जाते बिदेश बिरही जन होत अंध ॥
पालास माल बिन पत्र बिराजमान। मानो बसंत दिय कामहि अग्निबान ॥

—केशवदास (रामचंद्रिका)

केशव के उपमान पृथक् पृथक् दृश्य खड़ा करते हैं। सभी उपमान स्वतंत्र हैं—सब मिलकर किसी एक दृश्य का विधान करते हुए नहीं दिखाई देते, सर्वत्र प्रकरण के अनुकूल भी नहीं हैं। वसंत को भट मानने में प्रकरण-विरोध स्पष्ट है। किसी भट को देखकर हमारे मन में वही भाव उदय नहीं हो सकता जो वसंत के आगमन से हो सकता है। इसी प्रकार पलाश के लाल फूलों के सादृश्य पर ही उनको काम के अग्निबाण मानना कदापि उचित नहीं है। वियोग-शृंगार में यह उपमान सार्थक भी माना जा सकता है, परंतु यहाँ वह भी नहीं है।

तुलसी ने वसंतोत्सव के दृश्य का निर्वाह बराबर किया है। प्रत्येक उपमान अलग अलग है—'रंग-बिरंगे वृक्ष' और 'छैल-जूथ', 'लता और ललना', अलि-शुक-कोकिल-भिल्ली' आदि और गायक वाद्य-यंत्र आदि में वस्तु-प्रतिवस्तु-धर्म वर्तमान है। परंतु इसकी मुख्य विशेषता यह है कि सब उपमान मिलकर वसंत के ही दृश्य का विधान करते हैं—सभी मिलकर वर्णनीय विषय के अनुकूल हैं।

हिंदी में हमें और कोई ऐसा कवि दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे हम तुलसी के अप्रस्तुत-विधान का मिलान कर सकें। बिहारी के उपमान उत्तम हैं सही—पर तुलसी की कोटि के नहीं। दूसरे उनका क्षेत्र मुक्तक-काव्य है, जिसमें उनको अप्रस्तुत की योजना में वह स्वतंत्रता नहीं है जो प्रबंध-काव्यों या गीति-काव्यों में हो सकती है। अतएव उनसे या अन्य फुटकर कवियों से तुलसी की तुलना करना असमीचीन समझकर अपने विषय को यहीं समाप्त करते हैं।

उपसंहार

अर्वाचीन एवं प्राच्य साहित्य दोनों का दिग्दर्शन करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोस्वामीजी ने संसार की वस्तुओं को बाहर से देखकर उन्हें ज्यों का त्यों उठाकर ही नहीं रख दिया, वरन् वे उनकी तह तक पैठे हैं और उनके प्रभाव का पूरा पूरा ध्यान रखते हुए उन्होंने उनका संनिवेश किया है। जब तक हमें किसी वस्तु के गुण और क्रिया का पूरा अनुभव न हो तब तक हम किसी अन्य वस्तु में उसका आरोप नहीं कर सकते। यहीं पर कवि की अंतर्दृष्टि की परीक्षा होती है। उस परीक्षा की कसौटी यह है कि जिन उपमेयों और उपमानों का कवि ने वर्णन किया है वे इतने असंबद्ध तो नहीं हैं कि उनसे कवि के इष्ट भाव का प्रदर्शन न होकर कोई अन्य अनपेक्षित भाव उपस्थित हो जाता है। यदि कवि का इष्ट भाव पूर्णतः व्यक्त हो जाता है तो प्रयुक्त उपमानों का सम्यक् निर्वाह समझना चाहिए, अन्यथा नहीं। जैसे 'कारिका' को स्पष्ट करने के लिये 'वृत्ति' की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार कवि के अभिप्रेत भाव को अधिक स्पष्ट और शक्तिशाली करने के लिये अलंकारों का उपयोग होता है। मनस्तत्त्व का साधारण सिद्धांत यह है कि हमारे सम्मुख किसी वस्तु का यदि नाम लिया जायगा तो हमारा ध्यान उस वस्तु के रूप, रंग, गुण तक पहुँच जाता है।

इसी लिये सुंदर भावों के साथ सुरुचिपूर्ण उपमानों का वर्णन नितांत वांछनीय है।

गोस्वामीजी ने उपमानों का चुनाव 'प्रकृति' में से किया है। इसी कारण वे सहज, सरल, सुंदर, बोधगम्य एवं प्रभावोत्पादक हैं। अन्यान्य साधारण कवियों की तरह वे कोरा पांडित्य दिखाने के ही लिये उपमानों का ढेर नहीं लगा देते। उनके उपमान उनके भावों के साथ पूर्णतया मेल खाते हैं, उनमें भावों को जागरित एवं तीव्र करने की शक्ति रहती है। इसका मुख्य कारण यह था कि गोस्वामीजी भक्त थे। उन्हें अन्य शृंगारी कवियों की भाँति जनता की मनोवृत्ति कलुषित नहीं करनी थी, न अलंकार-प्रधान कवियों की भाँति चमत्कार दिखाना ही अभीष्ट था। उन्हें जिस महान् कार्य की नैसर्गिक प्रेरणा हुई उसी के अनुरूप उनकी प्रतिभा और कल्पना थी, इसी लिये गोस्वामीजी ने अपने अप्रस्तुत-विधान में अद्वितीय सफलता पाई।

अप्रस्तुत का समुचित विधान करना बहुत बड़ी क्षमता और गुण का परिचायक है। गोस्वामीजी के उपमानों में एक विशेषता यह भी है कि उन्हें अपने उपमान माथा खरोंचकर नहीं निकालने पड़ते—वे प्रस्तुत विषय के अनुरूप स्वतः उनके आगे आकर उपस्थित हो जाते हैं। उपमान उनकी भाषा और भावना के अंग से हो जाते हैं। उपमानों से तुलसी की इतनी घनिष्ठता है कि वे चाहें भी तो अपने को उनके प्रयोग से बचा नहीं सकते, मानो कवि के लिये उन उपमानों के हाथ से छुटकारा पाना ही कठिन है। इस प्रकार नैसर्गिक एवं हृदय की अनुभूतिजन्य उपमानों की योजना महाकवि का एक विशेष लक्षण है। सुतरां हम निस्संकोच भाव से यह कह सकते हैं कि

गोस्वामी तुलसीदासजी

एक महाकवि थे, और थे हिंदी साहित्य के परमोज्ज्वल रत्न।

---

(५) विविध विषय

(१) गिलगिट प्रांत में बौद्ध-ध्वंसावशेषों का आविष्कार

सर आरेल स्टीन ने चीनी तुर्किस्तान से लौटते समय हिंदुकुश प्रदेश के गिलगिट प्रांत में पुरातत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व की वस्तुओं को ढूँढ़ निकाला है। गिलगिट से पश्चिम की ओर २ मील पर कुछ ढोर चरानेवाले लड़कों ने एक छोटे पत्थर से मढ़े मिट्टी के टीले में से निकली हुई एक लकड़ी को मिट्टी हटाकर साफ़ किया। यहाँ और अधिक खोदने से एक गोल कमरा निकला जिसमें सैकड़ों छोटे छोटे स्तूप भरे पड़े थे। अधिक खुदाई करने पर एक लकड़ी की संदूक में भरे हुए बहुत से पुराने हस्तलिखित ग्रंथ मिले। ये विशेषकर लंबे चौकोन भोजपत्र पर लिखे संस्कृत ग्रंथ हैं। इनकी लिपि एक प्रकार की ब्राह्मी है। कुछ ग्रंथ उस भाषा में हैं जिसे कश्मीर में शारदा कहते हैं। इनका समय ईसा की छठी सदी माना जाता है। कुछ थोड़े से ग्रंथ मध्य-एशिया की ब्राह्मी लिपि में कागज पर लिखे हुए हैं, जिससे जान पड़ता है कि वे पूर्वीय तुर्किस्तान में लिखे गए थे। कागज बनाने की विधि का आविष्कार चीन में ईसा की द्वितीय सदी में हुआ था और इस प्रांत में कागज चौथी सदी में आया था। इस स्तूप की बनावट तुर्किस्तान और पश्चिमीय चीन के आदि मध्ययुग के उसी प्रकार के बौद्ध-ध्वंसावशेषों के समान ही है। धर्मग्रंथों को अधिक परिमाण में स्तूपों के भीतर गाड़ने की विधि को एक सुंदर बौद्धकालीन रेशमी चित्र में दर्शाया है, जिसे सर आरेल स्टीन ने अपनी द्वितीय मध्य-एशिया की यात्रा में प्राप्त किया था।

थे पुरातन हस्तलिखित ग्रंथ अधिक संख्या में और अच्छी दशा में हैं। इसलिये यह गिलगिट की प्राप्ति विशेष महत्त्व की है। यहाँ और खोदने से विशेष प्राप्ति की अधिक संभावना है पर उसे कुछ काल लगेगा।

(२) शकारि विक्रमादित्य

बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की सेप्टेंबर-दिसंबर १९३० मास की पत्रिका में मान का स्थान श्रीयुत के० पी० जायसवाल के 'शक-सातवाहन इतिहास के प्रश्न'-शीर्षक लेख को दिया गया है। विक्रम संवत् के विषय में आप लिखते हैं—

"हमें लेशमात्र संदेह नहीं है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि ही लोकप्रिय कथाओं और जैन गाथाओं के विक्रमादित्य थे। प्रो० रापसन ने बता ही दिया है कि उज्जैन नहपान के राज्यांतर्गत था। निश्चय-पूर्वक मौर्यों के समय में, और जिनसेन के आधार पर शुंग-काल में भी, और टालेमी के कथनानुसार चष्टन के समय में उज्जैन नगर पश्चिमीय राजधानी था। प्रो० रापसन ने ऋषभदत्त और गौतमीपुत्र के शिलालेखों और नहपान के सिक्कों के (जिन्हें गौतमी-पुत्र ने पुनः मुद्रित किया था) आधार पर सिद्ध किया है, और इसमें कोई शंका नहीं है कि नहपान को गौतमीपुत्र ने जीत लिया था और इस प्रकार सारा मालव देश, उज्जयिनी और अवंति-सहित, उन शकों से मुक्त हो गया था। इस सिद्धांत को हाल में आविष्कृत जैन ग्रंथों से पूरा पूरा आधार मिलता है। उनसे जान पड़ता है कि शालवाहन राजा ने नहवान (नहपान) की राजधानी कई चढ़ाइयों के पश्चात् जीत ली और नहवान अंतिम घेरे में मारा गया था।"

विक्रमादित्य उपाधिधारी तो कई राजे थे, परंतु ई० स० पूर्ववाले विक्रम का पता न था। आंध्र वंश के राजा हाल के

समय में एक ग्रंथ "गाथासप्तदशी" लिखा गया था जिसमें विक्रमादित्य की दानशीलता के विषय में लिखा है कि—

"संवाहणसुहरसतोसिएण देंतेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइच्च चरिश्रमणुसिक्खिश्रं तिस्सा॥"

संस्कृतानुवाद—संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्य चरितमनुशिक्षितं तस्याः॥

राजा हाल का समय ई० स० ६९ के लगभग या उसके पूर्व का अनुमान किया जाता है जिससे सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य उसके पूर्व में हो गए थे।

इसी समय के बृहत्कथा ग्रंथ से भी उस समय से पूर्व ही विक्रमादित्य का होना पाया जाता है। कुछ मालव सिक्कों से भी सिद्ध होता है कि ("मालवानां जय", "मालवगण जय") उनकी जय के उपलक्ष में ये सिक्के चलाए गए थे। इनकी लिपि प्रथम शताब्दी ई० पूर्व की है। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण ने शकों को हराने में प्रधान भाग लिया। ये लोग उस समय पूर्वीय राजपूताने में थे। उसी जय की साल से कदाचित् इन्होंने भी अपना संवत् चलाया हो और कदाचित् उज्जैन में भी वह उसी साल से चला हो। ऐसा अनुमान श्री जायसवाल महाशय का है। ऐसा जान पड़ता है कि मालव लोगों ने अपनी स्वतंत्रता स्थापन का उत्सव सन् ५८ ई० पूर्व में मनाया। यही काल शकों के हराए जाने का था। गौतमीपुत्र ने स्वयं तो कोई संवत् नहीं चलाया, क्योंकि उसके पुत्र ने अपने राज्य-काल का संवत् लिखा है। उस संवत् को मालवगण ने चलाया था। जैन लोगों के उस संवत् को विशेषकर याद रखने का कारण यह था कि ये शक लोग जैन आचार्य काल के लाए भारत में आए थे। डाक्टर कोनौ और श्रीमान् जायसवाल दोनों का सिद्धांत है कि सन् ५८ ई० पूर्व के

विक्रमादित्य ऐतिहासिक व्यक्ति और देशीय वीर पुरुष हैं। नहवान और नहपान दोनों के एक ही व्यक्ति सिद्ध हो जाने से गौतमीपुत्र सातकर्णि विक्रमादित्य सिद्ध होते हैं। इनके अभिषेक के १८ वें वर्ष में यह लड़ाई हुई। शिलालेख, जैनगाथा और पुराण इस प्रकार एक मत के सिद्ध होते हैं।

ऊपर लिखे नए आविष्कृत जैन ग्रंथ "आवश्यक सूत्र" और उसकी टीका हैं। इस टीका में एक पुरातन गाथा लिखी है जिससे जान पड़ता है कि नहपान की राजधानी भरुकच्छ (भरौंच) में थी। प्रतिष्ठानपुर (पैठन, गोदावरी पर, निजाम-राज्य में) में शालवाहन राजा थे। शालवाहन ने कई बार चढ़ाई करके भरौंच के नहपान को मार डाला। गर्गसंहिता के एक लेख से जान पड़ता है कि शक लोग अवंति से उस देश की चतुर्थांश जनसंख्या और चतुर्थांश धन लूट ले गए। श्री जायसवाल नहपान और नहवान दोनों को एक सिद्ध करते हैं और उसका समय १०० से ५८ सन् ई० पूर्व निश्चित करते हैं। सातकर्णि, सातवाहन, शालवाहन ये एक वंश की ही उपाधियाँ हैं। आपके मतानुसार आंध्र राजाओं के नाम, क्रम और समय इस प्रकार होने चाहिएँ—

१	शिशुक सातवाहन	ई० पू०	२०५—१८२
			२१३—१६०
२	कृष्ण	,,	१८२—१७२
			१६०—१७२
३	सातकर्णि (महान्) प्रथम	,,	१७२—१६२
४	पूर्णोत्संग	,,	१६२—१४४
५	स्कंधस्तंभि	,,	१४४—१२६
६	लंबोदर	,,	१२६—११८
७	मेघस्वाति	,,	११८—१००

८ गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वितीय ई० पू० १००——४४
९ श्रीविलवाय या पुलोमावि प्रथम ,, ४४——८
१० कृष्ण द्वितीय सन् ई० ८——१७
११ हाल ,, १७——२१
१२ पट्टालक ,, २१——२६
१३ पुरिकसेन (श्री, शक, सेन) ,, २६——४७
१४ स्वाति (साती) ,, ४७——६५
१५ स्कंद स्वाति ,, ६५——७२
१६ महेंद्र सातकर्णि ,, ७२——७५
१७ कुंतल सातकर्णि ,, ७५——८३
१८ सुंदर सातकर्णि ,, ८३——८४
१९ पुलोमावि द्वितीय ,, ८४——८८
२० शिव स्वामिन् प्रथम ,, ८८——११६
२१ गौतमीपुत्र पुलोमावि तृतीय ,, ११६——१४४
२२ चतरवतु सातकर्णि ,, १४४——१५७
२३ (गौत०) यज्ञश्री सातकर्णि ,, १५७——१८६
२४ सातकर्णि तृतीय ,, १८६——२१५
२५ शिव श्री द्वितीय ,, २१५——२२२
२६ शिवस्कंद ,, २२२
२७ विजय ,, २२२——२२८
२८ चंदश्री सातकर्णि ,, २२२——२३१
२९ पुलोमावि तृतीय ,, २३१——२३८

शकों के साथ कई सदियों तक संग्राम होता रहा। सोमदेव एक दूसरे विक्रमादित्य का वर्णन करता है। ये विक्रमादित्य स्वयं लड़ाई में गए थे और इनके सेनापति तथा करद राजा विक्रमशक्ति ने अच्छी विजय पाई थी। इन विक्रम के पिता महेंद्रादित्य या

महेंद्र सातकर्णि कुंतल के पूर्वज थे। इसलिये ये विक्रमादित्य कुंतल सातकर्णि ही थे। इनका समय ७५-८३ सन् ई० का है। सन् ई० ७८ वाले सातवाहन या शालवाहन ये ही थे। इन्होंने भी शकों को हराया था। सन् ७८ ई० में शक संवत् का भी आरंभ हुआ था।

श्री जायसवाल महाशय का मत है कि पुराणों के गर्दभिल राजा वास्तव में खारवेल राजा ही थे। खारवेल से खरवेल हुआ खर और गर्दभ पर्यायवाची एक ही अर्थ के शब्द हैं। खरवेल से गर्दभिल शब्द बन गया।

यह लेख इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है।

पंड्या बैजनाथ

(३) उदयपुर

उदयपुर-निवासी पं० देवनाथ पुरोहित-लिखित तथा प्रकाशित। पृष्ठ-संख्या लगभग ढाई सौ और कागज तथा छपाई अच्छी। पुस्तक ३७ चित्रों तथा ३ मानचित्रों से सुशोभित है। मूल्य ३) न कम है और न अधिक।

मेवाड़-नरेशगण संसार के प्राचीनतम राजवंश के हैं और हिंदू-सूर्य कहलाते हैं। इसी राजवंश की आधुनिक राजधानी उदयपुर है, पर समग्र राज्य मेवाड़ भी इस नाम से पुकारा जाता है। साधारणतः इस पुस्तक में पूरे राज्य की, पर विशेषतः, राजधानी की भौगोलिक वृत्ति दी गई है। गाइड के रूप में मेवाड़ के यात्रियों के लिये यह एक आवश्यक सामग्री हो गई है। इतिहास तथा धर्म की दृष्टि से दर्शनीय स्थानों का विवरण देते हुए अन्य सुंदर, मनोरंजक तथा बहुमूल्य इमारत, उद्यान और तालों के भी वर्णन दिए गए हैं।

इन सबको देखने में यात्रियों को किस प्रकार विशेष सुविधा होगी, यह भी बतलाया गया है। मानचित्रों तथा चित्रों के कारण पुस्तक अधिक सुंदर तथा उपयोगी हो गई है। भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि वह कुछ शिथिल है और कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हो गए हैं जो इधरवालों के लिये दुर्ज्ञेय हैं। इनके अर्थ दे दिए गए होते तो अच्छा होता। पुस्तक संग्रहणीय है।

ब्रजरत्नदास

---

(४) जसहरचरिउ अर्थात् पुष्पदंताचार्य्य-कृत यशोधरचरित्र

(पृष्ठ १८७ + ३२ मूल्य ६॥) डाक-महसूल सहित)

जैन धर्म के साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, परंतु कई कारणों से उसने गुप्त रूप धारण कर लिया था, जिससे छिपाने की आदत इतनी बढ़ गई थी कि उन कारणों के तिरोहित होने पर भी उसका आविर्भाव करने का साहस ही नहीं पड़ता था। अनेक अमूल्य ग्रंथ मंदिरों या तलघरों में पड़े पड़े सड़ा किए, किसी ने फिक्र न की कि वे क्या हैं और उनमें क्या लिखा है। अब कुछ दिनों से आत्म-गौरव का विकास हुआ है और लोगों ने खोज करना आरंभ कर दिया है कि हमारे पास क्या है और क्या नहीं। इस खोज से जैन-साहित्य के अनेक अमूल्य रत्नों का पता लगा है। कहीं कहीं संस्थाएँ और समितियाँ बन गई हैं जिन्होंने उनके शोधन और प्रकाशन का भार अपने ऊपर लेना स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार की एक संस्था बरार (विदर्भ) के कारंजा नामक ग्राम में भी है, जिसके चलाने के लिये उक्त स्थान के एक उदार व्यक्ति सेठ गोपाल साहु जी चवरे ने बीस हजार रुपया प्रदान किया है।

कारंजा में ३ जैन-मंदिर हैं, जिनमें कई सहस्र ग्रंथों के भांडार हैं। इनमें कई संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रंथ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। कारंजा की संस्था ने इनका प्रकाशित करना आरंभ कर दिया। शीर्षक में दिया हुआ उसका पहला ग्रंथ है। इसका संपादन फरगुसन कालेज पूना के प्रोफेसर डाक्टर परशुराम लक्ष्मण वैद्य एम० ए०, डी० लिट० द्वारा हुआ है। यशोधरचरित्र की भाषा अपभ्रंश है। इसे विक्रमीय ग्यारहीं शताब्दि के महाकवि पुष्पदंताचार्य ने बनाया था। पुष्पदंत जन्म का काश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण था और शिव की पूजा किया करता था। अंत में वह दिगंबरी जैन हो गया। कवित्व-शक्ति उसकी चढ़ी-बढ़ी थी, परंतु प्रसंगानुसार उसे मान और अपमान दोनों भोगने पड़े। पुष्पदंत ने कई ग्रंथ रचे जिनमें से 'जसहर-चरिउ' भाषा-विज्ञानियों के लिये बड़े महत्त्व का है क्योंकि वह उस बोली में लिखा गया है जो वर्त्तमान हिंदी, मराठी, गुजराती आदि का स्रोत है। जसहर-चरिउ की कथा कुछ लंबी-चौड़ी है और धर्म-कर्म के फलों से संबंध रखती है। इसका मूल आधार सोमदेव-लिखित संस्कृत ग्रंथ यशस्तिलक चंपू है, जो सन् ९५९ ई० में लिखा गया था। समय की प्रगति के अनुसार यह कथा प्रियकर हो गई, इसलिये अनेक लेखकों ने उस पर कम से कम पचीस-तीस ग्रंथ रच डाले।

प्रोफेसर वैद्य ने इस पुस्तक का संपादन बड़ी योग्यता के साथ किया है और पाठकों के सुभीते के लिये आदि में अँगरेजी भाषा में एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका और अंत में शब्दानुक्रमणिका तथा अँगरेजी टिप्पण लगा दिया है, जिससे अपभ्रंश न जाननेवाला भी यदि प्रयत्न करे तो मूल का अर्थ सरलता से निकाल सकता और उसके रहस्य को भली भाँति समझ सकता है। श्रीयुत वैद्य ने अपना काम बड़ी सावधानी और परिश्रम से किया है इसलिये वे प्रशंसा के

पात्र हैं। इस ग्रंथमाला के प्रधान संपादक प्रोफेसर हीरालाल जैन हैं, जिन्होंने इस ग्रंथ को सुसंपादित और सुचारु रूप में प्रकाशित करवाया है। इसके लिये वे अभिनंदनीय हैं। विशेष प्रशंसा की बात तो यह है कि कारंजा भांडारों का जब उन्होंने अवलोकन किया और उनके महत्त्व को जाना तब उनके प्रकाशन का जो दृढ़ संकल्प किया उसे उन्होंने पूरा कर दिखाया। कारंजा का चवरे वंश भी धन्यवाद का पात्र है जिसने एक छोटे ग्राम में बीस सहस्र दान देकर साहित्य-सेवा का अनुकरणीय आदर्श सम्यक् रूप से उपस्थित कर दिया। 'सम्मतिं लब्भर अचलु सोक्खु'।

हीरालाल

---

(५) चंद्रगुप्त नाटक, लेखक श्री जयशंकर प्रसाद

यह नाटक अभी थोड़े दिन हुए भारती भांडार रामघाट बनारस सिटी द्वारा प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इसके पहले बाबू जयशंकर प्रसाद जी के आधे दर्जन से ऊपर नाटक प्रकाशित हो चुके हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि उनकी नाटकीय कृतियों में यह सर्वोत्कृष्ट हुआ है। यह नाटक ४ अंकों में समाप्त हुआ है। पहले अंक में ११ दृश्य हैं, जिसमें कथा-वस्तु के बीज का निरूपण होकर उसका क्रमशः विकास हुआ है। इस अंक का पहला दृश्य ही बड़ा प्रभविष्णु है। तक्षशिला के गुरुकुल में विद्यार्थियों की बातचीत कितनी प्रभावोत्पादक और महत्त्वपूर्ण है। कथा का मूल एक ओर तो यूनानियों के आक्रमण और गांधार-नरेश का उत्कोच लेकर उनसे मिल जाने से आरंभ होता है। दूसरी ओर नंद की उच्छृंखलता, विलासप्रियता तथा अन्याय का चित्र उपस्थित किया गया है जिसके गर्भ में भावी घटनाएँ छिपी पड़ी हैं। दूसरे अंक में ११ दृश्य हैं जो विस्तार में

भी पहले अंक के दृश्यों के बराबर है। उनमें चंद्रगुप्त के अभ्युदय का दृश्य उपस्थित किया गया है। इसी अंक में पहले पहल चंद्रगुप्त और कार्नीलिया के परस्पर प्रेम का आरंभ होता है। नंदकुल के नाश का बिंदु क्रमशः जल में पड़े स्नेह-बिंदु के समान फैलता जा रहा है। नंद-कन्या कल्याणी पर्वतेश्वर से बदला चुकाने के लिये उद्यत होती है। इधर प्रासंगिक कथाओं में सिंहरण और अलका का चरित्र क्रमशः प्रस्फुटित होता है। तीसरे अंक में ९ दृश्य हैं और उनका विस्तार भी पहले दृश्यों के समान ही है। इस अंक में सिकंदर के लौट जाने का दृश्य तथा नंद के नाशोन्मुख होने का चित्र उपस्थित किया गया है। चाणक्य का षड्यंत्र इस अंक में पूर्णता को पहुँचता है और अंत में वह सफल होकर चंद्रगुप्त को मगध का राजेश्वर बनाता है। एक प्रकार से इस नाटक की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। यदि लेखक इस अंक के साथ अपने नाटक को समाप्त कर देता तो वह रंगमंच के अधिक उपयुक्त हो जाता। चाणक्य का उद्देश्य तो नंदकुल का नाश, यूनानियों का भारतवर्ष से निकाला जाना और चंद्रगुप्त का मौर्य सम्राट् बनना—ये तीनों बातें इस अंक तक पूरी हो जाती हैं। मूल उद्देश्य की सिद्धि तो इन्हीं के साथ हो जाती है, पर प्रासंगिक कथाओं का अंश अवशिष्ट रह जाता है। चौथे अंक में १६ दृश्य हैं और इनका विस्तार भी अपेक्षाकृत पूर्व के अंकों और दृश्यों के समान ही है। इसमें कल्याणी की आत्म-हत्या, मालविका का बलिदान, चाणक्य का बनावटी रोष, राक्षस का कपटाचरण, सिल्यूकस का आक्रमण, उसकी पराजय और अंत में परस्पर मित्रता की स्थापना तथा कार्नीलिया के साथ चंद्रगुप्त का विवाह अंकित किया गया है। इस प्रकार इस नाटक में दो मुख्य घटनाओं का समावेश हो गया है—एक तो सिकंदर का भारतवर्ष पर आक्रमण और दूसरे सिल्यूकस का आक्रमण। प्रथम

घटना के आधार पर ही नाटक की कथा-वस्तु का विस्तार-जाल फैलता है और उसके अंतर्भूत होकर नंद का पतन तथा चंद्रगुप्त का अभ्युदय होता है। दूसरी ऐतिहासिक घटना के समावेश से, जो चौथे अंक में होती है, वस्तु-संकलन (Unity of action) में व्याघात पहुँचता है। साथ ही काल-संकलन (Unity of time) में भी बाधा उपस्थित होती है। प्रसाद जी के अनुसार ३२६ ई० पू० में सिकंदर का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ था। ३२३ ई० पू० में उसकी मृत्यु हुई और ३२१ ई० पू० में चंद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। वे पुनः लिखते हैं कि ३१२ ई० पू० में सिल्यूकस ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और ३०६ ई० पू० में उसने भारत पर आक्रमण किया। अतएव सिकंदर के आक्रमण और चंद्रगुप्त के सिंहासनारोहण में केवल २ वर्ष का अंतर है, पर चंद्रगुप्त के सिंहासनारोहण और सिल्यूकस के आक्रमण में १५ वर्ष का अंतर है। यद्यपि एक स्थान में लेखक ने चंद्रगुप्त को दक्षिण-विजय में फँसाकर इस १५ वर्ष के समय को पार करना चाहा है, पर नाटक के पढ़ने तथा उसका अभिनय देखने पर यह बात खटकेगी। अस्तु, हमारी यह सम्मति है कि यदि यह नाटक तीसरे अंक पर समाप्त कर दिया जाता तो अभिनय तथा संकलन की दृष्टि से अच्छा होता। कदाचित् यहाँ पर यह भी कह देना अनुचित न होगा कि अंकों का विस्तार और दृश्यों की संख्या अभिनय के अनुकूल नहीं है। अंतिम अंक में तो दृश्यों की संख्या सबसे अधिक हो गई है। हमारा अनुमान है कि समस्त नाटक के खेलने में कम से कम ७ घंटे और पहले तीन अंकों के अभिनय में ५ घंटे लगेंगे। ये ५ घंटे भी अधिक ही हैं, पर ७ घंटे तो बहुत अधिक होते हैं।

स्थान-संकलन के संबंध में यह विचारणीय है कि या तो घटनाओं का क्रम समसामयिक ढंग पर रखा जाय अथवा एक अंक

में एक ही प्रदेश की घटनाओं का समावेश हो। पहले क्रम में यह लाभ है कि पाठक या दर्शक सुगमता से घटनाओं का क्रम हृदयंगम कर सकता है और साथ ही चलती बातों को मन में रखकर उन्हें समझने में समर्थ होता है। दूसरे ढंग में एक ही प्रदेश की घटनाओं को हृदयंगम करने में सुगमता होती है, पर साथ ही दूसरे प्रदेश में होनेवाली समसामयिक घटनाओं से उनका सामंजस्य पाठक या दर्शक को अपने आप स्थापित करना पड़ता है। इन्हीं दोनों प्रकारों से स्थान-संकलन की समीक्षा की जा सकती है। हम नहीं कह सकते कि प्रसाद जी ने कहाँ तक इस विषय को ध्यान में रखकर इस नाटक की रचना की है। अस्तु, साधारणतः हमें यह स्वीकार करने में कुछ भी संकोच नहीं होता कि इस नाटक में सजीवता और कर्मण्यता भरी हुई है। यही इसकी विशेषता है और इसी में नाटकीय कथा-वस्तु की सार्थकता है।

जब हम पात्रों के संबंध में विचार करते हैं तब हमें लेखक के कौशल पर मुग्ध होना पड़ता है। चाणक्य का चरित्र-चित्रण तो बड़ा ही सुंदर, पर साथ ही बड़ा भयानक, किया गया है। हमारी आँखों के सामने एक ऐसे व्यक्ति का चित्र उपस्थित हो जाता है जो नाटा और श्यामवर्ण है, जिसकी आँखें चढ़ी हुई हैं, बाल बिखरे हुए हैं और जिसके चेहरे पर कूट-नीति तथा दृढ़ता की रेखा स्पष्ट देख पड़ती है। ऐसे ब्राह्मण का अपने निर्धारित पथ पर दृढ़ रहकर सफलता प्राप्त करना कोई बड़ी बात नहीं जान पड़ती। उसकी इस प्रकृति का विकास विशेष रूप से नहीं किया गया पर जो जो खंड चित्र इधर-उधर बिखरे पड़े हैं उनसे यही धारणा होती है। मधुरता उसमें है, किंतु अपनी कर्तव्य-परायणता के कारण उसे वह पद-दलित किए रहता है। जिस निर्भयता और हृदयशून्यता से वह मालविका को अपनी बलि देकर चंद्रगुप्त की रक्षा करने पर

उद्यत करता है, कल्याणी के आत्मघात पर जो चंद्रगुप्त से यह कह बैठता है "आज तुम निष्कंटक हुए" और जो अपनी स्नेहमयी वृत्तियों को कुचलकर सुवासिनी को राक्षस से परिणीत होने के लिये बाध्य करता है वह मनुष्य है या क्रूर विधाता—इसके निर्णय में रुक जाना पड़ता है। पर "मुद्राराक्षस" के चाणक्य से "चंद्रगुप्त" के चाणक्य में बड़ा अंतर है। मुद्राराक्षस में तो मानों वह प्रत्येक घटना का सूत्र अपने हाथ में पकड़े बैठा जान पड़ता है और जिस घटना के जिस प्रकार घटित होने की वह इच्छा करता है वह उसी प्रकार होकर रहती है, जो कुछ अस्वाभाविक सा है। "चंद्रगुप्त" का चाणक्य दूरदर्शी, विवेकशील और अपनी मंत्रणा को अपने ही मन में छिपा रखनेवाला एक अलौकिक पुरुष है, जिसमें भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों की महत्ता, गरिमा और पारदर्शिता स्पष्ट देख पड़ती है। चंद्रगुप्त का चित्र भी चाणक्य के अनुकूल है। जैसा गुरु वैसा चेला। राम ने दोनों की जोड़ी अच्छी मिला दी। पर चंद्रगुप्त स्थान स्थान पर अपनी कोमल वृत्तियों का परिचय देता है और कहीं कहीं तो वह मनुष्योचित कमजोरी भी दिखा देता है। सिकंदर और राक्षस का चरित्र इतना उज्ज्वल नहीं अंकित किया गया है। लेखक को कदाचित् यही अभिप्रेत था।

हमारी समझ में नहीं आता कि "चंद्रगुप्त" में प्रसाद जी स्त्रियों के प्रति कुछ निष्ठुर से क्यों हो गए हैं। उनके स्त्री-पात्रों में स्त्रियोचित कोमलता कम देख पड़ती है। अलका के प्रति तो वे कुछ दयावान् हैं, पर सुवासिनी, मालविका और सब से बढ़कर कल्याणी के प्रति उनका व्यवहार कुछ कुछ "हृदयहीनता" की कोटि में गिने जाने के योग्य हो जाता है। कार्नीलिया में तो हम कोई विशेषता नहीं देखते। वह चंद्रगुप्त से प्रेम अवश्य करती है, पर बड़ी ही संयत है और अपनी वृत्तियों को अपने वश में रखे हुए

है। बेचारी कल्याणी के प्रति तो प्रसाद जी बड़े कठोर हो गए हैं। पहले पर्वतेश्वर से उसका परिणय कराना चाहते हैं, पर उसके अस्वीकार करने पर उस रमणी-रत्न की प्रखर क्षत्रिय-वृत्ति फूट पड़ती है। वह इस अपमान का बदला लेने पर उद्यत हो जाती है और अपने उद्देश्य में सफल होती है। वह चतुर्थ अंक के पहले दृश्य में, जिसमें आगे चलकर वह आत्मघात कर बैठती है, कहती है—"मेरे जीवन के दो स्वप्न थे—दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र-विलास सी चंद्रगुप्त की छवि और पर्वतेश्वर से शोध। दूसरा स्वप्न तो उसका पूरा हो गया, पर पहले स्वप्न में पिता के घात ने बाधा उपस्थित कर दी।" इसी दृश्य में वह आगे चलकर कहती है—"मौर्य! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चंद्रगुप्त।...... ...परंतु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिये उस प्रणय को, उस प्रेम-पीड़ा को, मैं पैरों से कुचलकर—दबाकर—खड़ी रही। अब मेरे लिये कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा।" इसके पहले वह पिता के अत्याचारों और अन्यायों की कथा अपने कानों से सुनती और सब कुछ देखती है पर अंत में पितृ-प्रेम के आगे अपने को बलिदान कर देती है। क्या उसको जीवित रखने और चंद्रगुप्त के प्रणय-पाश में बाँधने में प्रसाद जी के "प्रासाद" में कोई कुत्सितता आ जाती? जो कुछ हो, वह हमारी सहानुभूति की पूरी पूरी अधिकारिणी होती है और इसी में प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण की सफलता है। एक बात और हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने अपने दूसरे नाटकों में परस्पर-विरोधी वृत्तियोंवाले स्त्री-पात्रों को रंगमंच पर उपस्थित किया है। अजातशत्रु में वासवी और छलना हैं, स्कंदगुप्त में देवसेना और विजया हैं। इसी प्रकार जनमेजय में भी है। पर चंद्रगुप्त नाटक में स्त्री-पात्रों द्वारा अंतर्वृत्तियों का द्वंद्व क्यों नहीं दिखाया गया है? उसमें अलका, सुवासिनी, मालविका, कल्याणी,

कार्नीलिया सब उच्च भावनाओं से प्रेरित हैं; किसी में नीचता नहीं, नीच वृत्तियों की बास तक नहीं। क्या प्रसाद जी के ध्येय में, आदर्श में, कुछ परिवर्तन हो गया है अथवा मानव-जीवन का काला चित्र उपस्थित करते करते उनका जी ऊब गया है और वे अब चित्र का दूसरा पहलू भी देखने लगे हैं। कालानुक्रम की ओर ध्यान देने से पहला स्थान जनमेजय के यज्ञ का, तब अजातशत्रु, उसके अनंतर चंद्रगुप्त, तब स्कंदगुप्त का और अंत में राजश्री का है। चंद्रगुप्त को छोड़कर और सब में वृत्तियों का अंतर्द्वंद्व वर्तमान है, केवल मौर्य-काल में ही उसका अभाव क्यों? हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि प्रसाद जी ने पहले चाणक्य का चित्र अपने हृत्पटल पर भली भाँति अंकित कर लिया और तब शेष पात्रों को उसी साँचे में ढालकर अपने चित्र-पट को पूरा किया। इसलिये इन पात्रों में भावों का द्वंद्व विशेष रूप में नहीं देख पड़ता, जो प्रसाद जी के दूसरे नाटकों की विशेषता है। हाँ, पात्रों के संबंध में हम इतना और कहना चाहते हैं कि इनकी संख्या बहुत अधिक है, जो नाटक के अभिनय में बाधक हो सकती है।

प्रसाद जी के इस नाटक की भाषा पुष्ट है, पर उसमें प्रवाह का अभाव है। उनकी शैली स्वाभाविक संघटन से शून्य है। ऐसा जान पड़ता है कि मानों किसी बगीचे के वृक्षों को काट-छाँटकर अपना मनोनीत रूप दे दिया गया हो, उनके अंगों का स्वाभाविक विकास नहीं होने पाया। क्या हम पूछ सकते हैं कि प्रसाद जी किस आधार पर "प्रत्येक" शब्द के अनंतर संज्ञा-वाचक शब्दों के बहुवचन रूप का प्रयोग करते हैं? हम यह जानते हैं कि हिंदी के एकाध लेखक भी, जो भिन्न भिन्न शैलियों का प्रदर्शन सुगमता से कर सकने में अपने को धन्य मानते हैं, इसी प्रकार का प्रयोग करने और उसे शुद्ध मानने में हठ करते हैं। प्रसाद जी को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

इस नाटक में जो गान स्थान स्थान पर दिए गए हैं वे रहस्य-मय होने पर भी मनोहर हैं। पर उनको पूरी तरह समझना सबका काम नहीं है। साधारण पाठकों को तो उनके प्रति अरुचि हो जाती है। अभिनय की सफलता में ये गान अवश्य बाधक होंगे। हम यहाँ एक उदाहरण दे देना चाहते हैं। स्कंदगुप्त के पहले अंक में एक गान है—"संसृति के वे सुंदरतम क्षण योंही भूल नहीं जाना।" इत्यादि। यह कविता, वास्तविक कविता है। इसके भाव बड़े ही मनोहर हैं और इसमें कवि-कल्पना ने बड़ा ही सुखद रूप धारण किया है। यह सब होते हुए भी उसका अर्थ समझना और समझाना सबका काम नहीं है। इसी पद्य का अर्थ एक विद्यार्थी ने एक लब्ध-प्रतिष्ठ कवि-पुंगव से पूछा था। उन्होंने जो कहा वह हमें शूल की तरह गड़ा। उनके विचार में इस पद्य में कोई विशेषता नहीं है। यह सर्वथा निंद्य और अर्थहीन है। जब कवि-पुंगवों का यह हाल है तब दूसरों की बात ही क्या? जिस प्रकार स्वर-लिपि देकर इन पद्यों का गाना प्रसाद जी ने सुगम कर दिया है उसी प्रकार नाटकों में आई हुई अपनी कविता का सरल अर्थ देकर क्या वे विद्यार्थियों की सहायता नहीं कर सकते और कवि-पुंगवों को माथा खुजलाने के कष्ट से नहीं बचा सकते? उन्हें इस ओर ध्यान देना चाहिए।

चंद्रगुप्त नाटक का प्रधान रस वीर है, बीच बीच में करुणा और शृंगार की तरंगों ने उस मुख्य प्रवाह में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित न कर उसे आस्वादन के सर्वथा उपयुक्त बना दिया है।

प्रसाद जी के सब नाटकों में भारत के मुखोज्ज्वलकारी दृश्य उपस्थित किए गए हैं। चंद्रगुप्त नाटक में भी यही बात है, और विशेष रूप से। सब बातों पर ध्यान देते हुए उनका यह नाटक बड़ी उच्च श्रेणी का हुआ है, अतः हम प्रसाद जी की इस कृति पर

उन्हें साधुवाद और बधाई देते हैं। अपनी कृतियों द्वारा वे हिंदी-साहित्य की मंडली में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हो गए हैं।

श्यामसुंदरदास

(६) गोस्वामी तुलसीदास

श्रीयुक्त काशीप्रसाद जी जायसवाल एक पत्र में लिखते हैं— "मुझे इस बात के प्रमाण में कि गोस्वामी तुलसीदास जी दिल्ली गए थे, दिल्ली में ता० १८–१०–३१ को एक बात देखने में आई। कुतुब से पुराना किला इंद्रप्रस्थ जाते समय राह में एक स्थान मिलता है, जो अब मुसलमानों का तकिया हो गया है। यह एक छोटी सी कुटी की तरह है। उसे लोग गोस्वामी तुलसीदास के ठहरने का स्थान बतलाते हैं। मुझे (कुतुब के) एक सिपाही ने यह बात बतलाई। वह यह भी जानता था कि गोस्वामी तुलसीदास कौन थे।" इस संबंध में विशेष अनुसंधान की आवश्यकता है।

श्यामसुंदरदास

(६) प्राचीन उज्जयिनी की मुद्राएँ

[लेखक—श्री सूर्य्यनारायण व्यास, उज्जैन]

भारतवर्ष के प्रत्येक पुरातन स्थान में प्रायः सिक्के, शिलालेख, ताम्रशासन आदि प्राप्त होते हैं। इन वस्तुओं से इतिहास-निर्माण में बहुत सहायता मिलती है। कई वीर नरपुंगवों को भूगर्भशायी हुए कितना समय व्यतीत हो गया, वे कब थे, आदि बातों का उनके सिक्कों से अब पता चल गया है।

सम्राट् विक्रमादित्य-शासित उज्जैन नगरी भी एक प्रमुख ऐतिहासिक स्थल है। पुरातन साहित्य और संस्कृत ग्रंथों में उज्जयिनी की महत्त्वपूर्ण गुण-गरिमा का वर्णन प्राप्त होता है। वह महाभारतकालीन विन्द और अनुविंद से लेकर मुगल-काल तक कई राजा-महाराजाओं की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त कर चुकी है। परंतु वर्तमान विध्वस्त नगरी उज्जैन में ऐसा कोई स्थान नहीं है जो उन महा-महिम शासक-प्रवरों के अस्तित्व की सूचना देता हो। उज्जैन की खुदाई की ओर यहाँ के शासकों का ध्यान जाय तो अवश्य ही यहाँ के भूगर्भ से २—२॥ हजार वर्ष पूर्व का टूटा हुआ इतिहास सुशृंखलित हो जाय। आज भी योंही उज्जैन के विध्वस्त भाग में घूमनेवालों को कई सिक्के, पात्र आदि वर्षा-काल में प्राप्त होते जाते हैं।

शिलालेख के खंड तो छोटी-मोटी खुदाई करते समय पाए गए हैं। अभी एक जंगली गटर खोदते हुए मजदूरों को पाँच पत्रे मिले, जो बड़े वजनदार मालूम होते थे। उनको साफ किया गया तो वे दो ताम्रपत्र निकले। उन ताम्रपत्रों के लेखक 'पृथ्वीवल्लभ वाक्पतिराज मुंज' हैं। अस्तु, यहाँ हम उन सिक्कों का वर्णन करते हैं, जिनका उज्जैन से संबंध है।

उज्जैन का सबसे प्रसिद्ध सिक्का है—'गधिया'। इसको यहाँ के लोग 'गधिया' ही कहते हैं और उसके नामकरण का कारण निम्नलिखित कथा बतलाते हैं।—कहते हैं कि विक्रमादित्य का बड़ा भाई गंधर्वसेन था*। उसको शाप था कि वह गधे के चोले में रहे। रात को वह अपने असली स्वरूप में आ जाता था। उस समय वह अत्यंत सुंदर राजकुमार मालूम देता था। रात्रि को एक सुंदरी युवती ने उसे देख लिया, वह उस पर मोहित हो गई। राजकुमार भी मुग्ध हो गया। उसने अपना प्रेम सुंदरी पर प्रकट किया। सुंदरी ने उस युवक को अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। परंतु प्रेमालाप के पश्चात् युवक ने अपना रहस्य बतलाया कि दिन में मैं इस शरीर में नहीं रहता हूँ, शापग्रस्त होने के कारण मेरा शरीर 'गधे' का बन जाता है। उसने युवती को चेतावनी दे रखी थी कि यह रहस्य किसी पर प्रकट न हो कि मैं मानव-देह-धारी

---

* भविष्य पुराण में गंधर्वसेन को विक्रम का बड़ा भाई बतलाया है।

सप्तत्रिंशशते वर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ ॥७॥
प्रमरो नाम भूपालः कृतं राज्यं च षट्समाः।
महामदस्ततो जातः पितुरर्धं कृतं पदम् ॥८॥
देवापिस्तनयस्तस्य पितुस्तुल्यं स्मृतं पदम्।
देवदूतः सुतस्तस्य पितुस्तुल्यं पदं धृतम् ॥९॥
तस्माद्गन्धर्वसेनश्च पंचाशदब्द भूपदम्।
कृत्वा च स्वसुतं शंखमभिषिच्य वनं गतः ॥१०॥
शंखेन तत्पदं प्राप्तं राज्यं त्रिंशत्समाः कृतम्।
देवांगना वीरमती शक्रेण प्रेषिता तदा ॥११॥
गंधर्वसेनं संप्राप्य पुत्ररत्नमजीजनत्।
पूर्णे त्रिंशशते वर्षे कलौ प्राप्ते भयंकरे ॥१२॥
शकानां च विनाशार्थमार्य्यधर्मविवृद्धये।
विक्रमादित्यनामानं पिता कृत्वा मुमोद ह ॥१३॥
(खं० १ अ० ७)

हो सकता हूँ। यदि किसी ने देख लिया तो मेरी मृत्यु निश्चित है। मेरी मृत्यु के साथ ही यह नगरी उलट जायगी। सुंदरी की माता ने एक दिन अत्यंत दुराग्रह कर उस युवक को देखने की इच्छा की। विवश होकर युवती ने एक छिद्र द्वारा अपनी माता को उस मदन-रूप राजकुमार का दर्शन करवा दिया। उसके दर्शन करवाने भर की देरी थी कि राजकुमार गंधर्वसेन का शरीर जलने लगा, और उज्जैन उलटने लगी। इस प्रकार पुरातन-कालीन वैभव-शालिनी अवंतिका का सर्वस्व उलट गया! कहते हैं कि इसी गंधर्वसेन की स्मृति में 'गधिया' सिक्का चलाया गया। यह केवल दंतकथा है, इसके लिये कोई आधार नहीं है। 'गधिया' सिक्का कब से चलता है, किसने चलाया, यह अज्ञात है। इसके बाद के सिक्कों से यह मालूम होता है कि संभवतः यह किसी शक राजा का चलाया हुआ होना चाहिए।

आदरणीय राय बहादुर महामहोपाध्याय श्री ओझाजी ने 'प्राचीन मुद्रा' की भूमिका में इस सिक्के के विषय में लिखा है कि—"जब हूण तोरमाण ईरान का खजाना लूटकर वहाँ के सिक्के हिंदुस्तान में ले आया तो उसके पीछे कई शताब्दियों तक राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, मालवा आदि देशों में उन्हीं की भद्दी नकलें बनती रहीं। उनकी कारीगरी में यहाँ तक अंतर आ गया कि बिगड़ते बिगड़ते राजा के चेहरे को गधे का खुर मान लिया, और उसी के आधार पर उस सिक्के को लोग 'गधिया' या 'गधैया' कहने लगे।"

मोहन-जो-दड़ो और हरप्पा की खुदाई में भारत की जिस संस्कृति का ध्वंसावशेष उपलब्ध हुआ है उसमें भी कुछ सिक्के गधे की आकृति के पाए गए हैं।

रत्नागिरि जिले के सोमेश्वर गाँव में एक मंदिर कर्णेश्वर महादेव का है। इस मंदिर के सभा-मंडप में एक तिकोना शिलालेख

उपलब्ध हुआ है। इस शिलालेख में 'गद्याण' और 'दाम' इन दो सिक्कों के नाम आए हैं। 'गद्याण' या 'गद्यन' यह संज्ञा एक रुपए की होनी चाहिए। अब इस नाम का कोई सिक्का प्रचलित नहीं है। हाँ, गुजरात में तौलने के एक वजन को 'गदियानो' कहते हैं। इस गदियानो का वजन आधा तोला है। इससे मालूम होता है कि पहले 'गद्याण' नाम का सिक्का एक रुपए—'एक तोले' के वजन का रहा होगा*। 'गद्याण' रुपए के समान ताँबे का भी रहा है, क्योंकि जो 'गधिया' सिक्के प्राप्त होते हैं वे चाँदी के भी हैं और ताम्र के भी।

महाराष्ट्रीय साधु ज्ञानेश्वर के समसामयिक वैद्यक ग्रंथों में एक सिक्के का नाम 'गद्याण' और 'गदियान' आया है। संभव है, 'गदियान' 'गद्याण' का अपभ्रंश ही हो। और उसी 'गदियान' से जाकर 'गधिया' हो गया होगा। उपर्युक्त वैद्यक ग्रंथ में जहाँ 'गद्याण' का उल्लेख है वहाँ 'ताँबे' के पैसे के लिये है। उसी पुस्तक में एक स्थल पर लिखा है कि ६४ ताँबे के 'गद्याण' में चाँदी का एक 'गद्याण' प्राप्त होता है। इससे भी 'चाँदी' और 'ताँबे' के दो सिक्कों का होना पाया जाता है। भास्कराचार्य की लीलावती में भी 'गद्याणकस्तद्द्वयमिंद्रतुल्यैः' पद्य-खंड में 'गद्याण' के परिमाण का उल्लेख है। भास्कराचार्य के काल तक 'गद्याण' का चलन था†। परंतु यह गधे की शकल क्या है? किसने इसका प्रचार किया? इत्यादि बातों का पता नहीं चलता।

* श्रीमान् ओझाजी के पूर्वोद्धरण के अनुसार गुजरात में इस सिक्के का प्रचार होना पाया जाता है। संभव है यह तौल उसी प्रकार की हो। अब आधा तोला हो गई है।

† भास्कराचार्य का काल शक १०३६ है। उन्होंने अपने लीलावती ग्रंथ में इस 'गद्याण' का उल्लेख किया है। भास्कराचार्य ने अपने जन्म समय को सिद्धांतशिरोमणि में लिखा है—"रसगुणपूर्णमहीसम शक-नृप-समये-भवन्ममोत्पत्तिः"।

उज्जैन के बाजार में एक सिक्का मिलता है यह उज्जैन में प्रचलित था। यह आकार में गोल है, सामने की ओर मनुष्य के हाथ की आकृति है, और बाईं ओर 'बुद्धचक्र' बना हुआ है। इसके नीचे अशोक लिपि में 'ऊजनेय' लिखा हुआ है। दूसरी ओर एक नंदी की मूर्त्ति है, बिंदुओं के वृत्त में नंदी का आकार है। यह बिंदु-चिह्न उज्जैन का प्रसिद्ध चिह्न है। इस चिह्न के विषय में श्रीयुत सी० वी० वैद्य का मत है कि—यह नंदी का आकार महाकालेश्वर के वाहन का द्योतक है, और अशोक-लिपि में लिखा होने के कारण अशोक-कालीन होना चाहिए।

प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मि० 'कनिंगहम' अपनी 'प्राचीन भारत की मुद्राएँ' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

'ऐरन'* में जैसी मुद्राएँ प्राप्त हुईं, वैसी मुद्राएँ मध्यभारत के बेसनगर (विदिशा—भेलसा) में भी मिली हैं। जैसे पश्चिम मालव की राजधानी उज्जैन थी उसी तरह पूर्व-मालव की राजधानी बेसनगर थी। उज्जैन की मुद्राओं पर एक विशेष प्रकार का चिह्न होता है ⁘+⁘। इस चिह्न का नाम 'उज्जैन-चिह्न' है। ऐसे ही चिह्न 'ऐरन' और आंध्र देश की मुद्राओं पर भी पाए गए हैं।

एक चिह्न 'मेढ़क' है, जैसा कि उज्जैन के सिक्कों पर मिलता है।

क्रास (+) और वाल, अर्थात् 'संचक्र-चतुष्पाद चिह्न' मालवा की समस्त पुरातन मुद्राओं पर अंकित मिलता है। किसी पर छोटा आकार है, तो किसी पर बड़ा। बड़े चिह्नों के अंदर स्वस्तिक का आकार रहता है। छोटी मुद्राओं पर चक्र-चिह्न है।

पांडेय श्री लोचनप्रसादजी ने कोशोत्सव-स्मारक संग्रह के अंतर्गत अपने लेख में एक स्थान पर लिखा है—"मालवा प्रांत—उज्जैन—

---

* 'ऐरन' सागर जिले का एक ग्राम है। यह उसका पौराणिक नाम है।

और 'ऐरन' की प्राप्त मुद्राओं में कई एक इतनी छोटी हैं कि वे वजन में ४ ग्रेन से अधिक नहीं हैं। ऐसी मुद्राओं का मोल प्रायः दो कौड़ी से ज्यादा न था।"

उज्जैन के द्वितीय विक्रमादित्य स्कंदगुप्त (ई० ४५५—४६७) का चाँदी का एक सिक्का है। उस पर यह अंकित है—'परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्तः'। इसी प्रकार 'परमगुप्त प्रकाशादित्य' (ई० ४६७—४६९) के सुवर्ण के सिक्के पर 'श्री विक्रम' लिखा मिलता है। परंतु प्रकाशादित्य नाम के सिक्के भी इसी के हैं, जो उज्जैन में 'स्कंदगुप्त' के शासन-काल में ढाले गए थे। संभवतः स्कंदगुप्त के मरणांतर उसकी उपाधि भी इसने ग्रहण कर ली हो।

'मालव देश की वेत्रवती (बेतवा) नदी के पास विदिशा नगर से कुछ दूरी पर अहिच्छत्र के खँडहरों में अग्निमित्र के नाम के सबसे अधिक सिक्के मिले हैं।'

उज्जयिनी के सिक्कों के विषय में यह भी लिखा है कि इन सिक्कों पर साधारणतः एक चिह्न मिलता है। परंतु कुछ दुष्प्राप्य सिक्कों पर ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के अक्षरों में 'उजेनिय' लिखा है*।

साधारणतः उज्जैन के सिक्कों पर एक ओर हाथ, 'सूर्य-ध्वज' लिए हुए मानव-मूर्ति, और दूसरी ओर उज्जैन का चिह्न रहता है।†

कुछ सिक्कों पर एक ओर घेरे में साँड़, बोधिवृक्ष, या सुमेरु पर्वत का चिह्न, अथवा लक्ष्मी की मूर्ति मिलती है। उज्जैन के सिक्के कुछ गोलाकार और कुछ चौकोर होते हैं।

मालवा में हूण-तोरमाण के बहुत से चाँदी के सिक्के मिले हैं। ये मालवे के राजा बुधगुप्त के चाँदी के सिक्कों के ढंग पर बने हुए हैं। इन पर 'सं० ५२' लिखा है।

* Coins of Ancient India, P. 98.

† M. C. Vol. I. P. 152—5; Nos. 1—36.

सन् १९१५ में मालवा में ताँबे के ७९४ सिक्के मिले थे, जिनमें कुछ तो चहाड़देव के भी हैं। उनमें विक्रम संवत् का उल्लेख है।

कनिंगहम साहब को पश्चिम एशिया में एक ऐसी मुद्रा मिली है जिस पर उज्जैन का चिह्न है। कनिंगहम साहब और डा० भांडारकर का इस मुद्रा के विषय में यह मत है कि—यह ईसा से १५०० से १००० वर्ष पूर्व की होनी चाहिए।

एक सिक्का उज्जैन में मिलता है, जिस पर 'त्तुर' बना हुआ है। त्तुर के पास 'म' स्पष्ट दिखाई देता है। दूसरी ओर उ यह चिह्न है। यह सिक्का आधा चाँदी का है। इसी प्रकार का एक और छोटा सा सिक्का है। उसमें भी एक ओर 'त्तुर' है, दूसरी तरफ जी का यह चिह्न बना हुआ है। एक गोलाकार सिक्का और है, उसके एक ओर पर 'श्री' का आकार है। ये सिक्के ताँबे के हैं, और कुछ आधी चाँदी के भी हैं। अभी इनमें से अनेक सिक्कों का यह पता चलना बाकी है कि ये किनके चलाए हुए हैं।

(७) द्रौपदी का बहुपतित्व

[लेखक—श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, काशी]

जीवन का आदर्श कैसा होना चाहिए, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने विषय में विचार कर दे सकता है। किसी के चरित्र की समीक्षा करते समय आलोचनात्मक दृष्टि से इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि जिस आदर्श को सम्मुख रखकर जीवन को प्रगतिशील बनाया गया है, उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा जीवन में हुई है, या नहीं। देवी द्रौपदी के जीवन का क्या आदर्श रहा है, यह तो चरित्र के विश्लेषण से स्पष्ट हो जायगा, किंतु उसके चरित्र में एक ऐसी विचित्र लांछना लगी हुई है जो किसी सती स्त्री के लिये वांछनीय नहीं हो सकती। आर्य-साहित्य में द्रौपदी का चरित्र अपने ढंग का अद्भुत और सर्वथा विचित्र है। मालूम होता है इसी विचित्रता की लिप्सा ने महाभारतकार, या क्षेपककार, से एक बड़े औचित्य का उल्लंघन कराया है। समस्त महाभारत ही उप-कथाओं से भरा हुआ है। कहीं कहीं तो मूल कथा की भी उपेक्षा कर उप-कथाओं की सृष्टि पर सृष्टि की गई है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जान-बूझकर ही महाभारत को हिंदू-धर्म का सर्वांगीण इतिवृत्त बनाया गया है। यदि महाभारतकार को केवल कौरव-पांडवों के सत्यासत्य युद्ध का वर्णन करना ही अभीष्ट होता, तो अठारह पर्वों की कोई आवश्यकता नहीं थी। हमारी समझ में, इस प्रकार आधा महाभारत तो आदिपर्व—प्रथम पर्व—में ही समाप्त हो जाता है। वाल्मीकीय रामायण में भी, मूल कथा के साथ,

विषय-प्रवेश

अनेक उप-कथाएँ हैं, किंतु महाभारत की तरह, उसमें कहीं भी मूल कथा की उपेक्षा नहीं की गई है। मूल कथा को अधिक स्पष्ट और सुबोध बनाने के लिये ही उप-कथाओं की सहायता ली जाती है, परंतु महाभारतकार का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न मालूम पड़ता है। आगे की विवेचना से हमारा कथन स्पष्ट हो जायगा।

मूल महाभारत में प्राय: प्रत्येक शताब्दी में, कुछ दिनों तक, बराबर कुछ न कुछ वृद्धि होती ही गई। यही कारण है कि महाभारत एक विशालकाय ग्रंथ बन गया है। अनुसंधान से पता चला है कि पहले महाभारत का निर्माण इस बृहदाकार में नहीं हुआ होगा; उसका विशेष अंश तो पीछे की कृति है। हमारी धार्मिक भीरुता और दुर्बलता ने, प्राचीनता के नाम पर, आर्य-साहित्य में जो कुछ अच्छा-बुरा है सबको मान्य बना लिया है। हम यह अच्छी तरह समझते हैं कि धार्मिक बातों की विवेचना में तर्कपूर्ण अर्थवाद की अपेक्षा भाववाद ही अच्छा है; किंतु ग्रंथियों के सुलझाने के लिये, और सत्य पर चढ़ी हुई मलिनता को दूर करने में, तर्क ही का उपयोग किया जाता है। खोज और तर्क के आधार पर विचार करने से द्रौपदी का बहु-पतित्व सर्वथा निराधार प्रमाणित हो जाता है।

पहले महाभारत इतना विशाल ग्रंथ नहीं था

प्राचीन भारतवर्ष में बहु-पत्नीत्व की प्रथा सर्वमान्य रूप से प्रचलित थी, किंतु स्त्रियों के लिये बहु-पतित्व की प्रथा का उल्लेख महाभारत को छोड़ अन्य किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। हिंदू-धर्मशास्त्र के सर्वमान्य विधायक मनु महाराज ने अपने स्मृति-ग्रंथ में आठ ही प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है। द्रौपदी के विवाह जैसी प्रथा का वर्णन तो क्या, उसमें इसका संकेत तक भी नहीं है। अन्यान्य स्मृति-ग्रंथ तथा गृह्य-सूत्रों में भी इस प्रकार के विवाह का

बहुपतित्व प्राचीन प्रथा नहीं है

विधान नहीं है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतवर्ष में द्रौपदी के विवाह-जैसी प्रथा का प्रचार कभी न था। थोड़ी देर के लिये यह माना जा सकता है कि प्रचलित प्रथा पर ध्यान न देकर भी द्रौपदी का विवाह पाँचों पांडवों से हुआ था, तथापि महाभारत के विशेष अध्ययन और मनन से यह विचार खंडित हो जाता है।

वैद्य महाशय के विचार

राव बहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी०, महाभारत के विशेष मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने मराठी भाषा में महाभारत का एक मीमांसा-पूर्ण उपसंहार लिखा है। उसमें लिखा है—"अनेक स्त्रियों से एक पुरुष के विवाह करने की रीति वैदिक काल से महाभारत के समय-पर्य्यंत, न्यूनाधिक परिमाण में, प्रचलित थी, परंतु एक स्त्री के अनेक पति करने की प्रथा आरंभ में उन चंद्रवंशी आर्यों में थी, जो हिमालय से नए नए आए थे। द्रौपदी के उदाहरण से यह बात माननी पड़ती है। इसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये अनेक पति विभिन्न कुटुंबों के नहीं, सम्मिलित कुटुंब के सगे भाई होते थे। आजकल भी हिमालय की तरफ पहाड़ी लोगों में, कुछ स्थानों में, यह प्रथा प्रचलित है। वहाँ भी यही बात है। विवाहित स्त्री को किसी प्रकार के कष्ट की आशंका नहीं रहती। भारतीय आर्यों में पहले से ही इस प्रथा के विषय में प्रतिकूल मत था। कुछ चंद्रवंशी आर्यों द्वारा लाई गई यह प्रथा भारतवर्ष में प्रचलित नहीं हुई। महाभारत के समय में आर्यों में यह प्रथा बिलकुल नहीं थी। महाभारतकार के लिये एक द्रौपदी का पाँच पांडवों की पत्नी होना एक पहेली ही था, और इसका निराकरण करने के लिये सौति ने महाभारत में दो तीन कथाएँ मिला दी हैं। विशेषतः कुंती का बिना देखे-भाले यह कह देना कि जो भिक्षा लाए हो उसे बाँट लो, और तदनुसार पाँचों भाइयों का एक ही स्त्री को

अपनी अपनी पत्नी बना लेना, बहुत ही विचित्र है। युधिष्ठिर के कथनानुसार मानना चाहिए कि पूर्व समय में यह प्रथा कुछ लोगों में थी, किंतु ऊपर सौति ने जो प्रयत्न किया है उससे भली भाँति सिद्ध है कि महाभारत के समय भरतखंड से वह प्रथा उठ गई थी।"

वैद्य महाशय के कथन का मूल्य है। वह भी इस प्रथा को आर्य-साहित्य में विस्मयपूर्ण दृष्टि से ही देखते हैं। उन्होंने अपने

उपर्युक्त कथन की समीक्षा

गवेषणामय 'उपसंहार' में जो कुछ विवेचना-तर्कना की है वह महाभारत की प्रत्येक कथा पर आस्था रखते हुए ही की गई है। उनकी युक्तियाँ जटिलता को सुलझाकर भी अलग ही रही हैं, कथा-वस्तु में कोई विशेष व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ है। यही कारण है कि द्रौपदी के विवाह को विचित्र और अप्रचलित मानते हुए भी, उन्होंने केवल धर्मराज युधिष्ठिर के कथनानुसार कुछ समय के लिये, पूर्व-काल में इस प्रथा के अस्तित्व को मान लिया है, परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि महाभारत के समय में वह इस प्रथा को प्रचलित नहीं मानते। महाराज युधिष्ठिर के कथन का जो उल्लेख उन्होंने किया है, हमारी समझ से संभवतः वह यही होगा—

"श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा॥ १४॥
तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः।
संगताभूद्दशभ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः॥ १५॥"

(आदिपर्व, अध्याय २११)

अर्थात् 'पुराण की कथा में सुनता हूँ, कि जटिला गौतमी का विवाह सात ऋषियों के साथ हुआ था, और वार्क्षी नामक एक ऋषि-कन्या का विवाह प्रचेता आदि दश भाइयों के साथ हुआ।' हमें इस कथन की सत्यता संदिग्ध मालूम होती है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि

पुराणों की रचना महाभारत के पीछे हुई है, अतएव पूर्ववर्त्ती में परवर्त्ती वस्तु का उल्लेख किसे न खटकेगा ? थोड़ी देर के लिये, दुष्ट-तोष-न्यायानुसार, इस कथन पर विश्वास रखकर हम पौराणिक अनुक्रमणिका भी देख गए, किंतु जटिला और वार्क्षी का पता न लगा। मालूम नहीं, किस पुराण में इनका वर्णन है। यदि 'पुराणेऽपि' का अर्थ प्राचीन जनश्रुति में लगावें, तो भी इनका कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। हर्बर्ट स्पेंसर की ज्ञेय-मीमांसा के अनुसार, कि प्रत्येक जनश्रुति में सत्य का कुछ न कुछ आधार अवश्य रहता है, हम इस अनिश्चित किंवदंती पर, बौद्धिक उत्कर्ष के इस प्रगति-शील युग में, विश्वास करने में असमर्थ हैं। किसी अन्य सबल प्रमाण को हम सादर अपने सिर पर रखेंगे, किंतु तर्क-हीनता कोई प्रमाण नहीं है। महाभारत में चंद्रवंशियों के हिमालय की तरफ से आने का स्पष्ट उल्लेख हमें कहीं नहीं मिला, और न किसी चंद्रवंशी आर्य में इस प्रकार के विवाह का कहीं उदाहरण ही देख पड़ा। अतएव चंद्रवंशियों में इस प्रथा का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ? किसी देश अथवा किसी समाज में आवश्यकता ही किसी प्रथा को जन्म देती है। भारतवर्ष में कभी स्त्री-पुरुषों की संख्या में गहरी विषमता उत्पन्न नहीं हुई, अतः अनेक पुरुष एक स्त्री को अपनी अपनी पत्नी बनाने को किसी प्रकार बाध्य नहीं कर सकते। हिमालय के पार्श्ववर्ती तिब्बत आदि प्रांतों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से न्यूनतर है, इसलिये वहाँ इस प्रकार की प्रथा अब भी प्रचलित है। भारतवर्ष में इस प्रथा के लिये कोई कारण नहीं था। हम कुछ काल तक के लिये यह मान लेते हैं कि द्रौपदी का विवाह माता कुंती के आज्ञानुसार

गौतमी और वार्क्षी के बहुपतित्व पर विचार

भारतवर्ष में बहुपतित्व-प्रथा की आवश्यकता नहीं थी

हुआ, परंतु महाभारत में इस प्रथा का जो उल्लेख है, कम से कम उसके लिये तो कुछ कारण होना चाहिए। द्रौपदी का विवाह तो प्रथा के अनुसार ही हुआ था, उससे प्रथा की उत्पत्ति नहीं हुई। बहुत विचार और तर्क-वितर्क करने के उपरांत भी इसका कुछ कारण नहीं सूझ पड़ता। ज्ञात होता है कि धार्मिक मर्यादा में ऐक्य रखने के लिये ही पीछे से महाभारत में यह काल्पनिक प्रथा समाविष्ट की गई है। इससे बृहत्तर भारतवर्ष की प्रथा का भी परिचय मिल जाता है, और महाभारत का मूल्य तथा महत्त्व भी, एक प्रकार से, महत्तर हो जाता है। भारत के वाममार्गी क्षेपककारों को ही इसके लिये अधिक दोष दिया जाता है।

बहु-पतित्व की प्रथा पर कुछ विद्वानों के विचार

कई वर्ष हुए, लाहौर के ठाकुर सुखरामदास चौहान ने द्रौपदी के बहु-पतित्व के खंडन में उर्दू में एक पुस्तक लिखी थी। पीछे उसका हिंदी-अनुवाद भी करा दिया गया था। पूर्वोक्त महाशय ने अपनी योग्यता के अनुसार, बड़े सुंदर ढंग से, अपने मत को प्रतिपादित किया था। कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी द्रौपदी के बहुपतित्व पर अपने अपने विचार प्रकट किए हैं*। इस निबंध में उन सबका समावेश होना कठिन है। कुछ विद्वान् तो इसे अनार्य-प्रथा कहते हुए भारतवर्ष में इसके अस्तित्व या प्रचलन को मानते हैं, और कुछ इसे बिलकुल ही निराधार तथा काल्पनिक समझते हैं। अँगरेजी में वेस्टरमार्क (Westermarck) ने, तीन बड़े-बड़े खंडों में, 'मानव-जाति के विवाह का इतिहास' लिखा है। उसके तीसरे खंड में

* See, Prof. Max Muller's Ancient Sanskrit Literature, p. 46.

Prof. H. H. Wilson's works Vol. III, p. 340.

Prof. M. William's Indian Epic Poetry, p. 99.

द्रौपदी के बहुपतित्व पर भी विचार किया गया है, किंतु इस विषय पर विशेष टीका-टिप्पणी न कर वे आगे बढ़ गए हैं। एक अँगरेज महाशय ने भारतीय शोध-संबंधी पत्रिका में, दो पंक्तियों का शीर्षक देकर तत्कालीन भारतवर्ष की अनेक बातों पर, महाभारत से संबंध रखते हुए, लिखा है—"साधारणत: आधुनिक भारतवर्ष में बहुपतित्व की प्रथा अनार्य—तिब्बती या द्राविड़ी—जातियों तक ही परिमित है, किंतु तो भी कभी कभी यह माना जाता है कि पूर्वकालिक आर्यों में यह प्रथा प्रचलित थी। हम महाभारत में द्रौपदी के विषय में पढ़ते हैं कि पाँचों पांडव राजकुमारों में मध्यम भाई द्वारा धनुर्विद्या की प्रतियोगिता में वह जीती गई और सबकी पत्नी बनी। यह सत्य है कि उनमें से तीन राजकुमारों की माता कुंती ने, जैसा कि वर्णन किया गया है, पहले केवल भूल से ही उसे मिलकर भोगने की आज्ञा दे दी, और फिर उस व्यवहार को स्पष्ट करने तथा न्याय्य प्रमाणित करने के लिये अलौकिक घटनाएँ उपस्थित की गईं*।"

इसी विषय की साधारण विवेचना करते हुए, महाशय हॉपकिंस ने 'अमेरिकन ओरिएँटल' में लिखा है—"फिर भी इनमें से कोई

* Generally speaking, polyandry in modern India is restricted to non-Aryan—Tibetan or Dravidian—tribes or castes. Yet it is often supposed to have existed among the Aryans. We read in the Mahabharat of Droupadi, who was won at an archery match by the eldest (?) of the five Pandava princes, and then became the wife of all. It is true that Kunti, the mother of three of the princes, is represented as having at first sanctioned the union only by a mistake, and that super-natural occurances are introduced to explain and justify the transaction.

—Indian Antiquary. Vol. VI, 262.

भी बात यह नहीं प्रमाणित करती है कि बहुपतित्व असल में एक आर्य-रीति थी* ।" इस प्रकार देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने इस प्रथा के प्रचलन के प्रतिकूल अपने विचार प्रकट किए हैं। यह प्रथा कभी भारतवर्ष में नहीं थी। यों तो अनार्यों में इसका प्रचलन आज भी पाया जाता है। आर्य जाति की निम्न श्रेणियों में भी कहीं कहीं यह पाया जाता है कि स्त्री अपने पहले पति को त्यागकर दूसरा पति बना लेती है, किंतु इससे भी इस प्रकार की प्रथा का समर्थन नहीं हो सकता। इस पति-परित्याग का कारण दांपत्य-जीवन की विषमता ही है। संभवत: इस विषमता का संबंध अधिकांश या सर्वांश में स्त्री के मलिन चरित्र से ही हो। आर्य-जाति ने ऐसी प्रथा का कभी सम्मान नहीं किया। यह अनार्यों में ही किसी रूप में प्रचलित रही है। ऑपर्ट महाशय ने अपने एक बृहदाकार ग्रंथ में भ्रमवश लिख दिया है—"पाँचों पांडवों में (द्रौपदी के) बहु-पतित्व की घटना तथा अन्य अनोखी रीतियाँ उन्हें भारतवर्ष के अनार्य निवासियों के साथ बहुत संबद्ध करती हैं† ।"

उपर्युक्त कथन को ऑपर्ट महाशय की एकांगदर्शिता का उदाहरण ही समझना चाहिए; क्योंकि भारतवर्ष के मूल अनार्य निवा-

---

* None of these statements, however, proves that polyandry was a genuinely Aryan custom.—Hopkin's "The Social and Military Position of the Ruling Caste in Ancient India."—Jour. American Oriental Sec. XIII, 345.

† The occurance of the polyandry of the five Pandavas and other peculiar customs closely connect them with the non-Aryan inhabitants of India. —Oppert's "On the Original Inhabitants of Bharatbharsha or India. p. 617.

सियों के विषय में लिखते हुए, उन्होंने पांडवों को भी उनसे संबद्ध कर लिया। भारतीय आर्यों में इस प्रथा की व्यावहारिकता कभी सम्मान्य नहीं थी, अतएव आर्या द्रौपदी के ऊपर यह लांछन लगना उचित नहीं। इस प्रथा के खंडन में, जहाँ तक हो सका, संक्षिप्त रूप से हमने कुछ प्रमाण उद्धृत किए हैं। महाभारत के कुछ विशेष अंशों के उल्लेख से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा कि द्रौपदी का विवाह केवल धनुर्धर अर्जुन के साथ ही हुआ था। बहु-पतित्व का आरोप निराधार है।

कथा-वस्तु का विवेचन

द्रौपदी राजा द्रुपद की पुत्री तथा धृष्टद्युम्न की बहन थी। राजा द्रुपद की यह उत्कट इच्छा थी कि द्रौपदी का विवाह वीर धनुर्धर अर्जुन के साथ ही हो। अन्य किसी राजकुमार पर उनकी दृष्टि नहीं थी, किंतु वनवास की अवधि होने के कारण अर्जुन का पता लगना भी कुछ कठिन था; अतएव यह विचारकर राजा द्रुपद ने एक ऐसा कठोर धनुष बनवाया और अंतरिक्ष में ऐसा भ्रामक यंत्र रखवाकर, उसमें एक छिद्र करा दिया तथा लक्ष्य उसी छिद्र में होकर रखा, जिसे अर्जुन के सिवा दूसरा कोई मनुष्य लक्ष्य-वेध न कर सके। निम्न-लिखित श्लोक में यही भाव है।

यज्ञसेनस्य कामस्तु पांडवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद्विवृणोति सः ॥१०॥
सोऽन्वेषमाण: कौंतेयं पांचालो जनमेजय।
दृढं धनुरथानम्यं कारयामास भारत ॥११॥

(आदिपर्व, अध्याय २००)

यथार्थ में कौंतेय अर्जुन की खोज निकालने के लिये ही राजा द्रुपद ने कृष्णा के विवाह में इतनी कठिन शर्तें रखी थी। वीर कर्ण भी बड़े धुरंधर धनुर्धर थे। बहुत संभव था कि वह उस लक्ष्य

को वेध देते, किंतु द्रौपदी ने चिल्लाकर उनके उठते ही कह दिया—'नाहं वरयामि सूतम्'—मैं सूत-पुत्र का वरण नहीं करूँगी। वीर कर्ण तो अलग ही हो गए, अब अर्जुन के लिये एक प्रकार से लक्ष्य-वेधन का मार्ग प्रशस्त हो गया। द्रुपद-परिवार की इच्छा भी यही थी। अर्जुन ने लक्ष्य-वेध कर द्रौपदी पर केवल वैवाहिक अधिकार प्राप्त किया। क्रीत दासी बनकर द्रौपदी अर्जुन के यहाँ नहीं गई; क्योंकि रंगभूमि में जाकर, सब बाजों को बंद कराकर, धृष्टद्युम्न ने उपस्थित जन-समूह को संबोधित कर, जलद-गंभीर स्वर में कहा था—

> इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः शृण्वंतु मे भूपतयः समेताः।
> छिद्रेण यंत्रस्य समर्पयध्वं शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्द्धैः ॥६०॥
> एतन्महत्कर्म करोति यो वै कुलेन रूपेण बलेन युक्तः।
> तस्याद्य भार्य्या भगिनी ममेयं कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ॥६१॥
>
> (आदिपर्व, अध्याय २००)

अर्थात् हे नृपतिगण, सुनो। यह धनुष और ये बाण रखे हुए हैं। यह अंतरिक्ष में लक्ष्य-यंत्र है। जो कुल, रूप तथा बल से युक्त पुरुष इस यंत्र के छिद्र में लक्ष्य-वेध का महत् कार्य करेगा, आज मेरी यह बहन कृष्णा—द्रौपदी—उसकी भार्या बनेगी। मैं झूठ नहीं कहता।

धृष्टद्युम्न की प्रतिज्ञा में यह नहीं है कि लक्ष्य-वेधक का द्रौपदी पर सर्वाधिकार हो जायगा। पत्नीत्व की मर्यादा को पवित्र और

कुंती के भिक्षा-संबंधी वचन की निःस्सारता

निर्मल रखते हुए, पति को जो कुछ अधिकार मिलता है वह उपर्युक्त प्रतिज्ञा में प्रस्तुत है, किंतु द्रौपदी को पाँचों भाइयों की पत्नी बनने को बाध्य करने के लिये अर्जुन को कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। द्रौपदी के बहु-पतित्व के कारण के लिये सबसे अधिक माता कुंती का

'भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'—सब मिलकर खाओ—कथन ही बतलाया जाता है, किन्तु ध्यान-पूर्वक विचार करने पर यह धारणा एकांत निर्मूल प्रमाणित हो जाती है। कुंती के मुख से ऐसे मलिन शब्द नहीं निकल सकते। हमारे तर्क के विरोध में यह कहा जा सकता है कि उनको यह ज्ञात नहीं था कि आज भिक्षा के बदले द्रौपदी ही आई हुई है, किंतु यह विरोध दृढ़ नहीं है। व्यासजी की आज्ञा से, द्रौपदी के स्वयंवर को देखने के लिये ही, माता कुंती के साथ, पाँचों भाई पांडव एकचक्रा नगरी में कुम्हार के घर में टिके हुए थे। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है। जिस दिन पाँचों भाई ब्राह्मणों के साथ एकचक्रा से द्रौपदी के स्वयंवर में गए थे, उस दिन भी कुंती को यह बात ज्ञात थी। जब उन लोगों को स्वयंवर से लौटने में अधिक देर हो गई तब—

'तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्य्यचिंतयत् ।'

उन लोगों की माता को अनेक प्रकार की विपत्ति की आशंका होने लगी। माता का हृदय ही ऐसा है। उनको यह भय हुआ कि द्रौपदी के स्वयंवर में कौरव-दल भी अवश्य आया होगा, और संभव है, कहीं पांडव-कौरवों में लड़ाई न हो जाय। इसी चिंता में उनके मुख से परमोपकारी व्यासजी के संबंध में भी ऐसे शब्द निकल पड़े—

'विपरीतं मतं जातं व्यासस्यापि महात्मनः ।'

महात्मा व्यास के मत भी विपरीत हो गए। पुत्रों को सकुशल देखने के लिये वे बड़ी अधीर हो गईं। कभी इधर आतीं तो कभी उधर जातीं, और कभी पांचाल का रास्ता निहारतीं। मातृ-हृदय के लिये पुत्रों के प्रति इतनी चिंता, इतनी अधीरता, सर्वथा स्वाभाविक है। उधर अर्जुन ने ब्राह्मण-वेश में जाकर लक्ष्य का वेध कर दिया और द्रौपदी ने प्रसन्नता-पूर्वक उनको अपना पति मानकर, गले में सुंदर 'शुक्लांबरमाल्यदाम' पहना दिया, परंतु वहाँ बड़ा

विचित्र द्वंद्व छिड़ गया। सभी आपस में लड़ाई करने लगे। युधिष्ठिर ने मन में विचार किया कि यदि हम पाँचों भाई एक ही साथ यहाँ रहेंगे, तो सब लोग हमें पहचान जायँगे, अतएव पाँचों भाइयों की उपस्थिति यहाँ श्रेयस्कर नहीं। यही सोचकर—

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं सार्द्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥३०॥
(आदिपर्व, अध्याय २०३)

लड़ाई में घोर गर्जन होने पर, अपने नरश्रेष्ठ दोनों—नकुल और सहदेव—भाइयों के साथ शीघ्रता से धर्मराज युधिष्ठिर अपने निवास-स्थान—एकचक्रा—को चले आए। केवल भीमसेन, अर्जुन की सहायता करने के लिये, वहाँ रह गए। अब यहाँ साधारण तर्क की बात है कि पुत्र-चिंता में विह्वल माता के पास नकुल-सहदेव के साथ जब धर्मराज युधिष्ठिर आए होंगे, तब कुंती ने उनसे स्वयंवर की सारी बातें अवश्य पूछी होंगी। भीमसेन और अर्जुन के संबंध में भी उन्होंने निश्चय पूछा होगा—वे दोनों कहाँ रहे? क्यों नहीं साथ आए? कब आवेंगे?—आदि। हमें पूर्ण विश्वास है कि धर्मराज युधिष्ठिर ने, अपनी सत्यनिष्ठा के कारण, सत्य और समुचित उत्तर ही दिया होगा। लड़ाई की बात जानकर वे भीमसेन और अर्जुन को देखने के लिये विशेष लालायित हो गई होंगी। अतः अर्जुन आदि को आया हुआ जानकर वे बैठी नहीं रह सकतीं। निश्चय ही वे द्वार तक आई होंगी, और द्रौपदी को भी देख लिया होगा। महाभारत में लिखा है कि स्वयंवर से लौट आने पर, बाहर से ही पुकारकर, अर्जुन ने माता से—'तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयताम्'—उस यज्ञ से उत्पन्न हुई द्रौपदी को भिक्षा समझकर निवेदन किया। विचार-पूर्वक देखने से अर्जुन के शब्द भी संदिग्ध ही प्रमाणित होते हैं। द्रौपदी उन्हें भिक्षा में तो मिली न थी;

वह तो उनके पुरुषत्व का पुरस्कार थी। फिर उनके मुख से ऐसे वचन कैसे निकल सकते हैं? सच पूछिए तो उस दिन अर्जुन भिक्षाटन करने नहीं गए थे। माता भी जानती थीं कि वे द्रौपदी के स्वयंवर में गए हैं। यदि हम यह मान भी लें कि अर्जुन ने भिक्षा की बात ही कही, तो भी स्वाभाविकता को छिपाना कठिन है। उस समय अर्जुन की वाणी में विजय का उल्लास रहा होगा, एक अद्भुत और अपूर्व भाव-भंगी रही होगी। साधारण मुद्रा से यह बात निवेदित नहीं की जा सकती। सच्ची भिक्षा को निवेदित करते समय शब्दों में एक अकृत्रिम अकिंचनता रहती है, जिसे सब समझ सकते हैं। किंतु यहाँ यह भाव नहीं है। कुटी में बैठी रहकर कुंती यह अनर्थमूलक वाक्य नहीं कह सकतीं कि उस भिक्षा को तुम सब मिलकर खाओ या भोगो। उस समय युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव अपनी माता कुंती के निकट ही बैठे हुए थे, यह बात इस श्लोकार्द्ध से भी प्रकट है—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

कुटी के भीतर से ही कुन्ती ने दोनों पुत्रों को बिना देखे ही कहा—सब मिलकर खाओ। यहाँ 'पुत्रौ'—पद से स्पष्ट है कि कुंती केवल दो भाइयों को ही संबोधित कर कह रही हैं, अन्यथा पाँचों भाइयों के लिये 'पुत्रान्'—पद आता। भीमसेन और अर्जुन की आवाज सुनकर शेष तीनों भाई लड़ाई का समाचार पूछने अवश्य बाहर आ गए होंगे। फिर कुंती चुपचाप बैठी नहीं रह सकतीं। भीमसेन और अर्जुन के साथ केवल द्रौपदी ही नहीं थी, किंतु स्वयंवर से लौटे हुए ब्राह्मणों का विशाल झुंड भी साथ था। निम्नांकित श्लोक का यही भावार्थ है—

ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तौ तु भीमसेनधनंजयौ ॥६३॥

(आदिपर्व, अध्याय २०५)

कुंती एक कुम्हार की कुटिया में थीं, किसी विशाल भवन में नहीं। अतः द्वार पर नर-समुदाय के आने की चहल-पहल सुनकर वे कैसे बैठी रह सकती हैं? फिर भी, सती गांधारी की तरह आँखों पर पट्टी बाँधकर तो वे बैठी नहीं थीं। युधिष्ठिर आदि से द्रौपदी को जीतने की बात जानकर भी क्या कुंती के हृदय में नवीन पुत्र-वधू को देखने की उत्कंठा न हुई होगी? इन सब बातों को मिलाकर देखने से साफ मालूम पड़ता है कि महाभारत में यह काल्पनिक और प्रक्षिप्त अंश है। कुंती के मुख से अनर्थ-मूलक शब्द कहलाकर पीछे उनसे पश्चात्ताप भी कराया गया है। संभवतः मातृ-महत्त्व दिखाने के लिये ही ऐसी कल्पना की गई होगी। वास्तविकता किसी तरह छिपी नहीं रह सकती। वह कभी न कभी झलक ही पड़ती है।

महाभारत के वर्णनानुसार कुंती को जब मालूम हुआ कि अर्जुन ने द्रौपदी को लक्ष्य कर ही भिक्षा की बात कही थी, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। कुछ देर बाद उन्होंने धर्मराज से कहा—हे पुत्र, तुम एक ऐसा भेद बताओ, जिससे मेरा वचन भी असत्य प्रमाणित न हो और पांचाल की राजकन्या द्रौपदी को भी कोई दोष न लगे। द्रौपदी के बहु-पतित्व को मानकर, कुंती का वचन तो अटल ही रहा, असत्य प्रमाणित नहीं हुआ, किंतु पांचाल की राजकन्या को जो दोष लगना था, वह लग ही गया। माता की बात सुनकर, अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा—पाँचों भाई मिलकर द्रौपदी से विवाह क्यों न कर लें? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—तुमने द्रौपदी को जीता है, तुम्हें ही यह राजकन्या शोभा देगी। विधिपूर्वक तुम्हीं इसका पाणि-ग्रहण करो। देखिए—

कुंती का अपनी बात को सत्य प्रमाणित करने का उद्योग

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी,
त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह,
गृहाण पाणिं विधिवत्त्वमस्याः ॥७॥
(आदिपर्व, अध्याय २०६)

युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा और सत्यनिष्ठा के अनेक उज्ज्वल उदाहरण महाभारत में पड़े हुए हैं, परंतु द्रौपदी के विवाह के संबंध में हम उन्हें, अनेक स्थलों में, एक परिवर्तित रूप में देखते हैं। स्वयंवर के दूसरे दिन राजा द्रुपद ने द्रौपदी-सहित पाँचों पांडवों को सम्मान-पूर्वक अपनी राजधानी में बुलाया। राजा द्रुपद ने अर्जुन के साथ द्रौपदी के विवाह की चर्चा छेड़ी। यह सुनकर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—हम पाँचों भाई द्रौपदी के साथ विवाह करेंगे। व्यासजी भी वहाँ उपस्थित थे। धृष्टद्युम्न ने उनसे पूछा—

युधिष्ठिर का उत्तर

यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ।
ब्रह्मन्समभिवर्तेत सद्वृत्तः संस्तपोधन ॥१०॥
(आदिपर्व, अध्याय २११)

आप द्विजों में श्रेष्ठ हैं, तपस्वी हैं, यह तो बतलावें कि छोटे भाई की पत्नी को बड़ा भाई किस प्रकार ग्रहण कर सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर, चाहे जो कुछ हो, व्यासजी को देना चाहिए था। किंतु व्यासजी तो चुप रहे, और धर्मराज युधिष्ठिर ने ही अपनी एकनिष्ठा की आत्मश्लाघा करते हुए कहा—

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथंचन ॥१३॥
श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा ॥१४॥

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः ।
संगताभूद्दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥१५॥

(आदिपर्व, अध्याय २१९)

मैंने कभी असत्य भाषण नहीं किया है, और न अधर्म की ओर चित्त ही लगाया है। मेरे मन में यह विचार होता है कि इसमें—द्रौपदी के बहु-विवाह में—कोई अधर्म नहीं है। गौतमी, जटिला और मुनि-कन्या वार्क्षी के वैवाहिक वृत्तांत का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं।

अब युधिष्ठिर के कथन की समीचीनतता पर विचार करना चाहिए। एकचक्रा में उन्होंने केवल अर्जुन से ही विवाह करने का अनुरोध किया था, परंतु पंचाल की राजधानी में आते ही उन्हें दूसरी धुन सवार हुई।

महाभारत में अश्लील वर्णन

कहीं कहीं महाभारत में श्लीलता का भी उल्लंघन किया गया है। एकनिष्ठ युधिष्ठिर भी इससे अलग नहीं रह सके। जब इन लोगों ने पहले पहल अपूर्व लावण्यमयी द्रौपदी को देखा तो सब के सब कामदेव के बाण से अभिहत हो गए। देखिए—'तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे कंदर्पबाणाभिहता बभूवुः।' हम समझते हैं कि इस प्रकार का वर्णन केवल द्रौपदी के अनुपम सौंदर्य को दिखाने के लिये ही किया गया है, परंतु ऐसे वर्णन से दर्शकों की मानसिक दुर्बलता और अपवित्रता का कितना सहज परिचय मिल जाता है! हम कभी ऐसा भी विचार सकते हैं कि संभवतः द्रौपदी के अलौकिक रूप-गुण को ही देखकर युधिष्ठिर अपने हठ पर दृढ़ हो गए हों। इस तर्क पर हम अधिक जोर नहीं देना चाहते, क्योंकि हमें युधिष्ठिर के प्रति बड़ी श्रद्धा है। वस्तुतः यह वर्णन ही कपोल-कल्पित है।

पीछे व्यासजी ने भी, इस प्रकार के विवाह को, बिना किसी प्रमाण के ही वैध बतलाया। उनका आर्षत्व ही इसका प्रमाण

समझा गया। द्रौपदी के पूर्वजन्म की दो कथाएँ कहकर उन्होंने अपने कथन की समीचीनता दिखलाई। संक्षेप में वे दोनों कथाएँ इस प्रकार हैं।

द्रौपदी के पूर्वजन्म की दो भिन्न भिन्न कथाएँ

(१) एक तपोवन में एक बड़ी सुंदरी कन्या थी, किंतु अपने अदृष्ट के कारण वह अल्प काल में ही विधवा हो गई। उसे पति का सौभाग्य-सुख नहीं मिला। उसने शिवजी से पति की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की—कठिन तपस्या भी शुरू की। शिवजी ने, उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर वरदान दिया—'पंच ते पतयो भद्रे भविष्यंतीति भारता:'—हे भद्रे, तुम्हें श्रेष्ठ कुलोत्पन्न पाँच पति प्राप्त होंगे। पाँच पतियों का वरदान सुनकर वह बड़ी रोई-गिड़-गिड़ाई। तब शिवजी ने कहा—तुमने पाँच बार पति पति कहा, इसी लिये मैंने तुम्हें पाँच पति प्राप्त होने का वर दे दिया।

आर्य-साहित्य में अब तक शिवजी आशुतोष के नाम से ही विख्यात थे, किंतु इस प्रकार की अनभिलषित दानशीलता तो वास्तव में आश्चर्यजनक के साथ ही बड़ी हास्यजनक भी है।

(२) दूसरी कथा में, व्यासजी ने कहा कि यह दिव्यरूपिणी द्रौपदी पूर्वजन्म में लक्ष्मी थी और ये पाँचों भाई पांडव पंच इंद्र थे। स्वर्ग-लोक से ही शापित होकर ये सब इस मर्त्य-लोक में आए हैं। द्रौपदी पाँचों भाइयों की भार्या बनेगी। उनका मूल कथन भी श्लोकबद्ध सुन लें—

'एवमेते पाण्डवा संबभूवुर्ये ते राजन् पूर्वमिंद्रा बभूवुः।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा ॥३५॥'

(आदिपर्व, अध्याय २१४)

महाभारत में यह कथा बड़े लंबे चौड़े रूप में लिखी गई है। व्यासजी की दोनों कथाएँ, आकाश-पाताल की तरह, दो ढंग की

हैं। यहाँ हम बड़ी अड़चन में पड़ जाते हैं। द्रौपदी होगी तो दो में से कोई एक ही। वह तपोवन की वैधव्य-पीड़ित सुंदरी हो, वा स्वर्गलोक की शापित लक्ष्मी। दोनों बातों को एक ही साथ मानना असंभव है। दोनों कथाएँ पूर्वापर-विरोधिनी हैं। एक कथा तो व्यासजी ने द्रौपदी के स्वयंवर के पहले ही पांडवों को सुना दी थी, और दूसरी पंचाल की राजधानी में द्रौपदी-परिवार के सामने। हम पूर्व-जन्म के संबंध में कोई तर्क या विरोध प्रकाशित करना नहीं चाहते। व्यासजी का द्विविध कथन ही हमारा लक्ष्य है। महाभारत में ही हम अन्यत्र पढ़ते हैं कि पाँचों भाई पांडव धर्म, वायु, इंद्र आदि के आंशिक पुत्र थे; किंतु व्यासजी के मुख से 'एवमेते पांडवा: + + + पूर्वमिंद्रा:' कथन पढ़कर विस्मय होता है।

उपर्युक्त कथाओं पर विचार

अंतत: कुंती के भ्रम-कथित वचन को पूरा करने के लिये ही ये सब बातें हो रही हैं। जटिला और वार्क्षी के बहुपतित्व तथा द्रौपदी के पूर्वजन्म की कथाओं की उपेक्षा कर युधिष्ठिर ने कहा कि माता के वचन को करना ही हमें सबसे अधिक मान्य है। फिर इस स्थल पर किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही क्या हो सकती है? मालूम होता है, कुंती भी अपने वचन को पूर्ण देखने के लिये सँभलकर बैठ गई हैं। इस प्रकार के आपद्धर्म के समय कई प्रकार की युक्तियाँ काम में लाई जा सकती हैं। क्षत्राणियों के विवाह, यदि केवल वचन-पूर्त्ति के निमित्त हों तो, मुकुट या तलवार के साथ भी हो सकते हैं; परंतु यहाँ क्रियात्मक विधान की ही कोशिश होने लगी। इस अवसर पर श्रीकृष्ण को हम अनुपस्थित पाते हैं, शायद इसलिये कि उनसे हमें इस कठिन समस्या को सुलझाने की कुछ आशा थी। महाभारत के कर्णपर्व में इसी ढंग की एक कथा है।

विवाह की तैयारी

अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी, कि जो कोई मुझसे कहेगा—'तू अपना गांडीव धनुष किसी दूसरे को दे दे', उसका सिर मैं उसी क्षण काट लूँगा। इसके उपरांत जब कर्ण से युधिष्ठिर युद्ध में पराजित हो गए तब उन्होंने निराश होकर अर्जुन से कहा—'तेरा गांडीव धनुष तेरे लिये किस काम का है ? तू इसे छोड़ दे !' यह सुनते ही अर्जुन हाथ में तलवार लेकर युधिष्ठिर का शिर उतारने के लिये दौड़ पड़े। उस समय श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने तात्त्विक दृष्टि से सत्यधर्म की मार्मिक विवेचना कर, अर्जुन को उपदेश किया—तू मूढ़ है, तुझे अब तक सूक्ष्म-धर्म मालूम नहीं हुआ है। तुझे वृद्ध जनों से इस विषय में शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए—'न वृद्धाः सेवितास्त्वया'—तूने वृद्ध जनों की सेवा नहीं की है—यदि तुझे अपने वचन की रक्षा करना ही अभीष्ट है, तो तू युधिष्ठिर की भर्त्सना कर, क्योंकि सभ्य पुरुषों की भर्त्सना उनकी मृत्यु के समान ही है। लोकमान्य तिलक ने भी अपने 'गीता-रहस्य' के कर्म-जिज्ञासा प्रकरण में इस पर अपना अभिमत प्रकाशित किया है। हमें विश्वास है, यदि श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित होते तो कुंती के वचन को पूरा करने के लिये कोई तात्त्विक विचार निकाल डालते; पर श्रीकृष्ण इस अवसर पर अनुपस्थित ही रखे गए हैं। यदि इसमें कुछ रहस्य है, तो वह स्पष्ट ही है। अंत में यह निश्चित हो गया—'सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा'—कि सुंदरी द्रौपदी हम सब की—पाँचों भाइयों की—भार्या बनेगी। तदनुसार पाँचों भाइयों के विवाह द्रौपदी के साथ क्रमशः होने लगे और 'महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि—वह क्षीण कटिवाली सुंदरी, विवाहिता होने पर भी, प्रति दूसरे दिन कुमारी कन्या बन जाती थी। इस प्रकार

एक प्रासंगिक कथा का उल्लेख

द्रौपदी का कुमारीत्व

पाँचों भाइयों के विवाह कुमारी द्रौपदी के साथ हुए* । यह तो और भी विशेष आश्चर्य की बात है कि विवाहिता द्रौपदी दूसरे दिन कुमारी कन्या बन जाती थी। मालूम नहीं, सौभाग्य-सिंदूर को मिटाकर वह कुमारी बनती थी अथवा अन्य किसी रीति से ? पारस्कर, गोभिल, आश्वलायन आदि ने गृह्यसूत्रों के विधान प्रस्तुत किए हैं। उनमें भी इस प्रकार की अद्भुत क्रिया की कोई चर्चा नहीं। विवाह के समस्त विधानों को पूरा करने में एक दिन पर्याप्त

गृह्यसूत्रों के विधान

नहीं। परंतु द्रौपदी के पाँचों विवाहों में पाँच दिन ही लगे। किसी किसी गृह्य-सूत्र में चतुर्थ रात्रि का सहवास आवश्यक माना गया है। अजात-व्यंजना तथा अजात-लोम्नी कन्या के साथ चतुर्थी का सहवास अश्लाघ्य और अक्षम्य माना जा सकता है, किंतु द्रौपदी अज्ञातयौवना नहीं थी। हमारे आश्चर्य की सीमा उस समय नहीं रहती, जब हम उसके जन्म-काल में ही महाभारत का यह श्लोक पढ़ते हैं—

कुमारी चापि पांचाली वेदीमध्यात् समुत्थिता।
सुभगा दर्शनीयांगी स्वसितायतलोचना ॥ ४५ ॥
श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुंचितमूर्द्धजा।
ताम्रतुंगनखी सुभ्रूश्चारुपीनपयोधरा ॥ ४६ ॥

(आदिपर्व, अ० १८१)

इसके पीछे उसी यज्ञकुंड से एक कन्या प्रकट हुई। वह सुभगा, दर्शनीया, विशालनेत्रा, घुँघराले बालोंवाली थी। उसके नख

---

* जब आर्य हिंदू-जाति में विवाह का विधान नियमित नहीं हुआ था, तब मर्यादाहीन समाज में कई प्रकार की विशृंखलताएँ थीं। कई पुराणों में इस प्रकार के उल्लेख हैं। ऋग्वेद-कालीन भारत में भी ऋषि-पत्नियों को बहुत स्वतंत्रता थी, किंतु महाभारत-काल में विवाह-पद्धति पर्याप्त नियमित हो गई थी।—लेखक।

उभरे हुए और लाल-लाल, भौंहें बड़ी सुंदर, पयोधर कठिन और उठे हुए थे* । इस वर्णन के अनुसार द्रौपदी ने अयोनिजा सीता देवी को भी मात कर दिया ! विवाह-काल में किसी प्रकार, संभव है, वह अपने अक्षत-योनित्व को विधि-पूर्वक बचा सकी होगी, किंतु पहले पुत्र-प्रसव के बाद वह अपने प्रत्येक पति के पास अक्षतयोनि कन्या की तरह न जा सकी होगी । फिर, केवल विवाह में इस प्रकार के कुमारीत्व का क्या प्रयोजन ?

द्रौपदी के जन्म का वर्णन

महाभारत में भिन्न भिन्न प्रकार की शैलियाँ ही स्पष्ट बतलाती हैं कि यह ग्रंथ एक समय में नहीं निर्मित हुआ है, और इसके निर्माता या रचयिता भी एक नहीं, अनेक हैं । द्रौपदी का बहुपतित्व निश्चय ही काल्पनिक है । विवाह के बाद का ही एक श्लोक है—

अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह ।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ २ ॥
विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम् ।
तं तु दुःशासनोऽव्रीडो मंदंमंदमिवाब्रवीत् ॥ ३ ॥

(आदिपर्व, अध्याय २१९)

राजा दुर्योधन—यह जानकर कि द्रौपदी ने अर्जुन के साथ विवाह किया है—अश्वत्थामा, शकुनि, कर्ण, कृप और भाइयों के साथ उदास होकर (हस्तिनापुर को) लौटे । आगे दुःशासन लज्जित मुख हो, मंद-मंद स्वर में, उनसे बोला । उपर्युक्त श्लोक में स्पष्ट है कि द्रौपदी ने अर्जुन के साथ विवाह किया; पाँचों पांडवों के साथ नहीं,

द्रौपदी-विवाह पर दुर्योधन की उदासी

* हमने कहीं पढ़ा था कि कृष्णा—द्रौपदी—वास्तव में राजा द्रुपद की औरस संतान नहीं थी । वह कोशल की विधवा रानी की पुत्री थी । कोशल की रानी अपने स्थान को छोड़कर पांचाल चली गई थी ।

अन्यथा यहाँ उनका भी उल्लेख होता। क्षेपककारों को सब जगह हड़ताल फेरने की सुधि न रही। यों तो समस्त महाभारत-ग्रंथ में ही द्रौपदी देवी के एक अद्भुत आदर्श की संस्थापना की गई है, किंतु उस आदर्श से वास्तविकता का जो सच्चा संबंध है उसका, उस ग्रंथ के अध्ययन करने पर, सहज में ही पता चल जाता है।

विवाह-प्रकरण समाप्त होते ही महामुनि नारदजी आए और पाँचों पांडव भाइयों को सुंद और उपसुंद की कथा सुनाकर पारस्परिक मेल-मिलाप से रहने का उपदेश देने लगे। पाँचों भाइयों के बीच एक ही द्रौपदी होने के कारण वैमनस्य हो जाने की आशंका थी। अतः उसके साथ सहवास के समय की एक निश्चित अवधि रखी गई। इस अवधि में, जब द्रौपदी किसी भाई के साथ महल में रहेगी तब, कोई अन्य भाई उस महल में नहीं जा सकेगा। यदि कोई इसका उल्लंघन करेगा, तो उसे बारह वर्षों तक 'ब्रह्मचर्य-पूर्वक' वनवास करना पड़ेगा। इस विधान के बनने के कुछ ही काल उपरांत, एक ब्राह्मण की गायों की रक्षा करने के लिये, विवश होकर अर्जुन को महाराज युधिष्ठिर के शयन-कक्ष में घुसना पड़ा; क्योंकि उनके अस्त्र वहाँ रखे हुए थे। समझ में नहीं आता, इतनी शीघ्रता में ही इतने दृश्य पाठकों के सम्मुख क्यों कर दिए गए! नियम बनते ही अर्जुन से उसका उल्लंघन करा दिया गया, वह भी एक ब्राह्मण की गायों की रक्षा के निमित्त। हिंदू-जाति के लिये जैसा वह दरिद्र ब्राह्मण, वैसी ही बेचारी वे गायें! मालूम पड़ता है, हिंदुत्व की मर्यादा दिखलाने के लिये इतनी कल्पनाएँ साथ साथ की गई हैं। नियमोल्लंघन के दंड-स्वरूप अर्जुन बारह वर्षों के लिये वनवासी हुए। यह वनवास ब्रह्मचर्य-पूर्वक होना चाहिए था;

नारदजी का आगमन और सहवास के लिये अवधि-निर्धारण

अर्जुन का वनवास

क्योंकि महामुनि नारदजी के सम्मुख ही इसका निर्णय हो चुका था। पर इन बारह वर्षों में अर्जुन की गति-विधि अवलोकन करने पर यह सर्वथा असत्य प्रमाणित होता है। वस्तुत: इस प्रकार का वनवास ही कल्पना है। इसी वनवास की अवधि में अर्जुन ने नाग-कन्या उलूपी की प्रार्थना मानकर उसकी वासना की पूर्ति की। पूर्व भारत में चित्रांगदा से विवाह कर, तीन वर्षों तक, उसका सहवास किया, जिससे बभ्रुवाहन नामक पुत्र पैदा हुआ। सुभद्रा-हरण भी इसी वनवास को अवधि में हुआ। पीछे श्रीकृष्णजी द्वारा परिस्थिति के शांत होने पर अर्जुन एक वर्ष तक सुभद्रा के घर पर ही रहे। इन सब बातों से अर्जुन के ब्रह्मचर्य पूर्वक वनवासी होने की निस्सारता प्रकट होती है। हमें यह विश्वास है कि यदि ऐसा विधान यथार्थ में ही होता तो अर्जुन अवश्य उसका पालन करते, किंतु बात कुछ दूसरी ही है। द्रौपदी का युधिष्ठिर के साथ रहना, अर्जुन का वहाँ जाना और फिर वनवासी होना, सब के सब, सत्य से बहुत दूर हैं। अर्जुन के अस्त्र युधिष्ठिर के शयन-कक्ष में क्यों पड़े रहे? क्या अर्जुन को अपने अस्त्रों को रखने के लिये कोई दूसरी जगह नहीं मिली थी? इस कल्पना का तात्पर्य ही दूसरा है। धार्मिक साहित्य में पूर्वापर-विरोध और असंबद्धता किसी सीमा तक क्षम्य हो सकती है, क्योंकि इससे उसकी उत्तरोत्तर प्रगति का आभास मिलता है, किंतु महाभारत के लिये यह नियम लागू नहीं है। यह कोई स्मृति-ग्रंथ नहीं, शास्त्र नहीं। यह हमारे समाज का प्राचीन चित्र है। इसमें पुण्य है, पाप है, आलोक है, अंधकार है, प्रवृत्ति है, निवृत्ति है। अनुलोम-प्रतिलोम दोनों प्रकार के चित्र प्राय: समानांतर हैं। सामाजिक साहित्य में जीवन की वास्तविकता का विश्लेषण रहता है, परंतु शास्त्र में एक आदर्श का विधान

ब्रह्मचर्य-पूर्वक वनवास की निस्सारता

किया जाता है। महाभारत में अपने जीवन का आदर्श चुनने के लिये हमें विचार-शक्ति से काम लेना पड़ता है, किंतु हमारे शास्त्र में आदर्श की प्रतिष्ठा पहले से ही की हुई रहती है। अतः महाभारत की असंबद्धता का विरोध करने में किसी प्रकार की धार्मिक आपत्ति करना न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता।

सुभद्रा का आगमन और द्रौपदी से मिलना

कृत्रिम वनवास के समय को व्यतीत कर जब अर्जुन सुभद्रा-सहित इंद्रप्रस्थ पहुँचे तब सुभद्रा को देखकर द्रौपदी ने कटाक्ष करते हुए उनसे कहा—

'तत्रैव गच्छ कौंतेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबंधः श्लथायते॥'

वहीं जाओ जहाँ यादव-पुत्री सुभद्रा है। संसार की यही रीति है कि पहले का बँधा हुआ बंधन नए बंधन के बाँधने से ढीला हो जाता है। द्रौपदी के इस व्यंग्यात्मक कथन से सपत्नी-भाव साफ मालूम पड़ता है। उसे यह भय हुआ कि सुभद्रा के आने से शायद अर्जुन का अब वह प्रेम उसे नहीं मिल सकेगा। युधिष्ठिर, भीम, नकुल आदि की पत्नियों को देखकर, द्रौपदी ने ऐसे भाव नहीं प्रकट किए थे। अर्जुन के वनवास से लौट आने पर, समस्त महाभारत में, फिर कभी इस नियम के उल्लंघन की चर्चा आई ही नहीं। क्या इतने दीर्घकालिक जीवन में उन लोगों में कभी ऐसी भूल ही नहीं हुई? यहाँ तक कि वनवास से इंद्रप्रस्थ आने पर, उसी समय, अर्जुन द्रौपदी के शयन-कक्ष में जाकर मिले हैं। इस बार तो द्रौपदी के सहवास की अवधि का पता ही न लगा कि वह किनके साथ थी। सुभद्रा को दूसरे कक्ष में रखकर अर्जुन उससे मिले थे, और उसने सपत्नी-भाव से जो कुछ कहा, वह ऊपर अंकित है। इतना कहकर द्रौपदी रोने लगी। उसे अर्जुन के हृदय में दूसरे का आधिपत्य देखकर दुःख हुआ। 'तथा बहुविधं कृष्णां विलपन्तीं

धनंजयः, सान्त्वयामास'—अनेक प्रकार से विलाप करती हुई द्रौपदी को अर्जुन ने आश्वासन देकर चुप किया। इस प्रकार का प्रेम-प्रदर्शन किसी आजीवन-संगिनी में ही संभव है। महाभारत में कई स्थानों पर उल्लेख है कि अर्जुन को द्रौपदी अधिक प्यार करती थी। ऐसा इसलिये है कि क्षेपककार द्रौपदी के वैवाहिक संस्कार को समूल नष्ट करने में असमर्थ रहे।

द्रौपदी के साथ सुभद्रा का व्यवहार

द्रौपदी को प्रेम-विह्वला होकर विलाप करते देख, शीघ्रता के साथ चंद्रमुखी सुभद्रा वहाँ पहुँची और—'ववंदे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत्'—द्रौपदी को प्रणामकर वह सुंदरी बोली—मैं तुम्हारी दासी हूँ। सुभद्रा ने अपनी किसी जेठानी या देवरानी से इस प्रकार का व्यवहार नहीं किया। द्रौपदी के जीवन में उसकी बड़ी समता है। अर्जुन के जीवन में जो क्रिया-शीलता, क्षमता और मधुरता है वह द्रौपदी के चरित्र में प्रतिबिंबित है। सच पूछिए तो, द्रौपदी का सामाजिक स्वभाव ही उसके बहुपतित्व के दोषारोपण का यथार्थ कारण है।

यदि द्रौपदी वास्तव में ही पाँचों पांडव भाइयों की पत्नी रहती, तो कौरव-दल निश्चय ही उसे बात-बात पर लांछित और तिरस्कृत करता, किंतु इसका अभाव है। सभापर्व

द्रौपदी की निंदा और प्रशंसा

में केवल दुर्योधन हास्य से कहता है—यदि द्रौपदी यह कहे कि युधिष्ठिर उसके पति नहीं हैं, तो द्यूत में हारी जाने पर भी वह मुक्त हो सकती है। चीर-हरण के समय कर्ण ने क्रुद्ध होकर दुःशासन से कहा—द्रौपदी को नंगी कर दो, क्योंकि 'इयं त्वनेकवशगा बंधकीति विनिश्चता'—यह, अनेक पतियों की पत्नी होने के कारण, कुलटा है। कर्ण के इस तिरस्कार में परिशोध की भावना झलकती है, क्योंकि स्वयंवर के

समय द्रौपदी ने भी 'नाहं वरयामि सूतम्' कहकर उसका तिरस्कार किया था। कर्ण ने कुलटा कहकर द्रौपदी का तिरस्कार तो कर दिया, किंतु थोड़ी देर के बाद ही उसकी प्रशंसा भी खूब की है। द्यूत में द्रौपदी-सहित पांडवों के हार जाने पर महाराज धृतराष्ट्र ने पांचाली से कहा—हे पांचाली! तुम मेरी सब बहुओं में श्रेष्ठ, धर्मपरायणा और पतिव्रता हो। तुम्हारी जो इच्छा हो, हमसे वर माँगो। द्रौपदी ने पाँचों पांडवों को अपने साथ दासत्व से मुक्त करा लिया। धृतराष्ट्र के शब्दों में द्रौपदी का चरित्र स्पष्ट झलक रहा है। यह देखकर ईर्ष्यालु कर्ण से भी न रहा गया। उसके मुख से भी सच्ची बात निकल पड़ी—हमने मनुष्यों में जितनी रूपवती स्त्रियाँ सुनी थीं, उनमें से ऐसा कार्य किसी का भी नहीं सुना था। अत्यंत क्रुद्ध पांडवों और कौरवों को द्रौपदी ही शांति-स्वरूप हुई। बिना नाव के डूबते हुए पांडवों के लिये यह पांचाली पार ले जानेवाली नाव हो गई। उपर्युक्त कथन से भी द्रौपदी का कीर्त्ति-गान होता है। शत्रु और ईर्ष्यालु मनुष्यों के मुख से निकली हुई प्रशंसा का मूल्य बहुत अधिक है, और निंदा का उतना ही कम। निंदा स्वतः निकल आती है, लेकिन प्रशंसा के लिये उन्हें अपने भावों को दबाना पड़ता है।

महाभारत में द्रौपदी के लिये पंच-पति तक ही सीमा नहीं रखी गई है। अकेली द्रौपदी पर अनेक लांछनाएँ हैं। महायुद्ध के पहले जब श्रीकृष्ण कर्ण को पांडवों की ओर मिलाने के लिये हस्तिनापुर गए हैं, तब उन्होंने कर्ण से कहा है—पांडव तुम्हारे भाई हैं।

द्रौपदी पर बहु-पतित्व के अनेक अभियोग

तुम उन्हीं लोगों को सहयोग दो। छठी बार द्रौपदी तुमको पति वरण करेगी। इसके पहले भी, सभापर्व में, दुःशासन ने द्रौपदी से कहा है—तुम पांडवों को छोड़कर कौरवों में से किसी को पति

चुन लो। जयद्रथ ने भी, वनपर्व में, एकांत पाकर जब द्रौपदी-हरण किया था तब उससे कहा था—तुम पांडवों को त्यागकर मुझे पति बनाओ। इसके अनंतर विराटपर्व में भी, अज्ञातवास के समय, कीचक ने इसी प्रकार का अवांछनीय प्रस्ताव उपस्थित किया था। कीचक को पांडवों का पता नहीं था, किंतु द्रौपदी के सहज सौंदर्य से आकृष्ट होकर ही उसने ऐसा पाप-पूर्ण अभिप्राय प्रकट किया था। द्रौपदी की तरह, आर्य-साहित्य में, किसी की दुर्दशा नहीं की गई है। उसका बहुपतित्व* बड़े विस्मय की दृष्टि से देखा जाता है। उस समय, विशेष परिस्थिति के लिये, नियोग की प्रथा प्रचलित थी। एक पुत्र से अधिक की आकांक्षा करना, प्रकारांतर से, बहुपतित्व ही है। इस दोष से कुंती भी वंचित नहीं रखी गई हैं। पांडु-सहित उनके भी पाँच पति हो जाते हैं।

धार्मिक साहित्य में पाठकों के औत्सुक्य को जागरित करने के लिये सत्य को अलौकिक घटनाओं से मंडित कर दिया गया है†।

द्रौपदी के पुत्र

हम महाभारत में जातीय इतिहास खोजते हैं, मनुस्मृति के विधान नहीं। इसमें किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही सत्य के अनेक अपलाप किए गए हैं।

---

* द्रौपदी के उदाहरण को देखकर कई पाश्चात्य लेखकों ने इस प्रथा के साथ ही पांडवों को भी अनार्य्य बतलाया है। इसके लिये वे लोग अनेक प्रमाण देते हैं। हमने उन प्रमाणों को विचार-पूर्वक पढ़ा है। वे कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखते। पांडव कदापि अनार्य्य नहीं थे। अँगरेजी की तो बात ही अलग रखिए, फ्रेंच, जर्मन तथा इटालियन साहित्य में भी द्रौपदी के अद्भुत चरित्र पर विचार किए गए हैं। हिंदी-साहित्य में यह उपेक्षित ही है।—लेखक।

† सबसे अर्वाचीन भविष्य-पुराण में पृथ्वीराज, जयचंद, आल्हा, ऊदल आदि जितने भी पात्र आए हैं सभी इंद्र, कृष्ण, राम आदि के ही अवतीर्णांश हैं और बात-बात पर आकाश से पुष्प-वर्षा होने लगती है।—लेखक।

द्रौपदी के पाँचों पतियों से पाँच ही पुत्र उत्पन्न हुए, और वे भी केवल एक एक वर्ष के अंतर पर। देखिए—

एकवर्षांतरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः।
अन्वजायंत राजेंद्र परस्परहितैषिणः॥ ८२॥

(आदिपर्व, अ० २४७)

जहाँ सती गांधारी एक ही गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न कर सकती हैं, वहाँ द्रौपदी का वर्षांतर पर पुत्र प्रसव करना कुछ कम ही विस्मित करता है, किंतु दोनों की स्थितियों पर दृष्टि डालने से द्रौपदी का दृष्टांत उनसे भिन्न प्रतीत होता है। नव महीना गर्भधारण और कम से कम इतना ही स्तन्य-पान का समय नितांत आवश्यक है, परंतु ऐसा वर्णन नहीं है। पाँचों पुत्रों के नाम क्रमानुसार प्रतिविंध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन हैं, और फिर अपनी अपनी पत्नियों से पाँचों भाइयों के पुत्रों के नाम युधा, घटोत्कच, अभिमन्यु, निर्मित्र तथा सुहित्र हैं। इन नामों से भी एक प्रकार की कृत्रिमता झलकती है।

अज्ञातवास के समय जब द्रौपदी-सहित पाँचों पांडव विराट-नगर पहुँचे तब नगर के बाहर ही सबों ने विचार किया कि कौन किस नाम को धारण कर कौन कार्य करेगा।

अज्ञातवास के समय नामों में परिवर्त्तन

विराटपर्व में अर्जुन ने कहा—मैं बृहन्नला बनकर राजा विराट से कहूँगा कि मैं महाराज युधिष्ठिर के स्थान में द्रौपदी की दासी थी। द्रौपदी ने कहा है—मैं सैरंध्री बनूँगी। मैं शिर के केश गूँथने में बड़ी निपुण हूँ। यदि राजा मुझसे पूछेंगे तो मैं भी यही कहूँगी कि महाराज युधिष्ठिर के गृह में मैं द्रौपदी की दासी थी। दोनों के कथनों में कितना साम्य है, कितना एकत्व है! दोनों राजा विराट के राजमहल के भीतर ही रहे, जिससे समय-

समय पर मिलने का अवसर मिलता रहे। चारों भाई बाहर ही रहे* ।

•यह कहा जा सकता है कि जब कीचक ने द्रौपदी को बहुत तंग किया तब उसने अर्जुन को छोड़कर भीम के पास क्यों शिकायत की। इसका स्पष्टीकरण सहज ही है। अर्जुन नपुंसक बने हुए थे, साथ ही उनके अस्त्र दूर पर रखे हुए थे। भीम के लिये शारीरिक बल ही सब कुछ था। कीचक को मारने के लिये भीम ही क्षमता भी रखते थे। यही कारण है, कि द्रौपदी ने भीम की शरण में ही अपने कष्ट का निवेदन किया।

द्रौपदी का भीम के पास सहायतार्थ जाना

महाभारत में लिखा है—'कीचक के भय से विह्वल होकर द्रौपदी चुपचाप भीम के पास गई, जैसे वन में उत्पन्न हुई बगुली काम से व्याकुल होकर बगुले के पास जाती है; अथवा जैसे तीन वर्ष की बछड़ी काम से उन्मत्त होकर साँड़ के पास जाती है, वैसे ही द्रौपदी भी अपने प्यारे पति भीम के पास गई। जैसे गोमती के तट पर उत्पन्न हुए पुष्पित महाशाल वृक्ष से लता लिपट जाती है उसी प्रकार वह भी भीम से लिपट गई।' कहा नहीं जा सकता कि द्रौपदी के लिये यह वर्णन कितना अश्लीलता-व्यंजक है। ऊपर वर्णन किया गया है कि द्रौपदी भय से विह्वल थी, किंतु वह भीम के पास जाने के लिये काम से उन्मत्त कैसे हो गई? भयभीत हृदय में

महाभारत की एक रूपकमयी कथा

* एक बार—'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा'—असत्य बोल देने से युधिष्ठिर को नरक की झाँकी देखने को मिली थी। उनका रथ भी पृथ्वी को स्पर्श करने लगा था, किंतु यहाँ जो असत्य भाषण करना पड़ा उसकी कहीं कोई चर्चा नहीं?—लेखक।

काम की उत्तेजना नहीं होती, फिर महाभारतकार को यह उपमा कहाँ से सूझ पड़ी? आश्चर्य है! हमारे क्षोभ और रोष के लक्ष्य मूल-महाभारतकार नहीं हैं। यह पीछे की कृति है। वाम-मार्गियों ने महाभारत में बहुत सी बातें जोड़ दी हैं। एक एक ऋषि का वर्णन ऐसा नग्न और घृणित है कि कोई भी सती स्त्री तेज और अभिमान से महाभारत को दूर फेंक देगी! हमारे लिखने का यह तात्पर्य नहीं है कि महाभारत में सर्वत्र इसी प्रकार के वर्णन भरे पड़े हैं, किंतु उप-कथाओं में कहीं-कहीं ऐसी छाप अवश्य है। अंत:सलिला नदी की धारा की भाँति भीतर ही भीतर पाठकों के हृदय में इस प्रकार के वर्णनों से एक प्रकार की नैतिक हीनता का सूत्रपात हो जाता है। अलौकिकता तथा विचित्रता आर्य-साहित्य में शृंगार की तरह अवसर-विशेष पर अवश्य माननीय है, लेकिन बात-बात पर ऐसी पुनरावृत्ति उपेक्षणीय हो गई है। प्राचीन भारतीय समाज-शास्त्र के एक मर्मज्ञ और अनुसंधान-प्रिय विद्वान् का कथन है कि महाकाव्य में वर्णित समस्त राज-वंशीय संबंधों पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पांडवों के जन्म तथा विवाह के वृत्तांत सभी पीछे की कल्पना हैं* ।

महाभारत पर नैतिक-हीनता का अभियोग

महाभारत के बाद, पौराणिक साहित्य में, कई प्रकार की विशृंखलताएँ देखने में आती हैं। बौद्ध जातक कथाओं में भी इस

---

* On a careful consideration of all the dynastic relationships described in the Epic, it becomes clear that the stories about the miraculous birth and marriage of the Pandavas are all late after-thoughts. —S. C. Sarkar's Some Aspects of the Earliest Social History of India. (Oxford University.) P. 139.

प्रकार की आचार-हीनता के अनेक दृष्टांत मिलते हैं*। इसकी विवेचना करने के लिये यह स्थल उपयुक्त नहीं है। केवल द्रौपदी के बहुपतित्व की निस्सारता पर प्रकाश डालना ही हमारा उद्देश्य है। हमें अपने मत को मान्य बनाने का कोई आग्रह नहीं है। महाभारत के अध्ययन करने के पहले हमारी ऐसी धारणा नहीं थी, जैसी अब है। द्रौपदी का बहुपतित्व निश्चय ही निर्मूल है।

महाप्रस्थान की विधि

प्रत्येक महाकवि अपने महाकाव्य से एक अनोखे ढंग से वियुक्त होता है। महामुनि वाल्मीकि का अपने महाकाव्य से अलग होने का ढंग उनके अनुरूप ही है। महाभारत-कार भी पाठकों को विचार-निमग्न छोड़कर स्वर्गारोहण के लिये महाप्रस्थान करते हैं। पांडव-परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है, परंतु छाया की भाँति द्रौपदी अंत तक पाँचों भाइयों के साथ है। महाप्रस्थानिक पर्व में जब योग-भ्रष्ट होकर द्रौपदी भू-पतित हुई तब भीमसेन ने धर्मराज से पूछा—द्रौपदी क्यों गिरी? धर्मराज ने उत्तर दिया—यह अर्जुन के साथ पक्षपात करती थी, अधिक प्रेम रखती थी। वास्तविक बात भी यही थी। अर्जुन और द्रौपदी में अनन्य-संबंध था। दोनों पति-पत्नी थे। उसके बहुपतित्व की कल्पना पीछे की गई है। उसके सतीत्व और पातिव्रत्य की प्रशंसा उसके शत्रुओं ने भी की है। धन्य है देवी द्रौपदी!

* कुछ दिन हुए, हमने एक बौद्ध जातक-कथा में पढ़ा था कि सीताजी रामचंद्र की भगिनी थीं, और फिर राम-लक्ष्मण की सम्मिलित पत्नी भी। इसके कुछ तुच्छ प्रमाण भी दिए जाते हैं। ऋग्वेद (१०, १०) में यम-यमी के वार्तालाप से भगिनी-भ्राता-विवाह का सूत्र लिया जाता है। विवाह-विधान के नियमित होने के पहले इस प्रकार के संबंध के अनेक प्रमाण हैं, किंतु रामायण में वर्णित आर्य-जाति में ऐसा संबंध खोजना पागलपन है।

हमारे इतना लिखने से यह स्पष्ट हो गया होगा कि महाभारत का कितना अंश विचारणीय है। मि० गोल्ड स्टकर ने (Mr. Goldstucker) भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में* बहुपतित्व विषय पर विचार किया है। डा० विंटरनीज ने (Dr. Winternitz)† महाभारत की कथा-वस्तु का विवेचन करते हुए बहुपतित्व को संदिग्ध माना है। इसका सांकेतिक उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। श्रीयुत हेमचंद्र दास गुप्त, एम० ए०, ने एक सामयिक पत्रिका‡ में इसी विषय पर एक छोटा सा निबंध लिखा था। एक बँगला निबंध के आधार पर§ ही उन्होंने इसे लिखा था। इसमें द्रौपदी के जीवन के कुछ ही अंशों पर प्रकाश डाला गया है। यह एक प्रकार से अधूरा ही कहा जा सकता है।

बहुपतित्व-प्रथा पर कुछ अन्य उल्लिखित विचार

संक्षेप में, यह कह देना बहुत आवश्यक प्रतीत होता है, कि महाभारत में इस प्रकार की कोई चमत्कृति नहीं रह गई है, जिससे पाठकों के हृदय पर द्रौपदी के बहुपतित्व का प्रभाव पड़ सके। इतना जो कुछ भी है वह हमारी धार्मिक संस्कृति का फल है। कुंती के—'भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'—कहने के बहुत पहले ही महर्षि व्यास ने पाँचों भाई पांडवों

उपसंहार

* Literary Remains, Vol. II.

† Dr. Winternitz, in Jour. Royal Asiatic Society. (1897) pp. 714-759.

‡ Polyandry in the Mahabharat by Sijt. Hem Chandra Das Gupta, M.A., F.G.S., in the "Man in India", a Quarterly Record of Authropological Science with special reference to India. Vol. VIII, (1928) P. 23.

§ बँगला पत्रिका–'मानसी ओ मर्मवाणी' पृष्ठ १७१-१७८; १३२७ साल।

से द्रौपदी के बहुपतित्व की कथा सुना ही दी थी। फिर, हमारी समझ से, कुंती के उपर्युक्त कथन में कोई विशेष चमत्कार दृष्टिगत नहीं होता। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कुंती ने अर्जुन की उस भिक्षा को पाँचों भाइयों को मिलकर खाने की आज्ञा दी थी। उन लोगों की दिनचर्या देखने से पता चलता है कि प्रत्येक दिन की भिक्षा का आधा भाग केवल भीम के लिये सुरक्षित रखा जाता था, किंतु द्रौपदीवाली भिक्षा में भीम को आधा भाग नहीं मिला। उक्त व्यवस्था के अनुसार, द्रौपदी के साथ भीम की सह-वास-अवधि भी अधिक—आधी—होनी चाहिए। पर, ऐसा नहीं किया गया। श्रीयुत प्रतापचंद्र राय ने, विगत शतक में, महाभारत का विशाल अँगरेजी अनुवाद किया था, जिसमें उन्होंने इन सब बातों का जहाँ तहाँ संशोधन भी किया। समस्त मतामत पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि द्रौपदी का बहुपतित्व प्रक्षिप्त और विचारणीय है।

---

(८) हम्मीर-महाकाव्य

(ग्रंथ का संक्षेप और उसकी विवेचना)

[लेखक—श्री जगनलाल गुप्त, बुलंदशहर]

(१) प्रस्तावना

खिलजी-काल के इतिहास के संबंध में हम्मीर-महाकाव्य एक ऐसा अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिस पर विद्वानों ने अभी यथोचित ध्यान नहीं दिया है। इसके लेखक, नयचंद्र सूरि, एक जैन विद्वान् थे। इस ऐतिहासिक काव्य में सब मिलाकर १४ सर्ग तथा भिन्न भिन्न छंदों में १५७२ श्लोक हैं। इनके अतिरिक्त ग्रंथ के अंत में काव्य की प्रशंसा में ६ श्लोक और हैं। इस काव्य के लिखने का उद्देश्य भी हम्मीरदेव-चरित वर्णन करना है। विक्रम-संवत् १३५७ के श्रावण मास में रणस्तंभपुर का युद्ध अलाउद्दीन खिलजी ने, स्वयं रणांगण में जाकर, जीता था और शरणागत-वत्सल श्री हम्मीर-देव उसमें वीरता-पूर्वक लड़ते लड़ते काम आए थे। बस, इसी ऐतिहासिक घटना का विस्तृत वर्णन इसमें किया गया है।

संक्षिप्त विषय-सूची

इस काव्य के प्रथम दो सर्गों में पूर्वज-वर्णन तथा तीसरे सर्ग में पृथिवीराज-संग्राम वर्णन करके चतुर्थ सर्ग में हम्मीर-जन्म की कथा लिखी गई है। आगे के तीन सर्गों में संस्कृत-कवियों के संप्रदाय के अनुसार ऋतु, मृगया, शृंगार, संध्या, जल-क्रीड़ा, सूर्योदय, चंद्रोदय आदि का अलंकारपूर्ण वृत्तांत लिखने में कवि

ने अपनी विकसित प्रतिभा का परिचय दिया है, किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें उपयोगी अंश प्रायः कुछ नहीं है।

आठवें और नवें सर्ग में राज्याभिषेक और दिग्विजय की कथा अवश्य ऐतिहासिक विचारशील विद्वानों के लिये एक नया क्षेत्र उपस्थित करती है। शेष सर्ग भी, अंतिम को छोड़कर, काव्यमयी आलंकारिक भाषा में इतिहास के विषय से पूर्ण हैं। अलाउद्दीन का श्री हम्मीरदेव से नाराज होने का कारण, रणस्तंभपुर (रनथंभौर) पर यवनों की चढ़ाई, नुसरत खाँ का युद्ध-स्थल में आहत होकर मारा जाना, अलाउद्दीन का स्वयं जाकर घोर युद्ध करना, रतिपाल का विश्वासघात, राजपूतों की पराजय, जौहर व्रत और 'साका', तथा अंत में अपने नायक के लिये शोक-प्रकाश आदि घटनाएँ इतनी सूक्ष्मता से लिखी गई हैं कि बिना किसी प्रामाणिक और प्रत्यक्ष आधार के किसी कवि के लिये उनका लिखना अशक्य है; विशेषतः जब हम यह देखते हैं कि स्वतंत्र मुसलमान इतिहास-लेखक भी उन बातों का समर्थन करते हैं तब यही मानना पड़ता है कि कवि ने अपने समय में प्राप्त होनेवाली उस सामग्री के आधार पर रचना की है जो रणस्तंभपुर-पतन के पश्चात् उस युद्ध के संबंध में युद्धकाल से ही सुरक्षित चली आती थी। वास्तव में हम्मीर-महाकाव्य रणस्तंभपुर-पतन का 'हिंदू-संस्करण' (Hindu version) है। 'बरनी', 'बदायूनी' और 'फिरिश्ता' द्वारा लिखे गए युद्ध के वर्णन के साथ साथ एक जैन विद्वान् द्वारा लिखित इतिहास को पढ़ने का उत्साह प्रत्येक अन्वेषण-शील इतिहास-प्रेमी को स्वभावतः ही होना चाहिए।

काव्य की शैली

काव्य-रचना की दृष्टि से भी यह ग्रंथ कुछ घटिया नहीं है। छंदोमयी रचना में राजतरंगिणी आदि एक-आध ग्रंथ को छोड़कर

यही एक ऐसा ग्रंथ है कि जो स्थान स्थान पर तिथि-क्रम का उपयोग करता है। कवि अपने नायक की प्रशंसा में लिखता है कि मान्धाता, श्री राम आदि अनेक प्रसिद्ध राजा तो हो ही चुके हैं जिनके चरित्र लिखे गए हैं, किंतु श्री हम्मीरदेव का चरित भी यदि उनसे बढ़कर नहीं तो उनके समान अवश्य है। इस सात्त्विक वृत्तिवाले महाराज ने अपने प्राणों और राजैश्वर्य को ठुकरा दिया, किंतु शक सुल्तान (अलाउद्दीन) को अपनी पुत्री और अपने शरणागत मुगल न दिए[1]। शिवि ने अपने शरणागत की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस दिया था और महर्षि दधीचि ने अपनी अस्थि दी थी, किंतु महाराज हम्मीरदेव ने अपने शरणागत की रक्षा के लिये अपना राजैश्वर्य, सुख-भोग और प्राण भी दे दिए। वास्तव में काव्य के लिये ऐसे ही उदात्त नायक की आवश्यकता होती है और हमारे विद्वान् कवि को सौभाग्य से हम्मीरदेव के रूप में ऐसा नायक प्राप्त हो गया था। वह अपने प्रतिष्ठित नायक के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने में इतना सतर्क है कि अपने नायक का चरित्र वर्णन करने के लिये अपने आपको कालिदास की नाईं असमर्थ समझता है एवं केवल गुरु-प्रसाद से ही ग्रंथ समाप्त होने की आशा करता है[2]।

(१) मान्धातृसीतापतिकंकमुख्याः क्षितौ क्षितींद्राः कतिनाम नासन्।
तेषु स्तवार्हः परमेष सत्त्वगुणेन हम्मीरमहीभृदेकः॥ ८॥
सत्त्वैकवृत्तेः किल यस्य राज्यश्रियो विलासा अपि जीवितञ्च।
शकाय पुत्रीशरणागतांश्च प्रयच्छतः किं तृणमप्यभूवन्॥ ९॥
सर्ग १

(२) क्वैतस्य राज्ञः सुमहच्चरित्रं क्वैषा पुनर्मे धिषणाऽणुरूपा।
ततोतिमोहाद्भुजयैकयैव मुग्धस्तितीर्षामि महासमुद्रम्॥ ११॥
सर्ग १

मिलाइए रघुवंश, सर्ग १ श्लोक २—

ग्रंथ-रचना का समय

हम्मीर-महाकाव्य का प्रस्तुत संस्करण सन् १८७८ ई० में श्री नीलकंठ जनार्दन कीर्तने द्वारा संपादित होकर एक वर्ष पीछे एज्यूकेशन सोसाइटी प्रेस बंबई से प्रकाशित हुआ था। किंतु अब यह दुष्प्राप्य हो चला है। उक्त संस्करण जिस प्रति के आधार पर लिखा गया था वह संवत् १५४२ विक्रमीय (सन् १४८५ ई०) की लिखी थी जिसकी पुष्पिका में लिखा है—

"संवत् १५४२ वर्षे श्रावणे मासि श्रीकृष्णर्षिगच्छे श्रीश्रीजयसिंहसूरिशिष्येण नयहंसेनात्मपठनार्थं श्रीपेरोजपुरे हम्मीरमहाकाव्यं लिलिखे।"

ग्रंथ के रचयिता कवि नयचंद्र सूरि भी इन्हीं जयसिंह सूरि के शिष्य थे, अतः ग्रंथ के लिपि-कर्त्ता एवं रचयिता परस्पर गुरुभाई होने के अतिरिक्त समकालीन भी माने जा सकते हैं। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि नयहंस (या नयसिंह) की अपेक्षा नयचंद्र पूर्वज थे।

जयसिंह सूरि का समय

श्रीकृष्णर्षि गच्छ की स्थापना इन्हीं जयसिंह सूरि द्वारा विक्रम सं० १३९१ (सन् १३३४) में हुई थी तथा इस गच्छ का नाम कहीं कहीं "कृष्णराजर्षि गच्छ" भी लिखा है। ये स्वयं एक विख्यात नैयायिक विद्वान् थे। इन्होंने नयसार-दीपिका नामक टीका-ग्रंथ की रचना की थी। ये आचार्य महेंद्र के शिष्य थे[1]।

हम्मीर महाकाव्य के लेखक के कथन से भी उनकी विद्वत्ता तथा उक्त ग्रंथ-रचना की पुष्टि होती है तथा उसका यह भी कथन है कि

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

(१) हिंदी-विश्वकोष भाग ८ पृष्ठ ८१।

उन्होंने षट्भाषा के विद्वान् सारंग को शास्त्रार्थ में परास्त किया था एवं महाराजकुमार के लिये एक ऐसे नए व्याकरण की रचना की थी जो काव्यमय था[1]।

ये कुमारनृप तथा सारंग कौन थे, सो निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है।

जयसिंह सूरि के गुरु महेंद्र अचल गच्छ के दसवें आचार्य थे तथा इनका शासन-काल १३९५ वि० से १४४४ तक था (हिंदी विश्वकोष भाग ८ पृष्ठ ८१)। अचल गच्छ की स्थापना संवत् १२०२ में बताई जाती है। इस कथन से अनुमान होता है कि जिन महेंद्र के एक शिष्य संवत् १३९१ में एक स्वतंत्र गच्छ की स्थापना करते हैं वे स्वयं गच्छपति बनने के समय संवत् १३९५ विक्रमीय में कम से कम ४० या ५० वर्ष की आयु के रहे होंगे, क्योंकि उनका शासन-काल भी ५० वर्ष रहा है। अतः वे अवश्य दीर्घजीवी रहे होंगे। तो भी प्रस्तुत ग्रंथ हम्मीर-महाकाव्य की रचना उनके जीवन-काल में न हुई होगी, किंतु उनकी मृत्यु के पश्चात् संवत् १४४४ से पीछे किसी समय हुई होगी। इस कथन की पुष्टि नीचे लिखे अनुमानों से होती है—

(१) नयचंद्र सूरि स्वयं जयसिंह के पौत्र और शिष्य थे[2] और इस क्रम से वे महेंद्र के प्रपौत्र के स्थान में होंगे। ८० या ९० वर्ष की अवस्था तक जीवित रहने पर भी प्रपौत्र को इतना योग्य और

---

(१) श्रीहम्मीर महाकाव्य, सर्ग १४—

षट्भाषाकविचक्रशक्रमखिलप्रामाणिकाग्रेसरम्।
सारंगं सहसा विरंगमतनोद्यो वादविद्याविधौ ॥ २३ ॥
श्रीन्यायसारटीकां नव्यं व्याकरणमथ च यः काव्यम्।
कृत्वा कुमारनृपतेः ख्यातस्त्रैविद्यवेदिचक्रीति ॥ २४ ॥

(२) पौत्रोप्ययं कविगुरोर्जयसिंहसूरेः
काव्येषु पुत्रतितमां नयचंद्रसूरिः ॥

विकसित बुद्धिवाला देख पाना प्रायः असंभव है जो एक उच्च कोटि के ऐतिहासिक काव्य की रचना कर सके।

(२) अपने ग्रंथ में अपने प्रपिता और गुरु का नाम जिस ढंग से लिखकर नयचंद्र ने उनके गुरु का उल्लेख नहीं किया है उससे भी यही अनुमान होता है कि उनके बाबा के गुरु उस समय जीवित नहीं थे तथा उनकी कीर्ति को उनके योग्यतर शिष्य ने ढक दिया था।

काव्य की रचना, विक्रम-संवत् १४७० के लगभग

यद्यपि हम्मीर महाकाव्य की रचना संवत् १४४४ तक नहीं हुई थी; किंतु संवत् १४७० तक इसकी रचना अवश्य हो चुकी थी, क्योंकि इसके पश्चात् इसकी रचना हो ही नहीं सकती। इस कथन का हेतु यह है—

कवि ने ग्रंथ के अंत में काव्य-रचना का हेतु यह लिखा है कि एक दिन सभा में तोमर महाराज वीरम ने कहा कि पहले कवियों जैसे काव्यों की रचना आजकल नहीं हो सकती। उनकी इस उक्ति पर एवं उनका संकेत पाकर मैंने यह शृंगार, वीर और अद्भुत रस से युक्त काव्य लिखा है[1]।

यह तोमर महाराज वीरम ग्वालियर के दुर्गपति थे। इनके पिता वीरसिंह २५ वर्ष तक दुर्गपति रहे थे और संवत् १४५७ (सन्

नव्यार्थसार्थघटनापदपंक्तियुक्ति-
विन्यासरीतिरसभावविधानयत्नैः।
सर्ग १४ श्लोक २७।

(१) काव्यं पूर्वकवेर्न काव्यसदृशं कश्चिद्विधाताधुने-
त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि।
तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमनाः शृंगारवीराद्भुतं
चक्रे काव्यमिदं हमीरनृपतेर्नव्यं नयेंदुः कविः॥
सर्ग १४, श्लोक ४३

१४०० ई०) में इन्होंने दुर्गपति-पद को सुशोभित किया था। इनका अंतिम शिलालेख ग्वालियर के सुहानिया की अंबिका देवी के मंदिर से प्राप्त हो चुका है, जो संवत् १४६७[1] का है। वीरमदेव का शासन-काल अधिक से अधिक संवत् १४७० तक माना जा सकता है, क्योंकि संवत् १४८१ में हम वीरम के पौत्र और गणपति के पुत्र डुंगरसिंह को दुर्गपति देखते हैं[2]। इस प्रकार इस काव्य की रचना वीरम के जीवन-काल में संवत् १४६७ से पहिले हो चुकी होगी।

ग्रंथ की प्रामाणिकता

संवत् १३६१ में कृष्णर्षि गच्छ के संस्थापक संवत् १३५८ में (अर्थात् रणस्तंभपुर-युद्ध के समय) दस या पाँच वर्ष के शिशु रहे होंगे तथा उन्हें उक्त युद्ध की स्मृति स्वयं न भी रही होगी तो भी उन्होंने इस घटना का वृत्तांत अवश्य उन लोगों से सुना होगा जो स्वयं युद्ध में लड़े थे या जिन्होंने इस काव्य में वर्णित घटनाएँ स्वयं देखी-सुनी थीं। सारांश यह कि जयसिंह सूरि को युद्ध की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होने के प्रत्यक्ष और समकालीन साधन प्राप्त थे, क्योंकि वह स्वयं उस समय वर्तमान थे जब प्रत्यक्ष और समकालीन साक्ष्य प्राप्त हो सकता था। इसके अतिरिक्त वह स्वयं इतने प्रतिष्ठित और उच्च कोटि के व्यक्ति थे कि न केवल उच्च राज-कर्मचारी प्रत्युत राजा महाराजा भी उनके संसर्ग में आते थे। अतः अधिकतर यही संभव है कि नयचंद्र ने इस युद्ध का वृत्तांत और तत्संबंधी घटनाओं का विस्तृत ज्ञान अपने प्रपिता और पिता तथा

(१) Journal of Bengal Asiatic Society, Vol. XXXI, P. 422.

(२) S. B. A. S. Vol. VIII, P. 695.

उनके अन्य समवयस्क व्यक्तियों से प्राप्त किया था जो विश्वसनीय हो। ऐसी दशा में यह भी मान लेना अनुचित न होगा कि राजकीय लेख-संबंधी साक्ष्य को देखने का अवसर भी नयचंद्र सूरि को प्राप्त हुआ होगा। फलतः हम्मीर-महाकाव्य में वर्णित युद्ध-घटना के संबंध में, काव्योचित अलंकार-पूर्ण भाषा को छोड़कर, संदेह करने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता।

लिपिकर्त्ता

जिस ग्रंथ के आधार पर प्राप्त संस्करण संपादित किया गया था वह सं० १५४२ विक्रम में लिखा गया था तथा उसने अपने पढ़ने (और अपने संग्रह में रखने) के लिये भी लिखा था। वह स्वयं अपने को भी जयसिंह सूरि का शिष्य कहता है। संवत् १३५७ विक्रम से पहिले उत्पन्न होनेवाले व्यक्ति का संवत् १५४० तक जीवित रहना यद्यपि विशेष दशा में असंभव नहीं है, किंतु यहाँ इसे संभव मानने का कोई कारण नहीं। फिर यदि जयसिंह सूरि की अवस्था लगभग १७५ वर्ष की उस समय मान ली जावे जब नयहंस ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया होगा तो इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि वे उसके शिक्षा-गुरु नहीं थे, किंतु दीक्षा-गुरु थे, तथा अधिकतर संभव तो यही जान पड़ता है कि जयसिंह सूरि के प्रस्थापित गच्छ से दीक्षा ग्रहण करने के कारण नयहंस ने अपने आप को उनका शिष्य कहा है, क्योंकि और किसी अर्थ में वह जयसिंह सूरि का शिष्य नहीं हो सकता।

(२) श्री हम्मीरदेव के पूर्वज (पूर्वार्द्ध)

हम्मीर-महाकाव्य में उल्लिखित चौहान-वंशावली कुछ कम ऐतिहासिक मूल्य की वस्तु नहीं है, प्रत्युत इसके समालोचनात्मक अध्ययन से इस काव्य का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

हम्मीरदेव के पूर्वजों में पृथ्वीराज तक ३० नाम इस काव्य में निम्न-लिखित प्रकार से गिनाए गए हैं—

सर्ग १

(१) चाहमान—ब्रह्मा जी एक बार यज्ञ के लिये अनुकूल भूमि ढूँढ़ रहे थे कि अकस्मात् किसी स्थान पर उनके हाथ से कमल गिर पड़ा। उन्होंने उसी स्थान को हवन के योग्य ठहराया तथा सूर्य को यज्ञ-रक्षा का भार दिया। वही स्थान कालांतर में पुष्कर-क्षेत्र तथा सूर्य-मंदिर से आया हुआ पुरुष चाहमान कहलाया। उसी से यह चाहमान वंश प्रवृत्त हुआ (श्लोक १-२५)।

(२) दीक्षित वासुदेव—(श्लोक २६-३१)।

(३) नरदेव—[संख्या (२) का पुत्र] (३२-३६ श्लोक)।

(४) चंद्रराज—(श्लोक ३७-४०)।

(५) जयपाल चक्री—(श्लोक ४१-५२)।

(६) जयराज—(श्लोक ५३-५७)।

(७) सामंतसिंह—(श्लोक ५८-६२)।

(८) गूयक—(श्लोक ६३-६६)।

(९) नंदन—(श्लोक ६७-७१)।

(१०) वप्रराज—(श्लोक ७२-८१)। इसने शाकंभरी देवी को प्रसन्न करके साँभर नाम की झील से नमक लेना आरंभ किया था[1]।

---

(१) शाकंभरीस्थानकृताधिवासां शाकंभरीं नाम सुरीं प्रसाद्य।
विश्वापतिर्विश्वहिताय शाकंभर्यां रुमां यः प्रकटीचकार॥

सर्ग १ श्लोक ८१

[टॉड के अनुसार वप्रराज का नाम मानिक्यराय था। शाकंभरीराय उसकी उपाधि थी जिसे चौहान राजाओं ने अपने वंश की विशेष उपाधि के रूप में स्वीकार कर लिया था। आगे देखिए पृष्ठ २८३ में अंक १४ का विवरण जहाँ इस वंशावली पर विशेष प्रकाश डाला गया है। टॉड का कथन भ्रमपूर्ण है। वप्रराज का शुद्ध नाम बप्पयराज (वाक्पतिराज) था।—सं०]

(११) हरिराज—इसने शकराज को युद्ध में हराया था[1] (श्लोक ८२-८७)। इसका पुत्र—

(१२) सिंहराज अत्यंत वीर था। इसने कर्णाटक, गुजरात, चोल और अन्य राजाओं को हराया तथा युद्ध में यवन-सेनापति हेतिम को मारकर उसके चार हाथी छीन लिए थे[2] (श्लोक ८८-१०२)।

सर्ग २

(१३) भीमराज—सिंहराज के पुत्र नहीं था, अतः उसने अपने भाई के पुत्र भीमराज को गोद लिया था[3] (श्लोक १-६)।

(१४) विग्रहराज—इसने गुजरात के राजा मूलराज को हराकर उस देश पर अधिकार किया[4] (श्लोक ७-६)।

---

(१) ततो धराभारमुरीचकार जितारिचक्रो हरिराजभूपः।
शकाधिराजस्य रणे निहत्य तन्मानवन्मुग्धपुरं ललौ यः॥
सर्ग १ श्लोक ८२

टॉड के अनुसार इसने सुल्तान नासिरउद्दीन या सुबुक्तगीन को हराया था और 'सुल्तानग्रह' का पद ग्रहण किया था।

(२) उत्सर्पद्गुरुदर्पदर्पितभुजादंडारिदंतावल-
व्रातावग्रहनिग्रहाग्रहमहानागेंद्रसांद्रप्रभः।
हत्वा यो युधि हेतिमं शकपतिं निर्व्याजवीरव्रतो
मत्तेभांश्चतुरोऽगृहीद्बलकरान्मूर्तानुपायानिव।
सर्ग १ श्लोक १०२

(३) अथो अभावात्तनुजस्य भीमं भ्रात्रेयमात्मीयपदे निवेश्य।
कृत्वारिषड्वर्गजयः स सिंहराजो हरेर्धाम जगाम नाम॥ सर्ग २-१

(४) ....विग्रहराजभूपः।
....॥ ६ ॥
अभ्युग्रवीरव्रतवीर वीरसंसेव्यमानक्रमपद्मयुग्मम्।
श्रीमूलराजं समरे निहत्य यो गुर्जरं जर्जरतामनैषीत्॥ सर्ग २-८

गुजरात के इतिहास के अनुसार मूलराज का शासन-काल वि० सं० ६६८ से १०५३ तक माना जाता है। उस पर शाकंभरीराज और बारप्प ने उसके शासन-काल के आरंभ में ही एक साथ आक्रमण किए थे (इंडियन एंटीक्वेरी भाग ६ पृष्ठ १८४)। सपादलक्ष साँभर राज्य के अधीनस्थ देश का नाम था।

(१५) गुंददेव—(श्लोक १०-१५)।

(१६) वल्लभराज—(श्लोक १६-१८)। इसका पुत्र

(१७) राम—(श्लोक १९-२१)।

(१८) चामुंडराज—इसने युद्ध में हेजमदीन शक को परास्त किया और मार डाला[1] (श्लोक २२-२५)।

(१९) दुर्लभराज—इसने शहाबउद्दीन को कैद किया था[2] (श्लोक २६-२८)।

(२०) दु:शलदेव—इसने कर्णदेव को युद्ध में मारा[3] (श्लोक २९-३२)।

(२१) विश्वल प्रथम—इसने शहाबउद्दीन को मारा जो मालवा का स्वामी था[4] (श्लोक ३३-३७)।

टॉड के मतानुसार इस समय वीर विल्हणदेव राज्य करता था जो अजमेर की रक्षा करता हुआ महमूद गजनवी के हाथ से मारा गया। [टॉड का यह कथन भी भ्रमपूर्ण है।—सं०]

(१) ....चामुंडराजस्तरसा प्रचंडः।

.... ॥ २२ ॥

कृतान्तकान्ताकुचकुंभपत्रलतापिधाने विहितावधानम्।

यः संगरे हेजमदीनसंज्ञं शकाधिराजं तरसा व्यधत्त ॥ सर्ग २-२४

(२) नृपोऽथ.................दुर्लभराजसंज्ञः

.... ॥ २५ ॥

सहावदीनं समरे विजित्य जग्राह यो बाहुबलेन मानी।

असंख्यसंख्यार्जितशारदीनशशिप्रभाभेतृतदीयकीर्तिम्॥ सर्ग २-२८

(३) ततोऽभवद्दु:शलदेवनामा.........

.... ॥ २९ ॥

नाकेशनारीजनगीयमानगीतामृतास्वादवितीर्णकर्णम्।

श्रीकर्णदेवं समरे विधाय तद्राज्यलक्ष्मीं परिणीतवान् यः ॥ सर्ग २-३१

(४) ....श्रीविश्वलो विश्वविलासिकीर्तिः।

.... ॥ ३३ ॥

अहीनधामानमदीनसेनं सहावदीनं समरे निहत्य।

(२२) पृथिवीराज प्रथम—(श्लोक ३८-४०) ।

(२३) अल्हणदेव—(श्लोक ४१-४४) ।

(२४) आनलदेव—(श्लोक ४५-५१) । इसने पुष्करारण्य (अजमेर) में आनासागर खुदवाया[१] ।

(२५) जगद्देव—(श्लोक ५२-५५) ।

(२६) विग्रहदेव द्वितीय—(श्लोक ५६-५९) ।

(२७) जयपाल—(श्लोक ६०-६२) ।

(२८) श्री गंगदेव—(श्लोक ६३-६६) ।

(२९) सोमेश्वर—इसकी राजमहिषी कर्पूरदेवी के गर्भ से प्रसिद्ध पृथिवीराज का जन्म हुआ[२] (श्लोक ६७-७४) ।

(३०) पृथिवी चौहान—(श्लोक ७५-९०) ।

सर्ग ३—पृथिवीराज चौहान

शहाबउद्दीन गोरी के आक्रमणों से त्रस्त होकर पश्चिम भारत के राजाओं ने गोपालचंद्र के पुत्र श्री चंद्रराज के नेतृत्व में पृथिवीराज से सहायता माँगी । इस समय गोरी मुल्तान को अपनी राजधानी

अमूमुचन्म्लेच्छकुलैर्द्विधापि यो मालवस्यापि विभुर्विभुत्वम् ।
सर्ग २-३७

यह वही शहाबउद्दीन जान पड़ता है जिसे दुर्लभराज ने हराया था ।

(१) आनल्लदेवे.........................

...................................॥ ४९ ॥

पर्यन्तशैलप्रतिबिंबदंभात् क्रीडारसक्रोडितदिग्द्विपं यः ।

अचीखनत्पुष्करपुण्यपारं कासारसारं शुचि वारिवारम् ॥ ५१ ॥

(२) ....सोमेश्वरोऽनश्वरनीतिरीतिः ॥ ६७ ॥

कर्पूरदेवीति बभूव तस्य प्रिया प्रियाराधनसावधाना ।

....................................॥ ७२ ॥

अतुच्छवात्सल्यभरं दधानो वितत्य तज्जन्ममहं महान्तम् ।

जगज्जनाह्लादकरस्य पृथ्वीराजेतिनामाऽधित तस्य भूपः ॥७४॥ सर्ग २

बना रहा था। चौहानपति ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके शहाबउद्दीन पर चढ़ाई की और लड़ाई में उसे कैद किया। इस अवसर पर शहाबउद्दीन को उन राजाओं से क्षमा-याचना के लिये भी विवश किया गया जिन्होंने पृथिवीराज से आकर उसकी शिकायत की थी। इसी प्रकार वह सात बार कैद किया गया और पृथिवीराज ने उसे, दंड लेकर, प्रत्येक बार क्षमा कर दिया। शकराज ने अंत में इस बार बार के अपमान से खिन्न होकर घटैक देश के राजा से सहायता ली एवं उसकी घुड़सवार तथा पैदल सेना लेकर दिल्ली को आ घेरा। पृथिवीराज ने आश्चर्य और क्रोध के साथ लड़ने की तैयारी की। इसी अवान्तर में शत्रु ने नगर में घुसकर अश्वपति और तौर्यकों (बाजेवालों) को बहुत सा द्रव्य देकर आक्रमण के समय नाटारंभ नामक राग में बाजा बजाने तथा मारू न बजाने पर राजी कर लिया।

विश्वासघाती तौर्यक और अश्वपति के इस कुकृत्य से युद्ध के समय घोड़े नाचने लगे। पृथिवीराज क्षण भर के लिये किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया और शहाबउद्दीन तथा उसकी सेना ने उससे लाभ उठाया। फलत: पृथिवीराज इस युद्ध में कैद हो गया तथा राजपूतों की बड़ी संख्या हत हुई। चौहानपति ने बंदी होने के पीछे भोजन करना छोड़ दिया।

सेनापति उदयराज ने अपने स्वामी का उद्धार करने के लिये शत्रु पर घेरा डाला तथा एक मास तक युद्ध होता रहा। एक बार किसी मुसलमान सरदार ने शहाबउद्दीन को पृथिवीराज के पिछले उपकारों की याद दिलाकर उसे एक बार छोड़ने की सम्मति दी। इस पर शहाबउद्दीन क्रुद्ध हो गया और उसने चिढ़कर पृथिवीराज को किले में भेज दिया। कुछ दिन पीछे अनशन से पृथिवीराज का प्राणांत हो गया।

उदयराज ने भी अपने सखा और स्वामी की मृत्यु का हाल जानकर घोर युद्ध किया और उसी में प्राण दे दिए[1] (श्लोक १-७३)।

सर्ग ३—

(१) अथ प्रथीयस्तरसा रसायास्तलं शयालुं स्वशयशकेन।
सहाबदीनेन वितन्वतालमुपद्रुताः पश्चिमभूमिपालाः ॥ १ ॥
आह्लादनेनाखिलभूतधात्र्या यथार्थतां नाम निजं नयन्तम्।
गोपालचंद्रांगवितीर्णरंगं श्रीचन्द्रराजं पुरतो निधाय ॥ २ ॥
उपायनानीतमहेभकुम्भगलन्मदार्द्रीकृतभूमिभागम्।
भेजुर्भुजोर्जाविजितारिपृथ्वीराजालयद्वारमुदारवेगाः ॥ ३ ॥
अतिष्ठपत् द्विट्कुलशूलमूलस्थाने प्रधानां निजराजधानीम्।
.... ॥ १२ ॥
इत्येतदीयां विनिशम्य वाचं वाचंयमानामपि कोपकर्त्रीम्।
आकृष्य कूर्चं तरवारिमुष्टिपटिष्ठताभास्करवारिजेन ॥ १४ ॥
मयूरबन्धेन निबन्ध्य नैनं पादारविंदे यदि वः क्षिपामि।
जातोन्वये तर्हि न चाहमाने इति प्रतिज्ञामकरोन्नरेशः ॥ १५ ॥

....

एवं नृदेवो युधि युद्धयमानः प्रसह्य किञ्चिच्छलमाकलय्य।
शकाधिराजं विनियम्य सम्यगपूपुरत्स्वां विधिवत्प्रतिज्ञाम् ॥ ४३ ॥
महीमहेन्द्रान् शरणागतांस्तान् स्वे स्वेधिकृत्वा विषये नयेन।
ततः स मानी निजराजधानीमापद्विमानीकृतशत्रुजातः ॥ ४४ ॥
वासांसि दत्वा सुरलोकलोभि महांसि तस्मा इति राड् मुमोच।
हा तत्र को नाम पुनर्विधित्सुरमामया संगरमेवमुच्चैः ॥ ४५ ॥
पृथक्पृथक्संगररंगभंग्येत्थं ससकृत्वः क्षितिवासवेन।
विनिर्जितोऽसौ यवनावनीशो मम्लौ च जग्लौ च भृशं नृशंसः ॥४६॥
अथासहस्तं स्वबलच्छलाभ्यां जेतुं शकेशः शकचक्रकेतुम्।
बलाभिलाषी प्रचचाल चन्द्र इव ग्रहेशं प्रति घर्परेशम् ॥ ४७ ॥
कांबोजलंगाहथभीमभिल्लवंगादिदेशाधिपपेशलश्रि।
शिष्टाष्टलक्षप्रमितामिताहिकान्तत्वराजित्वरवाजिराजि ॥ ४८ ॥
सम्पादिताराति विपत्तिपत्तिकोट्याकुलं शौर्यकलं बलं स्राक्।
उत्क्रात्मवार्ताय नृपाय तस्मै घटैकदेशीय नृपो ददेऽथ ॥ ४९ ॥

(२) श्री हम्मीरदेव के पूर्वज (उत्तरार्द्ध)
सर्ग ३ और ४

(३१) हरिराज—(सर्ग ३ श्लोक ७३–८२ तथा सर्ग ४ श्लोक १–१९) यह अत्यंत विलासी था। इस पर मुसलमानों ने

अद्यस्ततोऽसौ प्रसरत्प्रसादात्साम्राज्यमासाद्य सहावदीनः।
न केनचित् ज्ञातचरः समेत्य जग्राह दिल्लीमतिविग्रहेण ॥ ५० ॥
ततो भियाभ्यस्तपलायनानां हताहता हेति कृतारवाणाम्।
भग्नप्रभाणां मुखतो जनानां समागमं शत्रुपतेर्निशम्य ॥ ५१ ॥
रणे मयासौ शतशो जितोऽपि किं चापलं बाल इवातनोति।
वहन्नहंकारमिति क्षितीशः प्रचेलिवांस्तुच्छपरिच्छदोऽपि ॥ ५२ ॥
ततो निशीथे निभृतान्धकारे संप्रेषितैः प्रत्ययितैः शकेशः।
अबीभिदत्पुष्कलनिष्कदानैस्तस्याश्वपालं सह तौर्यिकैः सः ॥ ५४ ॥
प्रवर्तमाने समरे समन्ताच्छकेशनुन्नेन तदाश्वपेन।
तुरंगमस्तेन नृपाय नाटारम्भाभिधानो ध्वयते ददे सः ॥ ५८ ॥
तमश्वमारूढममुं विभाव्य शकात्तचित्ता अथ तौर्यिकास्ते।
अवीवदन् वीरवरप्रियाणि मृदंगभेरीपटहादिकानि ॥ ५९ ॥
पृष्ठे शकस्तावदुपेत्य कश्चित्प्रक्षिप्य कंठे धनुराततज्यम्।
अपीपतद्भूपतिमाशु पश्चात् संभूय सर्वे तरसा बबन्धुः ॥ ६४ ॥
अथ स धरणिकान्तः सद्गुणालीनिशान्तः
प्रतिहतखलजातः प्रौढराढावदातः।
विधिविलसितयोगादात्तबंधः शकेंद्रात्
द्विरपि रतिमहासीद्भोजने जीवने च ॥ ६५ ॥
यवनाधिपदेशमनुप्रहितं विभुनैव पुरोदयराजभटम्।
समुपेतमवेक्ष्य तदा शकराट् प्रविवेश पुरीमुररीकृतभीः ॥ ६६ ॥
कष्टं निशम्योदयराज ईशितुः प्राप्तं तथा नाहमभूवमित्यथ।
मूर्धानमुच्चैरधुनोन्मुहुर्मुहुः शल्यं तदुद्धर्तुमिव स्वतो हृदः ॥ ६७ ॥
संत्यज्यैनं व्यसनपतितं स्वामिनं चेद्व्रजामि
क्रीडां व्रीडा कलयति तदा गौडगोत्रे सुखं मे।
इत्थं ध्यात्वा शकपतिपुरीं संनिरुध्याभितोऽसौ
तस्थौ पक्षद्वयमनुदिनं युध्यमानो हठेन ॥ ६८ ॥

चढ़ाई की और यह अंतःपुर की स्त्रियों सहित जल मरा। तब उसके अन्य सैनिक, सखा और साथी धन-रत्न आदि लेकर रणस्तंभपुर में चले आए[१]।

म्लेच्छावनीपमिममेवमन्यदा कश्चिज्जगाद सविषादमानसः ॥
त्वामेषकोऽमुचदनेकशो रणे त्वं नैकवेलमपि हा जहास्यमुम् ॥६९॥
धर्मोचितामपि तदेति तद्गिरं श्रुत्वा भृशं स कुपितो नृशंसधीः ॥७०॥
....
आनीयैष नृपं तमुग्रतररुड् दुर्गान्तरे...........।
.... ॥ ७१ ॥
पृथ्वीराजनृपो नृपालितिलको लेभे शिवं शाश्वतम् ॥ ७२ ॥
पृथ्वीपतेरिति विनाशगतिं निशम्य
दूनः स गौडकुलपंकजबालसूर्य्यः।
स्थानं निजं तदुपगम्य बलं स्वयं च
युध्वा दिवस्पतिपदं तरसा ससाद ॥ ७३ ॥

(१) ....
विहितौर्ध्वदैहिक इलामखिलां स्वकरे चकार हरिराज नृपः।
७४

सर्ग ४

राज्यं निर्विशतेऽन्येद्युर्हरिराज महीभृते।
प्रीतिव्रततिवृद्ध्यर्थं श्रीगुर्जरनरेश्वरः ॥ २ ॥
विस्फुरच्छुक्रसंबंधाः समुन्नतपयोधराः।
वर्षा इवोल्लसद्धर्षाः प्रेषयामास नर्तकीः ॥ ३ ॥
....
एतत्स्वरूपं विज्ञाय प्राग्वैरी शकनायकः।
स सैन्योपेत्य दिल्लीतो देशसीमानमानशे ॥ १६ ॥
काकनाशं ततो भीत्या प्रनष्टजनतामनात्।
सौख्यसर्वंकषं श्रुत्वा गमनं शत्रुभूपतेः ॥ १७ ॥
आरभ्य पृथ्वीराजंक्ष्माकलोकास्त्रिवासरम्।
अकृत्यमिति संत्यक्तशाकाननविलोकनः ॥ १८ ॥

(३२) गोविंदराज—(श्लोक २०-३१) यह पृथिवीराज का पुत्र था। इसी ने रणस्तंभपुर में अपनी राजधानी स्थापित की थी और हरिराज की मृत्यु के बाद मंत्रियों आदि ने इसी के पास आकर शरण ली थी। उस समय दिल्ली और अजमेर पर शहाबउद्दीन का अधिकार हो गया था। गोविंदराज ने इन अतिथि शरणागतों का यथेष्ट सत्कार करके इन्हें उचित राजकीय पदों पर नियत कर दिया[1]।

(३३) वाल्लण—(श्लोक ३२-४०) इसके दो पुत्र थे—प्रह्लाद और वाग्भट्ट[2]।

सांतःपुरपुरंध्रीकस्ततोऽसौ ज्वलने विशत्।
भाविनी यादृशी कीर्तिर्मतिः स्यात्तादृशी नृणाम् ॥ १९ ॥

(१) तत्रास्ति पृथ्वीराजस्य प्राक् पित्राऽतो निरासितः।
पौत्रो* गोविंदराजाख्यः स्वसामर्थ्यात्तवैभवः ॥ २४ ॥
स्वस्वामिवंशकासारहंसं तं भूपमाश्रिताः।
कीर्तिपात्री भवंतोऽवतिष्ठेम ह्यकुतोभयाः ॥ २५ ॥
मन्त्रयित्वेति भूपीयं सर्वं कोषबलादिकम्।
सहादाय चलन्ति स्म रणस्तम्भपुरं प्रति ॥ २६ ॥
....
धीसत्वांस्तान् यथायोग्यकार्येणायोजयन्नृपः ॥ ३० ॥

(२)......................श्रीमद्वाल्लणभूपतिः ॥ ३२ ॥
....
न्यधात्प्रह्लादनं राज्ये प्रधानत्वे च वाग्भटम् ॥ ४१ ॥
....
........................ततः प्रह्लादनो नृपः।
.... ॥ ४३ ॥

---

* मूल-पुस्तक में पौत्र छपा है, जो अशुद्ध है। गोविंदराज पृथ्वीराज का बालक पुत्र था न कि पौत्र; और हरिराज ने जब उससे अजमेर का राज्य छीन लिया था तब वह रणथंभोर में जा रहा था। फिर आगे २९वें श्लोक में हरिराज को गोविंदराज का पितृव्य (चाचा) कहा है।—सं०।

(३४) प्रह्लाद—(श्लोक ४१—७१) इसका भाई इसका मंत्री था।

(३५) वीरनारायण—(श्लोक ७१, ७२–१०५) यह प्रह्लाद का पुत्र था। इसका पिता मृगया में एक सिंह द्वारा मारा गया था और इसके चचा वाग्भट्ट ने इसे गद्दी पर बिठाकर स्वयं राज-कार्य चलाया था। वीरनारायण का विवाह आमेर के कछवाहा नरेश की पुत्री से ठहरा। जब बारात आमेर को जा रही थी तो जलाल-उद्दीन की सेना ने उस पर आक्रमण कर दिया; अतः बिना विवाह किए बारात वापस लौट गई। जलालउद्दीन ने रणस्तंभपुर तक उसका पीछा करके दुर्ग पर घेरा डाला, किंतु दुर्ग उससे विजय न हो सका तथा वह विफलमनोरथ लौट गया।

फिर उसने एक और चाल चली। अपने दूत को भेजकर उसने वीरनारायण को साम द्वारा (खुशामद आदि करके) राजी किया और दिल्ली में अपनी मित्रता के बहाने बुलाया। वीरनारायण उसकी इस चाल में आ गया।

वाग्भट्ट ने, जो अब वृद्ध हो गया था, वीरनारायण को दिल्ली जाने से रोका, किंतु उसने क्रोध से उसे फटकार दिया और कहा—"निर्बल और जीर्ण-शीर्ण मस्तिष्कवालों का काम शासन करना नहीं है, और अगर वे चुपचाप न रह सकें तो उन्हें चाहिए कि जहाँ इच्छा हो वहाँ चले जावें।" वाग्भट्ट इससे नाराज होकर मालवा को चला गया। कई अन्य मंत्रियों और दरबारियों ने भी वीर-नारायण को समझाया, किंतु उसने किसी की भी न सुनी। फलतः वह योगिनीपुर (दिल्ली) गया, जहाँ जलालउद्दीन ने उसे विष देकर मार डाला।

इस दशा में अरक्षित रणथंभौर को जलालउद्दीन ने सरलता से अपने अधिकार में कर लिया तथा मालवा के शासक को आज्ञा

भेजी कि वह वाग्भट्ट को मार डाले किंतु वाग्भट्ट इस समाचार से पहिले से ही सचेत हो गया तथा उसी ने मालवा के शासक को मारकर उस देश पर अधिकार कर लिया[1]।

---

(१) सर्ग ४..

वीरनारायणं पुत्रमभ्यषिंचन्निजे पदे ॥ ७२ ॥
सोऽन्यदा प्रमदानेत्रपावनं यौवनं श्रितः ।
परिणेतुं सुतां कत्सवाहस्याऽत्रपुरीमगात् ॥ ८२ ॥
तत्राभिषेणितो जल्लालदीनशकभूभुजा ।
पलाय्यागाद्रणस्तम्भं पृष्ठतः सोप्युपागमत् ॥ ८३ ॥
तत्र युध्वा चिरं जल्लालदीन प्रौढपौरुषः ।
विज्ञाय तं छलग्राह्यं निवृत्यागान्निजां पुरीम् ॥ ८४ ॥
कियत्यथगते काले ततः स शकभूपतिः ।
विजिगीषुश्छलेनामुं दूतेनेत्थमचीकथत् ॥ ८५ ॥
ज्योतिश्चक्रेषु सर्वेषु सूर्याचंद्रमसौ यथा ।
तथावां सार्वभौमा वो भूभृत्सु निखिलेष्वपि ॥ ८६ ॥
....
प्रीतोऽस्मि तव शौर्येण त्वं मे भ्रातास्यतः परम् ।
द्रुह्यामि यद्यहं तुभ्यं कर्ह्रि तर्हि शपे ध्रुवम् ॥ ८९ ॥
एकवेलं समेतव्यं मिलनाय परं त्वया ।
न चेदहं समाकार्यस्त्वदादेशवशंवदः ॥ ९० ॥
....
ततोवनीपतिं वीक्ष्य शकसंगमनोत्सुकम् ।
रहः संवादयामास वाग्भटः प्रतिभाभटः ॥ ९३ ॥
नयशास्त्राम्बुधेः पारदृश्वनः का तवौचिती ।
क्रियते दुष्टहृन्म्लेच्छसंगमाय यदुद्यमः ॥ ९४ ॥
....
इत्युक्त्वा तत्र तूष्णीके सर्वांगीणक्रुधांधलः ।
घटयन्भ्रुकुटीं भीमां पार्थिवो जगिवानिति ॥ ९८ ॥
अकार्यं यदि वा कार्यं यन्मे रोचिष्यतेतमाम् ।
करिष्ये तदहं स्वैरं चिंतयात्र कृतं तव ॥ ९९ ॥

(३६) कुछ समय पीछे वाग्भट्ट ने खर्परों की सहायता से रण-थंभौर पर भी अधिकार कर लिया। इसने १२ वर्ष राज्य किया[1]। (श्लोक १०६–१२८)

(३७) जैत्रसिंह—(श्लोक १३१–१४२) यह हम्मीरदेव का पिता था। इसकी स्त्री का नाम हीरादेवी था। इसके तीन पुत्र थे—(१) हम्मीरदेव, (२) सुरत्राण और (३) वीरम। संवत्

वाग्भटस्तेन वाक्येन प्रासेनेव हतो हृदि।
ययौ तद्राज्यमुत्सृज्य मालवे सपरिच्छदः॥ १०० ॥
परमप्रीतिगौराणां पौराणामपि भाषितम्।
उपेक्ष्य गर्वादुर्वीशो ययिवान् योगिनीपुरम्॥ १०१ ॥

अन्येद्युर्निषयोगेन शकान्नृपममीमरत्॥ १०४ ॥
(१)..

ततो वाग्भटभूपालसूर्येण परिवर्जितम्।
रणस्तंभपुरव्योम व्यानशे शकतारकैः॥ १०६ ॥
शकप्रेरणयेहापि जिघांसुं मालवेश्वरम्।
विज्ञाय वाग्भटो हत्वा लेभे तद्राज्यमूर्जितम्॥ १०७ ॥
शकातंकपरित्रस्तैर्बाहुजैः शरणागतैः।
तद्राज्यं प्राज्यलीलाभृदवधिष्ट दिने दिने॥ १०८ ॥
शके जल्लालदीनेऽथ खर्परैरभिषेणिते।
वाग्भटोप्यमिलत्सैन्यं रणस्तंभोद्दिधीर्षया॥ १०९ ॥

त्रिमास्यामपि जग्मुर्या पुरं रक्षितुमक्षमाः।
पलायिषत सर्वेऽपि जीवं लात्वा शकब्रवाः॥ १२३ ॥

निवेश्य देशसीमासु चतुर्दिक्षु बलं निजम्।
सुखं द्वादशवर्षाणि स्वयं राज्यं स तेनिवान्॥ १२८ ॥

१३३९ में हम्मीरदेव को राज्य देकर जैत्रसिंह ने वानप्रस्थ ले लिया[१]।

विवेचना

चौहानों की वंशावली अभी तक विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है। इस समय हमारे सम्मुख पाँच वंशावलियाँ उपस्थित हैं—(१) हम्मीर-महाकाव्य में उल्लिखित प्रस्तुत नामावली, (२) प्रबंधचतुर्विंशति की वंशावली, (३) कर्नल टॉड द्वारा संगृहीत वंशावली, (४) प्राचीन राजवंश भाग १ में प्रकाशित वंशावली और (५) पृथिवीराज-विजय में दी हुई वंशावली। पृथिवीराजरासो की दी हुई वंशावली पर विचार करना व्यर्थ है। इनके अतिरिक्त शिलालेखों में प्राप्त होनेवाले नाम भी हैं। इन सब पर संक्षिप्त विचार करके निश्चित परिणाम पर पहुँचने की दृष्टि से ही नहीं किंतु हम्मीर-महाकाव्य की दी हुई वंशावली की परीक्षा करने एवं उसका ऐतिहासिक मूल्य जानने के विचार से भी इस विषय की विवेचना की जाती है—

---

(१) तन्नन्दनो जगन्नेत्रानन्दनश्चन्दनद्रुवत् ।
जैत्रप्रतापः श्रीजैत्रसिंहोऽभूद्भूमिवल्लभः ॥ १३१ ॥

....

हीरादेवीति तस्यासीत्प्रेयसी श्रेयसी गुणैः ॥ १३८ ॥

....

हर्षाद्धम्मीरदेवेति नामास्मै पिता ददौ ॥ १४८ ॥

....

....

हम्मीरादितरावपि क्षितिपतेजत्रस्य पित्र्यानुजौ
जज्ञातेंगरुहौ गुहाविव जगज्जैत्रप्रतापोदयौ ।
आद्योभाद्नयोर्नयोदयदलद्वल्लीवसन्तः सुर-
त्राणोऽन्यः परवीरदारणरणारंभप्रभो वीरमः ॥ १५६ ॥

(१) चाहमान—यह चौहान या चाहमान वंश का आदि-पुरुष माना जाता है और हम्मीर-महाकाव्य में इसे सूर्य-पुरुष कहा गया है। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि काव्य के रचयिता के विचार में यह वंश सूर्य-वंश की कोई शाखा हो। यह नाम सभी वंशावलियों के आरंभ में पाया जाता है; अतः इस नाम को निरा कल्पित भी नहीं कह सकते।

टॉड महोदय ने इस वंश को चार प्रसिद्ध अग्निकुलों में गिना है। अग्निकुंड से परिहार, प्रमार आदि चार अग्निकुल के क्षत्रिय-वंशों की उत्पत्ति की आख्यायिका का सर्वप्रथम उल्लेख पृथिवीराज-रासो के लेखक ने किया है। इससे पूर्व चौहान सूर्यवंशी गिने जाते थे। हम्मीर-महाकाव्य के अतिरिक्त पृथिवीराज-विजय और बीसलदेव चतुर्थ के समय के शिलालेख में भी चौहानों को सूर्यवंशी कहा गया है, किंतु संवत् १३७७ वि० के उत्कीर्ण अचलेश्वर महादेव के मंदिर में लगे शिलालेख में इसे चंद्रवंशी कहा गया है। यह लेख देवड़ा चौहान राव लुंभा के समय में लिखा गया था। दूसरा लेख हाँसी से संवत् १२२५ विक्रम का प्राप्त हुआ है जिसमें इस वंश को चंद्रवंशी स्वीकार किया गया है। टॉड को भी यह मत इष्ट जान पड़ता है।

चौहानों का गोत्र वत्स और वेद सामवेद लिखा पाया जाता है। अचलेश्वर के शिलालेख, बिजौलिया के शिलालेख, जो संवत् १२२६ में सोमेश्वर के समय में तैयार किया गया था (J. B. A. S., Vol. IV., P. 40), और जसवंतपुरा के निकट की पहाड़ी पर सूंधामाता के मंदिर के संवत् १३१६ के चौहान या चिगदेव द्वारा उत्कीर्ण शिलालेखों में अग्निकुल की आख्यायिका के अनुसार चौहानों को वशिष्ठगोत्री लिखा है।

इन साक्ष्यों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन साक्ष्यों के अनुसार ये सूर्यवंशी वत्स-गोत्रोत्पन्न स्वीकार किए जाने चाहिएँ।

(२) वासुदेव—पृथिवीराज-विजय के अनुसार पहिले चौहानों का राज्य अहिच्छत्र में था। यह स्थान आजकल नागोर कहलाता है जो जोधपुर राज्य में साँभर से कुछ दूर है। कहते हैं कि वासुदेव ही चौहान-राजवंश को अहिच्छत्र से शाकंभरी (साँभर) में लाए थे और शाकंभरी के नाम से ही चौहान शाकंभरी-शूर कहलाते थे।

प्रबंधचतुर्विंशति में इसका समय ६०८ लिखा है। यदि यह अंक शक-संवत् का द्योतक हो तो वासुदेव का शासन-काल ७४३ विक्रमाब्द अथवा ६८६ ई० के निकट होना चाहिए (३—७)। हम्मीर-महाकाव्य के संख्या ३ से ७ तक के नाम प्रबंधचतुर्विंशति में कुछ हेरफेर के साथ पाए जाते हैं ; जैसे—

महाकाव्य का क्रम	प्रबंध० का क्रम
३ नरदेव	३ सामंतसिंह (महा० का ७ वाँ)
४ चंद्रराज	४ अजराज (या अजयराज जो काव्य का ६ठाँ हो सकता है।)
५ जयपाल चक्री	५ विग्रहराज (नवीन)
६ जयराज	६ विजयराज (कदाचित् काव्य का ५वाँ)
७ सामंतसिंह	७ चंद्रराज (काव्य का ४था)
	८ गोविंदराज (नवीन)
	९ दुर्लभराज (नवीन)
	१० गूयक (नवीन)
	११ वत्सराज (नवीन)

इस प्रकार प्रबंधचतुर्विंशति में ५ नाम नवीन पाए जाते हैं। इनमें क्रम-संख्या ५ का नाम पृथिवीराज-विजय में भी आता है तथा संख्या ८ का नाम गोपेंद्रराज लिखा है। प्रबंधचतुर्विंशति के लेखानुसार

इसने वारिस बेग को हराया था। यह सिंध से आक्रमण करने-वाले अरब आक्रमणकर्ताओं में से कोई होगा।

संख्या ९ (दुर्लभराय) का प्राकृतिक रूपांतरित नाम दूल्हा-राय टॉड की संगृहीत वंशावली में आता है। पृथिवीराज-विजय में भी इसके विषय में लिखा है कि यह गौड़ों से लड़ा था और उसके पीछे मुसलमानों से अजमेर (?) की रक्षा करता हुआ अपने ७ वर्ष के पुत्र के साथ रणस्थल में मारा गया था। अनुमान किया जाता है कि यह आक्रमण संवत् ७८१ और ७८३ के मध्य में, सिन्ध के मुस-लमान सेनापति अब्दुर्रह्मान के पुत्र जुनैद के समय में, हुआ होगा। टॉड ने अजमेर पर मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के अवसर पर संवत् ७४१ (सन् ६८५) में इसका मरना लिखा है, किंतु टॉड का यह कथन ठीक नहीं है। तो भी यह युद्ध चाहे जब हुआ हो, किंतु इतना स्पष्ट है कि चौहान-वंशावली में से यह नाम कम नहीं किया जा सकता और न इसे कल्पित कहा जा सकता है।

चौथा नवीन नाम गूयक प्रथम है। यह नाम पृथिवीराज-विजय में भी नहीं है, किंतु बिजौलिया और हर्षनाथ के मंदिर के शिला-लेख (Epi. Indica, Vol VII, P. 119-125) में यह आता है। वहाँ यह भी लिखा है कि इसने अपनी वीरता के कारण नागाव-लोक की राजसभा में 'वीर' की पदवी प्राप्त की थी। यह नागा-वलोक संवत् ८१३ के निकट वर्तमान था, क्योंकि इसके सामंत और भड़ौंच के राजा भर्तृवृद्ध का एक दानपत्र उक्त वर्ष का प्राप्त हो चुका है, इसलिये काव्य की वंशावली में यह नाम भी सम्मिलित किया जाना आवश्यक है।

पाँचवें नवीन नाम वत्सराज का उल्लेख टॉड ने दूल्हाराय और अजयपाल से भी पहिले किया है, किंतु उनका यह क्रम भ्रमपूर्ण है।

काव्य के नाम क्रम-संख्या ३, ५ और ६ इस सूची में नहीं हैं, किंतु संख्या ५ और ६ के नामों के विषय में अभी ऊपर कह आए हैं। अतः केवल संख्या ३ का नाम नरदेव ऐसा नाम है जिसके विषय में अधिक प्रकाश डालना असंभव है। ऐसी दशा में इस क्रम को बदलकर निम्नलिखित क्रम स्वीकार करना कदाचित् अनुचित न होगा—

(३) सामंतसिंह—पृथिवीराज-विजय में भी यह नाम इसी क्रम पर है।

(४) जयपाल या अजयपाल चक्री—इसने अजमेर बसाया। यह वृद्धावस्था में वानप्रस्थी होकर अजमेर के पास के पहाड़ की तराई में रहता था और उस समय उस स्थान का नाम श्री आश्रम रहना संभव है।

(५) विग्रहराज।

(६) विजयराज।

(७) चंद्रराज।

(८) गोविंदराज।

(९) दुर्लभराज।

(१०) गूयक।

(११) चंद्रराज द्वितीय।

(१२) गूयक द्वितीय (काव्य का क्रम ८)।

(१३) नंदन—(काव्य का ९) हर्षनाथ के लेख में इसका नाम चंदन लिखा है। उक्त लेख से यह भी ज्ञात होता है कि इसने दिल्ली के पास तंवरावती के राजा रुद्रेण पर आक्रमण करके उसे युद्ध में मार डाला था।

(१४) वप्रराज—(काव्य का क्रम १०) इसी का दूसरा नाम वप्पराज है। हर्षनाथ के लेख में इसे वाक्पतिराज लिखा है। इसके तीन पुत्र थे—सिंहराज, लक्ष्मणराज और वत्सराज।

इस समय चौहानों का राज्य-विस्तार विंध्याचल तक पहुँच गया था। किसी तंत्रपाल ने इस पर आक्रमण किया था, किंतु अंत में वह हारकर लौट गया। टॉड ने इसका नाम मानिकराय और समय ७४१ विक्रम-संवत् लिखा है। समय स्पष्ट ही अशुद्ध है।

(१५) हरिराज—(काव्य का ११वाँ) प्रबंधचतुर्विंशति तथा हर्षनाथवाले लेख में इसके स्थान पर सिंहराज नाम आता है और यह नाम काव्य में १२वें क्रम पर आया है। जान पड़ता है कि हरिराज और सिंहराज ये दो नाम एक ही व्यक्ति के हैं, क्योंकि हरि और सिंह पर्यायवाची शब्द हैं और भूल से एक व्यक्ति को दो बार गिना गया है। यही कारण है कि काव्य को छोड़कर सर्वत्र इन दो नामों में से एक ही नाम पाया जाता है।

संवत् १०१३ में इसने हर्षनाथ का मंदिर बनवाकर उस पर सुवर्ण-कलश चढ़ाया एवं उसके खर्च के लिये ४ गाँव दान दिए थे।

टॉड ने इसका नाम हरसराज (हर्षराज ? या हरिराज ?) और समय ८२७ विक्रमाब्द लिखा है। ये दोनों बातें अशुद्ध हैं।

प्रबंधचतुर्विंशति में लिखा है कि इसने हेजविद्दीन को हराया था। यहाँ पर प्रबंधचतुर्विंशति के कर्ता राजशेखर का क्रम अत्यंत दूषित हो गया है—'दुर्लभराज के पीछे वत्सराज फिर सिंहराज जिसने हेजविद्दीन को हराया, फिर दुयोजन (?) जिसने नासिरउद्दीन को हराया, फिर विजयराज, फिर वप्पराज जिसने शाकंभरी सिद्ध की, और उसके पीछे दुर्लभराज।" स्पष्ट ही यह क्रम स्वीकार नहीं किया जा सकता। राजशेखर ने दुर्लभराज और वत्सराज (क्रम-संख्या ६ से १५ तक) के बीच के नाम नहीं लिखे हैं, किंतु सिंहराज और उससे पहले उसके भाई वत्सराज के नाम लिख दिए हैं। स्पष्ट ही यह उसकी भूल है।

सिंहराज ने जिस नासिरउद्दीन को परास्त किया था एवं सुल्तानग्रह की उपाधि धारण की थी वह सुबुक्तगीन हो सकता है जिसने भारत पर कई आक्रमण किए थे। इस युद्ध का समय संवत् १०२० से पहिले होना चाहिए, क्योंकि इसके पश्चात् उसका कोई आक्रमण भारत पर नहीं हुआ था।

(१६) भीमराज—(काव्य का क्रम १३) यह नाम न तो हर्षनाथ के शिलालेख में आता है और न प्रबंधचतुर्विंशति में। संभवत: ठीक बात यह जान पड़ती है कि यह काव्य में दिए चौदहवें नाम विग्रहराज का विशेषणात्मक नाम या विरुद है। इसके द्वारा मूलराज के परास्त किए जाने की बात रासमाला में भी लिखी है। हर्षनाथ के मंदिर का शिलालेख भी संवत् १०३० (सन् ९७३ ई०) में विग्रहराज ने लिखवाया था।

(१७) विग्रहराज (काव्य का क्रम १४) प्रबंधचतुर्विंशति में इसका नाम दुर्लभराज (द्वितीय) तथा सुल्तान मुहम्मद को हरानेवाला लिखा है। इस कथन से तो टॉड का दूलहराय यही है। महमूद गजनवी से सन् १००५-६ (संवत् १०६२ विक्रमीय) में नगरकोट पर आक्रमण किया था और उस अवसर पर अजमेर, दिल्ली, ग्वालियर आदि के राजा एकत्र होकर उससे लड़े थे। कदाचित् चतुर्विंशति के लेखक ने उसी का उल्लेख किया है।

हम्मीर-महाकाव्य का यह कथन अशुद्ध है कि सिंहराज के कोई पुत्र नहीं था तथा उसने अपने भाई के पुत्र भीम को गोद लिया था, क्योंकि उसके तीन पुत्रों के नाम पाए जाते हैं और उनका राज्याभिषिक्त होना भी इतिहास से सिद्ध होता है। अत: उनका शैशव में मर जाना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। सिंहराज के तीन पुत्रों के नाम ये हैं—

१—विग्रहराज (यही १७ वाँ नाम)।

२—दुर्लभराज—प्रबंधचतुर्विंशति में विग्रहराज के स्थान पर इसे ही लिखा है। अतः अनुमान होता है कि विग्रहराज का राज्यकाल अत्यल्प होगा।

३—गोविंदराज (संख्या १६ देखिए)।

(१८) दुर्लभराज—काव्य में यह नाम नहीं पाया जाता, किंतु इसके स्थान पर विग्रहराज का नाम पढ़ा गया है। संख्या १७ में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है।

(१६) गुंददेव—(काव्य में १५वें क्रम पर) यह नाम वास्तव में गोविददेव का प्राकृतिक रूप है। काव्य में प्रसिद्ध प्राकृतिक नाम लिखा गया है।

(२०) वल्लभराज—(काव्य का १६वाँ नाम) प्रबंधचतुर्विंशति में इसका नाम बालमदेव लिखा है जो वल्लभदेव का प्राकृतिक रूपांतर है।

वल्लभराज और दुर्लभराज समानार्थक हैं और एक व्यक्ति के दो नाम होने संभव हैं। ऐसी दशा में संभव है कि काव्यकार ने इस नाम को दुर्लभराज के स्थान पर लिखा हो जिसे हमने यहाँ क्रम १८ पर रखा है। क्रम का अंतर रहना इन वंशावलियों में एक सामान्य सी बात है।

(२१) राम—(काव्य का क्रम १७) इससे आगे काव्य अठारहवें क्रम पर चामुंडराय का नाम है और उसके विषय में लिखा है कि उसने हेजिमदीन शक को परास्त करके मार डाला था।

प्रबंधचतुर्विंशति में राम को विजयराज और उसके उत्तराधिकारी चामुंड को सुल्तान का भंग करनेवाला लिखा है। पृथ्वीराज-विजय में राम का नाम वीर्यराम और चामुंड को उसका भाई कहा गया है, किंतु वहाँ उसके राज्याभिषिक्त होने का उल्लेख नहीं है। बिजौलिया के लेख से भी चामुंड का राज्यासीन होना सिद्ध

होता है। उसने नरवर (किशनगढ़ राज्य) में एक विष्णु-मंदिर भी बनवाया था।

*कदाचित् वीर्यराम का प्राकृतिक रूप विज्जराय या विजयराय हो गया हो।

पृथिवीराज-विजय में इन दोनों भाइयों के पिता का नाम वाक्पतिराज द्वितीय लिखा है जो गोविंदराज (संख्या १९) का पुत्र और उत्तराधिकारी था। इस दशा में विग्रहराज संख्या १७ के आगे वंशावली का क्रम इस तरह रखना उचित होगा—

(१८) गुंददेव या गोविंदराज।

(१९) दुर्लभराज या वल्लभराज।

(२०) वाक्पतिराज।

(२१) राम या वीर्यराम।

(२२) चामुंड

वीर्यराम ने भोज पर चढ़ाई की थी, एवं उसके हाथ से युद्ध में मारा गया।

चामुंड—(काव्य में १८वाँ) बिजौलिया के लेख में भी यही नाम है। इसका शासन-काल अत्यल्प था।

(२३) दुर्लभराज—(काव्य की संख्या १९) प्रबंधचतुर्विंशति में इसका दूसरा नाम दुःषल लिखा है और काव्य के अनुसार यह दुर्लभराज का उत्तराधिकारी था। इसके विरुद्ध बिजौलिया के लेख में चामुंड के उत्तराधिकारी क्रम से सिंहट और दूषल लिखे हैं। सिंहट का संस्कृत नाम सिंहभट्ट होगा और यह दुर्लभ का विरुद या उसकी उपाधि होना संभव है, क्योंकि वह एक अत्यंत प्रतापी राजा था।

पृथिवीराज-विजय के अनुसार दुर्लभराज ने मालवापति उदयन को घोड़ों से सहायता देकर गुर्जरपति कर्ण को हराया था। (किंतु

प्रबंधचतुर्विंशति के अनुसार दु:षल कर्ण को कैद करके अजमेर लाया था एवं उससे उसने मठा बिकवाया था।) उदयादित्य का शासन-काल सन् १०५९ से १०८६ ई० तक माना जाता है। उसे अपने शासन के आरंभ में ही कलचुरी-नरेश कर्णदेव तथा गुर्जरपति भीम से लड़ना पड़ा था, क्योंकि ये दोनों ही भोज के अंतिम समय में मालवा पर संयुक्त आक्रमण कर चुके थे एवं उदयादित्य ने मालवा राज्य को छिन्न-भिन्न दशा में ही प्राप्त किया था। शायद इस अवसर पर भी उसे दुर्लभराज से सहायता मिली थी। भीमदेव की मृत्यु के पश्चात् उदयादित्य ने गुजरात से बदला लेने के लिये भीम के उत्तराधिकारी कर्ण पर चढ़ाई की होगी। यह घटना सन् १०८६ तक कभी होनी संभव है।

दुर्लभ का दूसरा युद्ध शहाबउद्दीन से हुआ था जिसमें वह कैद किया गया था। इस पर विग्रहराज के प्रसंग में आगे, संख्या २५ में, प्रकाश डाला गया है।

संभव है कि दुर्लभराज का शासन सन् १०८६ से कुछ पहिले या कुछ पीछे समाप्त हो गया हो।

(२४) दु:षल—हम्मीर-महाकाव्य में जिस कर्णदेव का उल्लेख उसके प्रसंग में किया गया है वह कलचुरी था, क्योंकि उसके विषय में लिखा है कि उसे अपने शासन के अंतिम काल में घोर आपत्तियों का सामना करना पड़ा था। कर्णदेव का शासन-समय सन् १०७० तक माना जाता है (Early History of India, P. 407)। लगभग इसी समय कीर्तिवर्मा चंदेले ने उसे परास्त किया था (विक्रमांकदेवचरित, सर्ग १८ श्लोक ९३)।

शायद अपने पड़ोसी मित्र मालवा की रक्षा एवं उसके अपमान का बदला लेने के लिये दु:षल ने कर्ण पर यह चढ़ाई की थी। निस्संदेह उदयादित्य ने अपनी बुद्धिमत्ता और योग्यता से अपने

राज्य की रक्षा ही नहीं कर ली थी किंतु अपने पुराने शत्रुओं को अपना मित्र और सहायक बना लिया था। भोज ने जिस दुर्लभराज के पूर्वज वीर्यराम को लड़ाई में मार डाला था वही उसका सहायक बनकर गुर्जरपति कर्ण से लड़ चुका था और भोज के शत्रु चौलूक्य सोमेश्वर प्रथम के पुत्र विक्रमादित्य ने उसकी सहायता करके उसे धार का राज्य प्राप्त कराया था (विक्रमांकदेवचरित)।

गुर्जरपति कर्ण पर उदयादित्य का आक्रमण सोमेश्वर की मृत्यु के पश्चात् होना अधिक संभव है। उसकी मृत्यु सन् १०६८ ई० में हुई थी, अतः इस सहायता का प्रसंग सन् १०६० की चढ़ाई से पीछे ७-८ वर्ष के अवांतर में आया होगा, क्योंकि भीमदेव की मृत्यु सन् १०६३ में हुई थी अतः उक्त घटना सन् १०६३ और १०६८ के मध्य में हुई होगी और उस समय चौहान-वंश में दुर्लभराज राज्य करता होगा।

किंतु दुःषल ने जो सहायता धार की रक्षा के लिये दी थी उसे मालवापति की प्रत्यक्ष सहायता नहीं कह सकते। उसने मालवा के पुराने वैरी कर्णदेव कलचुरी को उसके अंतिम समय में, सन् १०७० के निकट, हराकर कैद किया था। इस प्रकार दुःषल का समय भी सन् १०७० के निकट होना चाहिए और उसके पूर्वज दुर्लभ का सन् १०६३ से पीछे कर्ण सोलंकी तथा उदयादित्य के समय में विद्यमान होना आवश्यक है। अतः यह समय अधिक से अधिक १०६९ तक हो सकता है।

(१५) विश्वलदेव—(हम्मीर-महाकाव्य में २१ वें क्रम पर) महाकाव्य में वर्णित शहाबउद्दीन कौन था जिसे दुर्लभराज ने हराया एवं विश्वलदेव ने मारकर मालवा की रक्षा की थी।

विंसेंट स्मिथ के लेखानुसार मालवा में परमारों के पश्चात् तोमर-वंश का और उसके पीछे चौहान-वंश का अधिकार हुआ था, किंतु

फिर सन् १४०१ से यहाँ सदा के लिये मुसलमानों का अधिकार हो गया (पृष्ठ ४११—४१२)। यही बात आईन-अकबरी में भी लिखी है तथा उसमें तोमरों का शासन-काल १४२ वर्ष और चौहानों का ७७ वर्ष लिखा है (ग्लाडविन का अँगरेजी अनुवाद सन् १८९८ का संस्करण पृष्ठ ३३३ से ३४० तक)। किंतु आईन-अकबरी के अनुसार ७७ वर्ष चौहानों का राज्य रहने के पीछे यद्यपि मुसलमानों का अधिकार मालवा पर हो गया था, तो भी चौहानों ने फिर उस पर अधिकार कर लिया था और सबसे पिछली दफा जब मालवा को चौहान अपने अधिकार में न कर सके तो प्रथम चौहान-वंश के अंतिम नरेश से २४४ वर्ष पीछे मुसलमान मालवा को विजय कर सके थे। इन २४४ वर्षों में ४६ वर्ष मुसलमानी शासन के और १९८ वर्ष चौहान राजाओं के शासन के लिखे हैं। इस प्रकार सन् १४०१ में से २४४ और ७७ वर्ष घटाकर वह वर्ष जाना जाता है जब मालवा पर तोमरों का अधिकार आरंभ होता था—

```
१४०१
 २४४
————
११५७
  ७७
————
१०८०
```

हम्मीर-महाकाव्य के अनुसार आईन-अकबरी में चौहानों द्वारा मालवा की म्लेच्छों से रक्षा करने का प्रसंग इस प्रकार लिखा है—

"भोज के पश्चात् उसका पुत्र जयचंद उत्तराधिकारी हुआ, फिर परमार-वंश में कोई योग्य राजकुमार न होने के कारण मालवा का राज्य तोमर-वंश में चला गया। इस तोमर-वंश का संस्थापक चैतपाल या जयतपाल था। इस वंश का राज्य १४२ वर्ष रहा।

अंतिम तोमर कुमारपाल से राज्य चौहानों ने इस प्रकार लिया कि माल-देव चौहान के समकालीन कुमारपाल तोमर पर शेखशाह ने गजनी से आकर आक्रमण किया और मालवा पर अधिकार कर बैठा। वह वृद्ध था और जब ७० वर्ष की आयु में मर गया तो अलाउद्दीन नाम का एक बालक मालवा की गद्दी पर बैठा। धर्मराज सूद ने उसे निकाल दिया, किंतु युवा होने पर उसने धर्मराज पर चढ़ाई की और उसे मार डाला। मानिकदेव चौहान के वंशज जयतपाल चौहान ने, जो अलाउद्दीन का कर्मचारी था, उसके लड़के कमालउद्दीन को मार डाला और इस प्रकार मालवा पर चौहान अधिकृत हो गए।

चौहान-वंश का अंतिम राजा तपरसेन (त्रिभुवनसेन ?) था। इसके समय में एक अफगान कर्मचारी ने विद्रोह करके राजा को जंगल में मृगया के समय मार डाला (अब तक चौहानों को मालवा में राज्य करते ७७ वर्ष बीत चुके थे।) और वह स्वयं जलालउद्दीन के नाम से राज्याधिकारी बन बैठा। इस अवांतर में तपरसेन का लड़का खड़कसेन भागकर कामरूप चला गया और वहाँ के राजा को प्रसन्न करके उसकी पुत्री से विवाह कर लिया तथा वहीं रहने लगा। इस राजा के निःसंतान मर जाने पर खड़कसेन स्वयं वहाँ का राजा बन गया। उस समय जलालउद्दीन का लड़का आलमशाह मालवा में राज्य कर रहा था। खड़कसेन ने उस पर चढ़ाई करके अपने बाप का बदला लिया और एक बार फिर मालवा पर हिंदुओं का अधिकार हो गया। सबसे पिछला हिंदू मालवा-पति शक्तसिंह था जिसे दक्षिण से बहादुरशाह ने चढ़ाई करके मार डाला था एवं मालवा को दिल्ली के सुल्तान शहाबउद्दीन के अर्थात् उसके वंशज गुलामों या दिल्ली राज्य के अधीन कर दिया।

किंतु गयासउद्दीन बलबन के समय से सुल्तान मुहम्मद तुगलक (जो फीरोज का लड़का था) के समय तक दिल्ली में अपाधापी

मचती रही थी जिसका फल यह हुआ कि जफरखाँ गुजरात में, खिज्रखाँ मुल्तान में, ख्वाजा सरूर जौनपुर में और दिलावरखाँ मालवा में स्वतंत्र हो बैठे।

इन चारों स्वतंत्र मुसलमानी रियासतों की नींव सन् १३९० के पीछे पड़ी थी, अस्तु।

आईन-अकबरी का उक्त लेख अधिक स्पष्ट नहीं है; किंतु मानिकदेव चौहान के वंशज जयतपाल द्वारा मालवा के मुसलमानों के अधिकार से हिंदू-अधिकार में आने की घटना से, जिसका उल्लेख हम्मीर-महाकाव्य में पाया जाता है, अवश्य प्रकाश पड़ता है। महाकाव्य के अनुसार विश्वल ने मालवे की रक्षा म्लेच्छों से की थी, किंतु आईन-अकबरी में विश्वल के स्थान पर जयतपाल और शहाबउद्दीन के स्थान पर कमालउद्दीन नाम पाए जाते हैं। विश्वल भी काव्य के अनुसार चौहान तथा वप्रराज का वंशज था, जिसका दूसरा नाम मानिकराय भी कहा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि विश्वल ने मालवा को जीतकर अपने किसी संबंधी को दे दिया था जिसका नाम जयतपाल था और आईन-अकबरी में उसी का उल्लेख किया गया है।

जैसा कि अभी ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, यह घटना १०८० ई० के लगभग की है जब गजनी में इब्राहिम राज्य कर रहा था। यह शेखशाह उसी का कोई सेनापति होगा जिसे अब्बुलफजल ने कमालउद्दीन और महाकाव्य के लेखक ने शहाबउद्दीन लिखा है।

एक बात और ध्यान में रखनी आवश्यक है। मालवा राज्य के दो भाग थे—(१) पूर्वी भाग जिसकी राजधानी धार थी और (२) पश्चिमी भाग जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। चौहानों ने धारवाले राज्य पर अधिकार किया था और तोमरों ने उज्जयिनीवाली

शाखा पर अर्थात् संपूर्ण मालवा पर किसी का भी अधिकार नहीं था, किंतु किसी भाग पर परमार भी राज्य करते रहे थे। यही कारण है कि परमार राजाओं के शिलालेख और ताम्रपत्र आदि भी निरंतर पाए जाते हैं। यह दूसरी बात है कि कभी प्रधानता तोमरों की होती थी, कभी चौहानों की और कभी परमारों की।

इसके विषय में प्रबंधचतुर्विंशतिकार ने लिखा है कि यह स्त्री-लंपट था तथा एक ब्राह्मणी के साथ बलात्कार करने के कारण उसके शाप से कुष्ठी होकर मरा था। किंतु हम्मीर-महाकाव्य के लेखक ने इसे 'अनीति-लता-वितान-कुठार-कल्प' (दुराचार-वृत्त की जड़ काटनेवाला फरसा) कहा है, अतः राजशेखर का कथन ठीक नहीं जान पड़ता।

बिजौलिया के शिलालेख में इसे राजदेवी का पति लिखा है। यही बात बीसलदेवरासो से भी सिद्ध होती है। किंतु न तो वह ग्रंथ ऐतिहासिक महत्त्व का है और न उसका नायक यह बीसलदेव है। इसका पुत्र पृथिवीराज था जिसकी स्त्री रासलदेवी थी।

(२६) पृथिवीराज प्रथम—(काव्य में २२वें क्रम पर) इसने बलूगी-शाह का हाथ तोड़ा था (प्रबंधचतुर्विंशति)। कहीं कहीं इसकी रानी का नाम रासल्लदेवी भी लिखा है। अभयदेव सूरि मलधारी के उपदेश से इसने रणस्तंभपुर में एक जैन मंदिर पर सुवर्ण कलश चढ़ाया था।

(२७) अल्हणदेव—काव्य के अतिरिक्त यह नाम प्रबंध-चतुर्विंशति में भी पाया जाता है, किंतु इसे संख्या २८ से मिला दिया है।

बिजौलिया के शिलालेख में इसका नाम जयदेव और इसकी रानी का नाम सोमल्लदेवी लिखा है। इसने चच्चिग, सिंधुल और यशोराज को जीता था। यशोराज का एक शिलालेख, संवत् ११८४ का, सहसपुर में प्राप्त हो चुका है (Archeo. Survey of India, Vol. XVII.)।

पृथिवीराज-विजय में इसके स्थान पर अजयराज या सल्हण लिखा है। बिजौलिया के शिलालेख में भी इसका अपर नाम सोलण दिया है। पृथिवीराज-विजय में इसे अजमेर का बसानेवाला और इसकी स्त्री का नाम सोमलेखा लिखा है। अजमेर बसाने का कदाचित् यही अभिप्राय है कि उसने इस नगर के निकट किसी पहाड़ी पर कोई दुर्ग बनवाया होगा, कम से कम काव्य की संस्कृत का तो यही अर्थ है (एवंविधावजयमेरुगिरौ प्रतिष्ठां...), किंतु काव्य का टीकाकार जोनराज इसका अर्थ यही लेता है कि उसने अजमेर नगर बसाया था। उसका यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता[1]।

उसी काव्य में यह भी कहा है कि उसने मालवा के सल्हण को हराया था। यदि यह सल्हण भी उसी नाम का अपर रूप है जिसका पृथिवीराज-विजय में अजयराज है, तो मालवा का अजयराज अजयवर्मा होगा और उसका समय सन् ११४३ (संवत् १२००) से पहिले होना चाहिए। इस दशा में अल्हणदेव का राज्य काफी लंबे काल तक रहा होगा।

(२८) आनलदेव या अर्णोराज (आना)—(काव्य का क्रम २४) पृथिवीराज-विजय में लिखा है कि यह मारवाड़िन सुधवा का पुत्र था। इसके पिता अल्हणदेव की दूसरी रानी सिद्धराज जयसिंह सोलंकी की पुत्री कांचनदेवी थी। आनलदेव के पुत्र जगदेव और बीसलदेव थे। दूसरी रानी से एक पुत्र सोमेश्वर उत्पन्न हुआ था[2]।

गुजरात की ऐतिहासिक आख्यायिकाओं में इस लड़ाई का एक और ही कारण, भिन्न भिन्न प्रकार से, बताया जाता है; जैसे— इसके पुत्र जगदेव ने इसे मार डाला था।

---

(१) [यह कथन ही ठीक है।—सं०]

(२) [पृथिवीराज-विजय में ऐसा नहीं लिखा है।—सं०]

(२९) जगदेव—पृथिवीराज-विजय में इसका नाम नहीं आता, किंतु इसके द्वारा की हुई पितृ-हत्या की घटना का उल्लेख उसमें किया गया है। बिजौलिया के लेख में भी इसका नाम छोड़ दिया गया है। हम्मीर-महाकाव्य में इसे राजा होना कदाचित् इस कारण लिखा गया है कि इसका शासन-काल १ वर्ष या इससे भी कम रहा होगा।

(३०) विग्रहराज (चतुर्थ)—हम्मीर-महाकाव्य में इसे २६वें क्रम पर विश्वल के नाम से उल्लिखित किया है। इसका शासन-काल सन् ११५१ या ११५२ से आरंभ हुआ था। ललित-विग्रहराज नाटक के लेखक कवि सोमेश्वर ने इसका नाम सदा के लिये अमर कर दिया है। स्वयं इसने भी हरकेलि नामक एक नाटक रचा था। ये दोनों ग्रंथ आजकल शिलाओं पर लिखे खंडित रूप में, अजमेर के अजायबघर में, रखे हैं।

ललित-विग्रहराज नाटक में उन युद्धों का वर्णन है जो इसने मुसलमानों से किए थे। इस नाटक से ज्ञात होता है कि उसकी सेना में १००० हाथी, १ लाख सवार और १० लाख पैदल थे। विग्रहराज ने स्वयं अपनी विजयों और वसीयत का उल्लेख अशोक की धर्माज्ञावाले दिल्ली के स्तंभ पर इस प्रकार कराया था—

"ॐ संवत् १२२० वैशाख शुति १५ शाकंभरी भूपति श्रीमदाव्नलदेवात्मजश्रीमद्वीसलदेवस्य—

आविंध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगा-

दुद्ग्रीवेषु प्रहर्ता नृपतिषु विनमत्कंधरेषु प्रसन्नः।

आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभि-

र्देवः शाकंभरींद्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः॥१॥

ब्रूते संप्रति चाहमानतिलकः शाकंभरीभूपतिः

श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मजः

अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः
शेषस्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः ॥२॥

बिजौलिया के लेख से यह भी ज्ञात होता है कि नाडौल और पाली को भी इसने नष्ट किया था तथा हाँसी और दिल्ली पर विजय प्राप्त करके अधिकार किया था।

इसके अंतिम लेख संवत् १२२० (सन् ११६३) के प्राप्त हुए हैं। संभव है कि दो-चार वर्ष यह और भी जीवित रहा हो, किंतु सामान्यतः इसका समय संवत् १२०७ से १२२० तक ही माना जाता है।

उस समय गजनी-वंश में खुसरू गजनी से भागकर लाहौर आया था जो सन् ११६० में मर गया। उसका लड़का खुसरू मलिक पंजाब का शासक हुआ। बीसलदेव ने पश्चिमी पंजाब को छोड़कर शेष सब उत्तरी भारत विजय किया था, अतः बीसलदेव ने अपनी संतान को पंजाब से ही मुसलमानों को निकाल भगाने की वसीयत की थी।

(३१ और ३२) जयपाल और श्री गंगदेव—काव्य में ये दोनों बीसलदेव के क्रमशः उत्तराधिकारी लिखे हैं, किंतु बिजौलिया के लेख और पृथिवीराज-विजय में ये दोनों नाम नहीं आते[1]। प्रबंधचतुर्विंशति में केवल अपर गांगेय एक नाम आता है जो श्री गंगदेव का ही दूसरा नाम जान पड़ता है। इससे अनुमान होता है कि जयपाल का शासन भी अत्यल्प रहा था।

(३३) पृथ्वीभट्ट—यह नाम काव्य में नहीं पाया जाता। इसके अन्य नाम पांथदेव, पेथड़देव आदि भी मिलते हैं। पृथिवीराज-विजय में भी इसका उल्लेख है। यह पृथिवीराज द्वितीय था जिसे हम्मीर-महाकाव्य के कर्ता ने किसी भ्रम से छोड़ दिया है। इसके लेख संवत् १२२४ से १२२६ तक के पाए जाते हैं। इसके मामा का नाम कर्ण और इसकी रानी का नाम सुहवदेवी था।

(१) [पृथिवीराज-विजय में अपर गांगेय नाम है।—सं०]

(३४) सोमेश्वर—यह अर्णोराज का पुत्र था। अर्णोराज की मृत्यु संवत् १२०७ में हुई थी और संवत् १२२६ तक पृथिवीराज द्वितीय के लेख प्राप्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि लगभग १८ या १९ वर्ष के स्वल्प काल में जगदेव, विग्रहराज, जयपाल, श्री गंग और पृथिवीराज द्वितीय—कुल ५ राजा हुए। किंतु इनमें ऐतिहासिक महत्त्व के केवल दो थे—विग्रहराज और पृथिवीराज।

सोमेश्वर के लेख संवत् १२२६ से १२३४ तक के प्राप्त होते हैं, किंतु इसकी मृत्यु सन् १२३६ में हुई थी। इसकी रानी संभवतः नरसिंहदेव चेदिराज की कन्या थी, जो संवत् १२१६ में वर्तमान था।

पृथिवीराज-विजय में लिखा है कि सोमेश्वर विदेशों में रहता था। उसे उसके नाना सिद्धराज जयसिंह ने शिक्षा दी थी। एक बार वह चेदि की राजधानी त्रिपुरी में गया था, तभी उसके साथ चेदिराज ने अपनी पुत्री का विवाह कर दिया।

हम्मीर-महाकाव्य से कर्पूरदेवी के विषय में कुछ भी विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होता, किंतु पृथिवीराज-विजय से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसी ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि यह कुमारपाल के साथ कोंकणपति से लड़ने गया था एवं उसको इसने मारा था।

बिजौलिया के लेख में इसका विरुद 'प्रताप-लंकेश्वर' दिया है।

तारीख फिरिश्ता में लिखा है कि गजनी के अंतिम वंशधर खुसरू और मलिक खुसरू को अजमेर और दिल्ली के राजा चैन नहीं लेने देते थे। ये राजा निःसंदेह विग्रहराज, पृथिवीराज द्वितीय और सोमेश्वर ही थे। पृथिवीराज ने मुसलमानों को परास्त कर हाँसी के किले में एक महल बनाया था और उससे भी पहले बीसलदेव ने दिल्ली और हाँसी पर अधिकार करके वहाँ चौहान-वंश की ध्वजा स्थापित की थी।

(३५) पृथिवीराज (तृतीय)—काव्य में इसका क्रम ३० वाँ है। अपने पिता सोमेश्वर की मृत्यु के समय इसकी आयु अधिक नहीं थी; इसलिये इसकी माता, अपने मंत्री कादंब की सम्मति से, राज-प्रबंध करने लगी थी।

पृथिवीराज तृतीय इतिहास में रायपिथौरा के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। मुसलमान ऐतिहासिकों ने शहाबउद्दीन मुहम्मद गोरी के साथ इनके दो युद्धों का उल्लेख किया है, किंतु भारत के हिंदू इतिहासकार उसके पृथिवीराज के द्वारा सात बार बंदी किए जाने का उल्लेख करते हैं। पृथिवीराजरासो की तरह हम्मीर-महाकाव्य के कथन को एकदम अविश्वसनीय कहकर नहीं ठुकराया जा सकता। यद्यपि उसके इन सात आक्रमणों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता तो भी जिस प्रकार महमूद गजनवी ने सन १००० से १०११-१२ तक केवल १० या ११ वर्ष में भारत पर ६ आक्रमण किए थे उसी तरह पृथिवीराज को भी सन् ११८६ से ११९२ तक गोरी की सेना को सात बार भगा देना संभव है। गोरी को कैद करना काव्यमय अतिशयोक्ति तथा ऐतिहासिक सत्य होना दोनों बातें संभव हैं।

हम्मीर-महाकाव्य के अनुसार पृथिवीराज और शहाबउद्दीन की पहली लड़ाई तब हुई थी जब वह मुल्तान को अपनी राजधानी बना चुका था, अत: यह घटना सन् ५७२ हिजरी (सन् ११७६-७७ ई०) की या उससे कुछ पीछे की है (फिरिश्ता)। इसके पीछे उसने बाजा (बज्जि अथवा ब्रजनि) लोगों का देश विजय किया था जो हिंदू या बौद्ध थे (फिरिश्ता)। दो वर्ष पश्चात् उसने गुजरात पर चढ़ाई की और भीमदेव से बुरी तरह हारकर भागा था (फिरिश्ता)। सन् ५७५ हि० (११७९ ई०) में उसने पेशावर पर अधिकार किया। स्पष्ट ही यह स्थान भी उस समय हिंदुओं के अधिकार में था (फिरिश्ता)।

सन ५७६ हि० में गजनवी वंश के खुसरू मलिक को हराया और सन् ५७७ हि० में सिंधु देश पर चढ़ाई करके देवल बंदर तक जा पहुँचा था। सन् ५८० हि० में लाहौर पर दूसरी चढ़ाई करके स्यालकोट के किले पर अधिकार किया, किंतु खुसरू मलिक ने हिंदू राजाओं और गक्खरों की सहायता से इसे फिर लौटा लिया। अंत में सन् ५८२ हि० (११८६ ई०) में लाहौर के गजनवी वंश का अंत करके इस स्थान को भी मुल्तान प्रांत के अधीन कर दिया (फिरिश्ता)।

यहाँ गक्खरों के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है। कक्कर, खंखर या गक्कर, गक्खर अथवा कक्कड़ या गकड़ जिन लोगों को मुसलमानों ने कहा है, हम्मीर-महाकाव्य के कर्ता ने उन्हें षर्प्पर या खर्प्पर लिखा है (सर्ग ४–१०६) एवं जिन भिन्न भिन्न हिंदू राजाओं को साथ लेकर गोपालचंद्र का पुत्र श्रीचंद्र पृथिवीराज के पास आया था उनमें ये खर्पर भी होंगे। ये लोग बड़े वीर, लड़ाके और स्वतंत्रता-प्रिय थे। जलालउद्दीन खिलजी के समय तक ये मुसलमान नहीं हुए थे, तथा उस समय तक उनके सरदारों के नाम हिंदू ढंग के थे जिन्हें मुसलमान इतिहासकारों ने गलत लिखा है, जैसे साल (शल्य) चलदी (शिलादित्य) आदि। यह विशुद्ध क्षत्रिय थे। संभव है कि 'कक्कड़' कहलानेवाले खत्रियों से इनका कुछ संबंध हो, अस्तु।

फिरिश्ता ने सन् ५८७ हि० (११६१ ई०) में भारत-विजय की आकांक्षा से शहाबउद्दीन का पृथिवीराज पर आक्रमण करने का उल्लेख किया है। यह लड़ाई सरस्वती के मैदान में हुई थी, जिसमें शहाबउद्दीन एक घातक चोट खाकर लड़ाई के मैदान से भागा था। दूसरे वर्ष, फिरिश्ता के ही अनुसार, उसने पृथिवीराज पर दूसरा आक्रमण किया। यही पृथिवीराज-गोरी का अंतिम युद्ध माना जाता है। इसका फल क्या हुआ, इस विषय में इतिहास-कारों के लेख परस्पर नहीं मिलते—(१) वह लड़ाई में कैद किया

गया और मार डाला गया (फिरिश्ता और तबकाते-नासिरी)। (२) वह कैद हुआ और उसकी जान बखशी गई...किंतु उसे मुसलमानों से दिली नफरत थी और मालूम हुआ कि वह उनके खिलाफ कुछ बंदिश करता है इसलिये उसकी मौत का हुक्म जारी हुआ और तलवार से उसका सिर काट डाला गया (ताजुल-मआसिर)। (३) वह एक मास तक बंदी रहा और अनशन करता रहा। उसके मित्र उदयादित्य ने उसे छुड़ाने के लिये शत्रु का घेरा डाला। एक मास तक लड़ाई होती रही। इसी बीच में सुल्तान के किसी मुसलमान सरदार ने सुल्तान से पृथिवीराज को छोड़ने की सिफारिश की। शहाबउद्दीन ने इससे चिढ़कर उसे किले में कैद कर दिया जहाँ वह अनशन के कारण मर गया (हम्मीर-महाकाव्य)। (४) पृथिवीराज बंदी होकर गजनी लाया गया जहाँ चंद बरदाई ने पहुँचकर शब्दवेधी बाण के द्वारा राजसभा में ही पृथिवीराज के द्वारा गोरी का वध कराकर पृथिवीराज को मारा और फिर वह स्वयं आत्महत्या करके मर गया। पृथिवीराज गजनी ले जाते समय मार्ग में अंधा कर दिया गया था (पृथिवीराजरासो)। (५) वह कैद हो गया (जामेउल-हिकायात)। इन पाँचों कथनों में से चौथे को तो ऐतिहासिक परीक्षण से बाहर समझकर हम छोड़ते हैं। दूसरा और तीसरा परस्पर अधिक समानता रखते हैं तथा जामेउल-हिकायात का कथन यद्यपि अधूरा अवश्य है, किंतु इन दोनों से विरुद्ध कुछ भी नहीं है। किंतु फिरिश्ता और तबकाते-नासिरी के विवरण इनसे विपरीत जाते हैं। ये दोनों ही पुस्तकें उक्त तीनों पुस्तकों से नवीन हैं। ताजुल-मआसिर का लेखक कुतुबउद्दीन ऐबक का दर्बारी था और उसने अपनी पुस्तक सन् ६०७—६१४ हि० में लिखी थी। जामेउल-हिकायात इससे भी पहले सन् ६०७ हि० में लिखी गई थी। तबकाते-नासिरी के लेखक का अभिप्राय यदि यह नहीं है कि पिथौरा तुरंत युद्धस्थल में मार डाला

गया था तो वह भी इन दोनों के विरुद्ध नहीं जाता। इसका रचना-काल भी जामेउल हिकायात के समान है, किंतु फिरिश्ता की रचना बहुत पश्चात् की है।

तो भी इन सब मुसलमानी इतिहासकारों में से कोई भी लेखक उन बंदिशों का पता नहीं देता जिनका संकेत सबसे पुराने इतिहास जामेउल-हिकायात के लेखक ने किया है, किंतु हम्मीर-महाकाव्य इस गुप्त भेद को प्रकट करता है। मुसलमान इतिहासकारों की एक गुत्थी को स्पष्ट कर देता है।

विवेचना

(३६) हम्मीर-महाकाव्य में पृथिवीराज के पश्चात् ३१ वें क्रम पर 'हरराज' का नाम लिखा है। मुसलमानों द्वारा लिखित इतिहास-ग्रंथों में कहीं इसे हीराज, कहीं हेमराज और कहीं हरीराज भी लिखा है। तारीख फिरिश्ता में इसे पृथिवीराज का रिश्तेदार बताया गया है, किंतु ताजुल-मआसिर में पृथिवीराज का भाई लिखा है। यह अजमेर से रणथंभौर पर चढ़ाई करके अपने भतीजे गोविंदराज (क्रम-संख्या ३७) से राज्य छीनने एवं दिल्ली को मुसलमानों के अधिकार से मुक्त करने के लिये चतर या जिहतर (अथवा जहतराय—फिरिश्ता) के अधीन सेना भेज चुका था कि कुतुबुद्दीन ने भी उस पर चढ़ाई कर दी एवं उसे भागना पड़ा। इसके पीछे वह जलकर मर गया।

मुसलमान इतिहासकारों के उक्त विवरण में फिर कुछ गड़बड़ी जान पड़ती है। कुतुबुद्दीन से परास्त हो जाने पर जब हरिराज अग्नि में जलकर मर गया तब उसके संगी-साथी रणथंभौर में शरण लेने गए थे न कि वहाँ का राज्य गोविंदराज से छीनने के लिये। स्वयं गोविंदराज को शायद किवामुल्मुल्क रुक्नउद्दीन ने घेर रखा था, अतः उसे मारकर भगाने में भी इन नवागतों से गोविंदराज को सहायता मिली थी।

(३७) गोविंदराज—(महाकाव्य की क्रम-संख्या ३२ पर) ।

(३८) वाल्हणदेव—यह सन् १२१५ में विद्यमान था एवं अपने आपको अल्तमश का सामंत मानता था (संवत् १२७२ की ज्येष्ठ कृ० ११ का मंगलाणा का शिलालेख) । इससे सिद्ध होता है कि गोविंदराज के समय से जो मित्रता मुसलमानों से चौहानों की हुई थी वह उस समय तक बनी हुई थी ।

(३९) प्रह्लाददेव—(काव्य का क्रम ३४ वाँ), (४०) वीर-नारायण और (४१) वाग्भट्ट ।

वीरनारायण के प्रसंग में काव्य में जलालउद्दीन का उल्लेख पाया जाता है । कोई कोई लेखक इस नाम को काव्य के रचयिता की भूल बतलाते हैं । प्रबंधचतुर्विंशति के मतानुसार जिससे इसका युद्ध हुआ था वह शम्सउद्दीन था तथा इसका उपनाम बावरिया था । किंतु 'जलालउद्दीन' नाम में काव्य के लेखक की कुछ भी भूल नहीं है, प्रत्युत इस लेख से तो काव्य का ऐतिहासिक गौरव और भी अधिक हो जाता है ।

यह ठीक है कि शम्सउद्दीन अल्तमश के शासन-काल में सन् १२२६ ई० (सन् ६२३ हि०) में भी रणथंभौर पर एक चढ़ाई होने का उल्लेख तबकाते-नासिरी और फिरिश्ता दोनों ने किया है तथा ८ वर्ष पीछे उसका मालवा पर अधिकार कर लेने का उल्लेख भी इन्हीं इतिहासों में पाया जाता है । उस समय काव्य के अनु-सार रणस्तंभपुर की दशा "शकतारकैः व्यानशे" थी । शम्सउद्दीन ने मालवा का कुछ प्रबंध किया हो सो ज्ञात नहीं होता क्योंकि इसके पश्चात् वह मुल्तान को जाते समय मार्ग में मर गया । फिर सुल्ताना रजिया गद्दी पर बैठी । किंतु इतिहास-ग्रंथों में इसके स्थान पर प्रायः इसके प्रेमपात्र और प्रधान जमालउद्दीन याकूत का उल्लेख किया है ।

इसका परिचय मुसलमानी इतिहास-ग्रंथों में इस प्रकार पाया जाता है—

'मलिक बक बइत के मरने पर मलिक कुतुबुद्दीन गोरी उसके स्थान पर नियत किया गया था और वह रणथंभौर पर भेजा गया। शम्सउद्दीन के मरने पर हिंदुओं ने उस दुर्ग को घेर लिया। यह घेरा पहले से ही हिंदुओं ने डाल रखा था। लेकिन कुतुबुद्दीन हसन ने वहाँ पहुँचकर मुसलमानों से किला खाली कराकर उसे नष्ट कर दिया और वह स्वयं दिल्ली को लौट गया। उसी समय इख्तयारउद्दीन इतिगीन कंचुकी बनाया गया और अमीर जमालउद्दीन याकूत मीर आखोर को अमात्य बनाया गया। (Elliot and Dowson, Vol. II, P. 334.)

यह मिन्हाज उस्सिराज के उद्धरण में लिखा गया है। आगे पृष्ठ ३३५ पर इसी उद्धरण के सिलसिले में इस नाम को अमीर जलालउद्दीन याकूत (The Abyssinian) कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि रजिया सुल्ताना के प्रेमपात्र जमालउद्दीन का ही दूसरा नाम जलालउद्दीन था।

जान पड़ता है कि शम्सउद्दीन के पीछे इस जलालउद्दीन ने मालवा में स्थित मुसलमान अधिकारी के पास वाग्भट्ट को मार डालने के लिये सूचना भेजी थी, जिसका उल्लेख महाकाव्य में पाया जाता है। किंतु वाग्भट्ट ने पहले से ही इस बात को ताड़ लिया और मालवा के मुसलमान अधिकारी को मारकर स्वयं वहाँ का स्वामी हो गया तथा वहाँ की धन-सेना आदि सामग्री से उसने रणस्तंभपुर के उद्धार के लिये भी चढ़ाई की। यह घटना १२३६ ई० के लगभग की है जब दिल्ली में रजिया और जलालउद्दीन तूनिया (या जमील-उद्दीन तूनिया) का शासन चल रहा था। इसने इस पर रणथंभौर को सेना भेजी, किंतु वह बीच से ही लौट आई क्योंकि इधर गक्खर (काव्य के षप्पर) और जाट आदि अलतूनिया के साथ चढ़ आए।

रजिया के शासन-काल को हिंदू लेखकों ने एक से अधिक स्थान पर जलालउद्दीन के नाम से लिखा है, किंतु आजकल के कितने ही लेखक इस प्रकार के लेखों को गलत और भ्रमपूर्ण मानते हैं। इसका कारण केवल यही है कि उस समय की मुसलमानी इतिहास-परंपरा को पूर्ण रूप से ध्यान में न रखकर यह मत प्रकट किया गया है। जैसे—

रोहतक जिले के बोहेर गाँव की पालम बावली के शिलालेख में गुलाम बादशाहों की वंशावली, जो नीचे उद्धृत की जाती है, में रजिया सुलताना के स्थान पर जलालउद्दीन का नाम पाया जाता है। "हरियाणक" (हरियाना) देश में पहले तोमर राज्य करते थे, उसके पश्चात् चौहान लोग और उसके पश्चात् नीचे लिखे शक राजा लोग—साहबदीन (शहाबउद्दीन गोरी), शुतुबदीन या षुतुबदीन (कुतुबुद्दीन ऐबक), असमसदीन (शम्सउद्दीन अल्तमश), पेरुज साहि (रुक्नउद्दीन फीरोजशाह प्रथम), जलालदीन (जलालउद्दीन), मौजदीन (मुईजउद्दीन बहराम), अलावदीन (अलाउद्दीन मसऊद), नसरदीन (नासिरउद्दीन महमूद), और गयासदीन (गयासउद्दीन)। (J. B. A. S., Vol. XLIII, P. 103.)

यही नहीं, किंतु रजिया बेगम के सिक्कों पर भी जलालउद्दीन नाम पाया जाता है जो इस प्रकार लिखा है—अस्सुल्तानुलआजम जलालुद्दुनिया वद्दीन मलिकातुलविंत अल्तमशउस्सुल्तान मिहरत अमीरउलमुमनीन। (Elliot and Dowson, Vol. II, P.,484.)

मुहणोत नैणसी की ख्यात के हिंदी-अनुवाद पृष्ठ १५३ (नागरी-प्रचारिणी सभा बनारस के संवत् १९८२ के संस्करण) पर लिखा है—"राव कीतू के पीछे उसका पुत्र रावल समरसी जालौर पाट बैठा। समरसी का अरिसिंह और अरसी का उदयसिंह रावल

हुआ। संवत् १२९८ माघ शुदि ५ को सुल्तान जलालउद्दीन ने जालौर पर चढ़ाई की पर यह हार खाकर भागा।"

इस प्रसंग में "जलालउद्दीन" के आगे कोष्ठक में 'फीरोज खिलजी' लिखना जलालउद्दीन को स्पष्ट करने के लिये अनुवादक का अपनी ओर से उद्योग जान पड़ता है। यदि यह कोष्ठक और उसके भीतर के शब्द न लिखे गए होते तो कदाचित् मुहणोत नैणसी के साथ न्याय होता। क्या संवत् १२९८ विक्रमीय माघ शु० ५ में (जो सन् १२४१ के दिसंबर के अंत में पड़ता है) फीरोज खिलजी का होना किसी इतिहास से भी संभव है? इस लेख से तो मुहणोत नैणसी की अप्रतिष्ठा और इतिहास से भी अनभिज्ञता ही प्रकट होती है। उक्त वर्ष हिजरी सन् का ६३९ था, जब बहरामशाह दिल्ली के तख्त पर था। यह जलालउद्दीन इस रजिया सुल्ताना के जलालउद्दीन से भी अलग एक और जलालउद्दीन है जो शम्सउद्दीन अल्तमश का लड़का था। किंतु उसके विषय में आगे लिखा जायगा।

फिरिश्ता ने इस जलालउद्दीन याकूत का नाम जमालउद्दीन लिखा है जो स्पष्ट ही जलालउद्दीन का दूसरा अथवा अशुद्ध रूप है। शेष वृत्तांत हम वहाँ से अनुवाद रूप में उद्धृत करते हैं—

"जमालउद्दीन याकूत हब्शी ने, जो मीर आखोर था, सुल्ताना रजिया की सेवा में अत्यंत निकटता प्राप्त कर ली और वह अमीर-उल्-उमरा हो गया। साथ ही उसे यह गौरव प्राप्त हुआ कि वह सुल्ताना रजिया को सवारी कराते समय उसकी बगल के नीचे अपना हाथ लगाकर सहारा देता था। इससे तमाम सरदार उससे खिन्न हो गए और सन् ६३७ हिजरी में उनमें से मलिक ऐजउद्दीन हाकिम लाहोर ने विद्रोह किया। सुल्ताना रजिया सज्जित सेना लेकर उससे लड़ने गई। समय देखकर ऐजउद्दीन ने विनय से काम लिया और उसे मुल्तान का इलाका भी दे दिया गया। उसी वर्ष मलिक अल्तूनिया

हाकिम भटिंडा ने, जो चहलकानी तुर्कों में से था, जमालउद्दीन याकूत के अभ्युदय से तंग आकर विद्रोह किया। सुल्ताना रजिया असंख्य सेना लेकर उधर गई। रास्ते में तुर्क सरदारों ने उसका साथ छोड़ दिया और जमालउद्दीन याकूत हब्शी को, जो अमीर-उल्-उमरा था, मार डाला तथा सुल्ताना को कैद करके भटिंडा भेज दिया। इसके पीछे मैाजउद्दीन बहरामशाह दिल्ली की गद्दी पर बिठाया गया।

"इसी बीच में अल्तूनिया सरदार ने रजिया से विवाह कर लिया और गक्खरों, जाटों तथा वहाँ के और जमींदारों को तथा कुछ उमरा को भी लेकर उन दोनों ने दिल्ली पर चढ़ाई की।" (तारीख फिरिश्ता उर्दू संस्करण, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सन् १९१४ ई० पृष्ठ १०५-६)।

हम्मीर-महाकाव्य में खर्परों की सहायता से वाग्भट्ट का रण-थंभौर पर अधिकार करने का उल्लेख किया गया है। संभव है कि वाग्भट्ट ने उनसे पार्ष्णिग्रह संधि कर ली हो और उसके अनुसार कार्य करने पर जलालउद्दीन की मृत्यु तथा रजिया का पतन हुआ हो। यह स्पष्ट है कि रणस्तंभपुर, जाट, खर्पर और आस-पास के हिंदू जमींदारों का एक समय में तुर्क सरदारों को हाथ में लेकर रजिया और जलालउद्दीन के विरुद्ध उठना एक संगठित राजनीतिक उत्थान की सूचना देता है, जिसका फल रणस्तंभपुर की स्वतंत्रता और गुलाम सुल्तानों की निर्बलता के रूप में प्रकट हुआ था।

किंतु तजियतुल असमार के लेखानुसार एक और जलालउद्दीन का पता लगता है। उसमें लिखा है कि मृत्यु के समय शम्सउद्दीन ने दो पुत्र और एक पुत्री छोड़ी थी, अर्थात् जलालउद्दीन, नासि-रुद्दीन तथा रजिया सुल्ताना। उसके गुलाम उलगखाँ, कतलगखाँ, संकईखाँ, एबकखताई, नूरबेग और मुरादबेग अजमी ने अपने पुराने मुरब्बी और स्वामी के उपकारों को भुलाकर जलालउद्दीन पर आक्रमण

किया और स्वयं स्वतंत्र हो जाना चाहा। सन् ६५१ हि० (१२५३ ई०) में जलालउद्दीन भागकर मंगूखाँ की शरण में गया। कुतलगखाँ और कनकेशखाँ ने भी लगभग उलगखाँ के जैसा आचरण किया और वे भी जलालउद्दीन के पीछे पीछे मंगूखाँ के दर्बार में गए। इस पर उलगखाँ ने जलालउद्दीन की बहन सुल्ताना रजिया को तख्त पर बिठाया और स्वयं शासक, मार्गदर्शक, मंत्री और अभिभावक बन गया। मंगूखाँ ने जलालउद्दीन के साथ अत्यंत दयालुता का बर्ताव किया तथा सालो बहादुर को आज्ञा भेजी कि सीमांत प्रदेशों की मुगल सेना जलालउद्दीन की सब प्रकार सहायता करे और उसे उसके पुरखों का राज्य दिला दे एवं उसके बाग को उसके शत्रु-रूपी कूड़े-करकट से साफ कर दे अर्थात् उसके उन गुलामों को, जो मक्खियों से शेर बन जाने की लोकोक्ति को सच्चा सिद्ध कर रहे हैं, नष्ट कर दे। जलालउद्दीन सालो बहादुर और उसकी सेना के साथ लौटकर अजमेर तक आया जो दिल्ली राज्य की सीमा पर है, किंतु मुगल इससे आगे न बढ़ सके और लौट गए। जलालउद्दीन ने वहाँ की पहाड़ियों और उन पहाड़ियों तथा सोदरा को जानेवाले मार्गों पर अधिकार कर लिया जो उस समय वास्तव में मुगलों के अधिकार में थे। इसके पीछे जलालउद्दीन को संपूर्ण के स्थान में कुछ भाग पर ही संतोष करना पड़ा (Elliot and Dowson, Vol. III, P. 37-38.)

कदाचित् सन् ६२३ हिजरी का आक्रमण उस जलालउद्दीन के सेनापतित्व में हुआ हो जो शम्सउद्दीन का पुत्र था और जिसका उल्लेख तजियतउल असार के आधार पर ऊपर किया गया है। तारीख फिरिश्ता के लेखक ने इनके विषय में लिखा है कि मौअजउद्दीन बहरामशाह के पश्चात् अलाउद्दीन मसऊद को, जो रुक्नउद्दीन का लड़का था, दिल्ली के तख्त पर इन्हीं दोनों ने बिठाया था एवं अला-

उद्दीन मसऊद ने इन्हें क्रम से कन्नौज और बहराइच के प्रांत जागीर में दिए थे। यद्यपि ये तीनों जीकाद सन् ६३९ हिजरी (ज्येष्ठ संवत् १३०५ = मई-जून सन् १२४१) में कैद से छूटे थे, किंतु अपने बाप के शासन-काल में ये कैद नहीं थे। सन् ६३९ हि० (माघ शु० ५ सं० १२९८ = सन् १२४१) में इसी ने जालौर पर चढ़ाई की थी जिसके विषय में राजपूताने में यह दोहा प्रसिद्ध है—

सुंदर सुर असुरह दले, जल पीयो ववणेह।
ऊदै नरपत काढ़ियो, तस नारी नयणेह॥

अर्थात् जालौर-नरेश चौहान उदयसिंह ने असुरों की स्त्रियों के नेत्रों के जल से अपनी प्यास बुझाई थी। किंतु मुसलमान इतिहास-लेखक जालौर की इस चढ़ाई का उल्लेख नहीं करते।

संक्षेप में, सुल्ताना रजिया के शासन-काल में कुतुबउद्दीन हसन को रणथंभौर इसलिये भेजा गया था कि वह वहाँ जाकर उन मुसलमानों को बचावे जिन्हें हिंदुओं ने अल्तमश के समय से ही घेर रखा था। सुल्ताना रजिया के सिक्कों पर 'जलाल-उद्दुनिया व दीन' नाम पाया जाता है। उसके अमात्य और प्रेमपात्र जमालउद्दीन का नाम जलालउद्दीन भी था। जलालउद्दीन की मृत्यु और रजिया के पतन में गक्खर तथा जाटों ने सहायता दी थी। ये सब बातें वाग्भट्ट की विजय के नाम से महाकाव्य में लिखी गई हैं, अतः अवश्य यह सन् १२३६ ई० की लड़ाई थी जो तीन मास में समाप्त हो गई थी।

वाग्भट्ट का शासन-काल

दूसरा प्रश्न वाग्भट्ट के विषय में यह है कि उसने कितने वर्ष राज्य किया। हम्मीर-महाकाव्य में इसका राजत्व-काल १२ वर्ष लिखा है, किंतु तबकाते-नासिरी के अनुसार उसने कम से कम १७-१८ वर्ष राज्य किया होगा।

उक्त ग्रंथ के अनुसार मुसलमानों ने दो बार रणथंभौर पर और विफल आक्रमण किया था। पहला सन् ६४६ हि० (१२४९ ई०) में जब उलगखाँ बहुत बड़ी सेना के साथ उधर भेजा गया था तथा जिलहिज्ज (चैत्र वैशाख सं० १३०६ = मार्च-अप्रैल सन् १२४९ ई०) में उसके साथी बहाउद्दीन के राजपूतों द्वारा मारे जाने पर वह लौट आया था। दूसरा पाँच वर्ष पीछे सन् ६५० हि० (सं० १३१० = १२५३ ई०) में उलगखाँ पुनर्वार विशेष रूप से तैयार होकर हिंदुस्तान के सबसे बड़े, प्रसिद्ध, वीर और कुलीन राजा बाहड़ से लड़ने गया। इस बार भी दुर्ग पर चौहानों का ही अधिकार रहा था, यद्यपि उलगखाँ लूट-मार करके चला आया था।

इस प्रकार महाकाव्य के अनुसार सन् १२३६ का तीन मास-वाला युद्ध अवश्य बाहड़ से लड़ा गया था और तबकाते-नासिरी के अनुसार सन् १२५३ वाला युद्ध भी उसी से लड़ा गया था। किंतु तबकाते-नासिरी के सन् १२५३ के लेख में हमें बाहड़ का नाम स्पष्ट अशुद्ध जान पड़ता है, क्योंकि मुसलमान इतिहास-लेखक इस प्रकार की नाम की भूलें सदैव करते रहे हैं। वस्तुतः यह युद्ध जैत्रसिंह के समय में हुआ था।

(४२) जैत्रसिंह—संवत् १३३९ विक्रमीय (सन् १२८१–८२) में इसने वानप्रस्थ लेकर अपने पुत्र हम्मीरदेव को राज्याभिषिक्त कर दिया।

इसके शासन-काल में तबकाते-नासिरी के अनुसार सन् १२५३ ई० वाली उलगखाँ की चढ़ाई हुई होगी। किंतु यह लेख इस कारण अशुद्ध जान पड़ता है कि अन्य इतिहासों में तथा स्वयं महा-काव्य में भी उसका उल्लेख नहीं पाया जाता। उस वर्ष में उलगखाँ को मुगलों से, जो संपूर्ण पंजाब तक फैले हुए थे, लड़ना पड़ रहा था।

(६) विविध विषय

(१) Annual Bibliography of Indian Archæology for the year 1929.

यह पुस्तक हमारे पास परिवर्तन में और समालोचनार्थ आई है। पुस्तक के नाम से ही उसका विषय ज्ञात हो जाता है। भारत पुरातत्त्व की शोध का हाल पुस्तकों और मासिक पत्रों में तथा अन्य प्रकार से जो कुछ प्रकाशित हुआ है उसका इसमें संक्षिप्त रूप से उल्लेख है। इसके अतिरिक्त फरदर इंडिया और सीलोन की शोध का भी उल्लेख है। इस रीति से यह पुस्तक पुरातत्त्वानुरागियों के बड़े काम की है। इसमें प्रथम लेख महत्त्व का है।

जावा द्वीप में हिंदू सभ्यता और बौद्ध धर्म ईसवी सन् के आरंभ के लगभग पहुँचे थे। पीछे से हिंदू धर्म भी पहुँचा। ये दोनों धर्म वहाँ लगभग १२-१३ सौ वर्ष तक प्रचलित रहे। पीछे से मुस्लिम धर्म वहाँ पहुँचा। वारावदर जावा में एक स्थान है जहाँ बहुत सी बौद्ध मूर्त्तियाँ और मंदिर हैं। ये कुछ शताब्दियों तक जंगल और मिट्टी से ढककर एक टीले से रह गए थे। उनका आधुनिक काल में पुनः आविष्कार होकर अब ये सुरक्षित हैं। इस वारावदर की मूर्त्तियाँ एक ऊँचे चबूतरे के कई खंडों में हैं। इनके बनने का काल सातवीं या आठवीं शताब्दि माना जाता है। नीचे के खंड की प्रत्येक मूर्त्ति-शिला में कुछ कुछ संस्कृत में लिखा हुआ है। इस प्रकार १५८ शिलाओं में ३२ लेख सन् १८९५ ई० तक पढ़े गए थे। ये लेख अथवा कुछ संकेत-सूचक शब्द किन किन वाक्यों के सूचनार्थ लिखे गए थे इसका कुछ पता न चलता था।

सन् १९२२ में नेपाल में एक ग्रंथ मिला जिसका नाम महाकर्म-विभंग है। इसकी तिथि संवत् ५३१ है और यह यदि नेपाल-संवत् है तो वह सन् १४११ ई० हुआ। इस ग्रंथ का तिब्बती भाषा का उल्था भी प्राप्त हुआ है। ये ग्रंथ पूर्व सूत्रों के आधार पर रचे गए हैं।

कर्म-विभंग का नाम कहीं कहीं कर्म-विभाग भी है। इसमें कर्म-विपाक का अर्थात् किस कर्म के करने से क्या फल होता है, खुलासा है। यह ग्रंथ बौद्ध समय में बहुत लोकप्रिय और प्रचलित था। वारावदर की उपर्युक्त मूर्त्तियाँ इस कर्म-विभंग की कथाओं के उदाहरण हैं और जो शब्द उन मूर्त्ति-शिलाओं पर लिखे गए हैं वे इन कर्म-विभंग के उस विषय के श्लोकों के प्रथम शब्द-मात्र हैं। जैसे एक शिला में एक स्त्री पुरुष मका के एक खेत में जा रहे हैं। इस शिला में "अभिध्या" (लालच, इच्छा) शब्द लिखा है और इसका संबंध लालच से है। कर्म-विभंग में "अभिध्या" से आरंभ होकर एक सूत्र इस प्रकार का है—

"अभिध्यया अकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन व्रीहियवगोधूमानां शस्यानां तुषपलालादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्य कर्मणो विपाकेन परप्रार्थनीया भोगा भवन्ति।

अर्थात् लालच, बुरा मार्ग है इसके कारण धान, यव, गेहूँ आदि में भूसा, छिलका और पुआल आदि अधिक होते हैं। उस कर्म-विपाक से भोजन दूसरों से माँगना पड़ता है। मूर्त्ति के दंपति अपने खेत की बिगड़ी फसल को देख रहे हैं और यह सोच रहे हैं कि अब हमें भीख माँगना पड़ेगा।

दूसरी मूर्त्ति-शिला में "व्यापाद" (द्वेष, नाश करना) शब्द लिखा है और एक जंगल में चार मनुष्य बात करते चित्रित हैं। कर्म-विभंग में व्यापाद से आरंभ होकर यह सूत्र है—"व्यापादस्याकुशलकर्मपथस्य विपाकेन प्रभूतउप्ते निष्फलं शस्यं भवति तस्य कर्मणो

विपाकेन प्रतिकूलादर्शनो भवति।" अर्थात् अत्याचार बुरा मार्ग है। इसके विपाक से अच्छा बोने पर भी फसल में अन्न नहीं होता। इसके कर्म-विपाक से जीव कुरूप धारण करता है। इस सूत्र से वह चित्र समझ में आता है। उस समय में कर्म-विभंग का ज्ञान साधारण जनता को रहा होगा, जिससे एक शब्द की सूचना से सारा सूत्र स्मरण में आ जाता होगा। इस प्रकार कर्म-विभंग ग्रंथ का आविष्कार बौद्धधर्म-संबंधी विषयों के समझने में महत्त्व का है।

पंड्या बैजनाथ

(२) भारत पुरातत्त्व-विभाग की १९२६-२७ वर्ष की रिपोर्ट

यह रिपोर्ट गत वर्ष के अंत में छपी थी। इसमें संरक्षण, शोध, लेख-पठन, म्यूज़ियम आदि प्रधान और कुछ दूसरे विभाग रहते हैं और अंत में संरक्षण और शोध संबंधी चित्र दिए रहते हैं। मोहेंजोदारो और हरप्पा की गत पाँच वर्ष का खोज-विषयक लेख बड़े महत्त्व का है, क्योंकि यहाँ एक बहुत पुरानी ५००० वर्ष के पूर्व की संस्कृति का पता लगा है। मेसोपोटेमिया में सूसा और दूसरे स्थानों में शोध करते समय भारतवर्ष की बनी कुछ मुहरें (Seals) ऐसी अवस्था में मिली हैं जिनसे यह निश्चय होता है कि ये सन् ई० पू० २७०० वर्ष के लगभग की होंगी। मोहेंजोदारो की बस्ती कई बार मिटी और बनी। हर एक बार की बस्ती की तह का निशान अलग अलग मिलता है। उपर्युक्त मुहरों के समान ही मुहरें मोहेंजोदारो की ऊपर की तीन तहों में मिलती हैं जिससे इनका समय भी २५००-३५०० सन् ईसवी पूर्व निश्चित होता है। उस समय यहाँ सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा और सीसा आदि धातुओं का प्रचार था। हथियार, औजार, बर्तन, कटार, छुरे, हँसिया, छेनी आदि सब ताँबे के ही बनते थे। हथियार कम मिले हैं जिससे जान पड़ता है कि इन लोगों को लड़ाई का प्रसंग बहुत कम आता था।

यहाँ प्रायः एक हजार मुहरें मिली हैं। इनमें कुछ लिखा भी है जो अभी तक पढ़ा नहीं गया है।

जो मूर्त्तियाँ और चित्र मिले हैं उनसे प्रकट होता है कि यहाँ पर कला की बहुत ऊँची उन्नति हुई थी जितनी की हम उस समय में आशा नहीं कर सकते हैं।

ये लोग किस जाति के थे, इसका निर्णय करना इस समय कठिन है। पर यह अनुमान होता है कि ये लोग आर्यों के पूर्व के द्रविड़ लोग थे। इनके धर्म में प्रधान देवता एक देवी थी और शिव के समान एक देव की भी पूजा होती थी। इनके सिवाय नाग, पशु, वृत्त, यत्त, लिंग, योनि रूपी पत्थरों की पूजा होती थी। इन दोनों जगहों में वैदिक देवताओं की पूजा का कोई चिह्न अभी तक नहीं मिला है। यह धर्म आर्यों के आने के पूर्व का जँचता है। यह सभ्यता सिंध, पंजाब, बिलोचिस्तान, कच्छ और काठियावाड़ तक फैली हुई थी। अभी यह निश्चय नहीं हुआ है कि वह राजपूताना, उत्तरी हिंदुस्तान और गंगा की तरेटी में फैली थी या नहीं। उस समय की मेसोपोटामिया की और इस सिंधु नदी की तरेटी की सभ्यताओं में इतनी एकता पाई जाती है कि उससे सिद्ध होता है कि उस समय इन दोनों देशों में बहुत कुछ आवागमन पृथ्वी और जल-मार्ग दोनों से था।

बाकी ग्रंथ में इस विभाग की वर्ष भर की शोध का फल और कार्रवाई का वर्णन है।

पंड्या बैजनाथ

(३) महाब्राह्मण

हिंदी शब्दसागर पृष्ठ ५० कालम २ में "अग्रदानी" शब्द के अर्थ में जो (पतित) शब्द ब्राह्मण से पहले लिखा गया है वह अशुद्ध है, क्योंकि शास्त्र-विरुद्ध है। 'दानी' शब्द के दो अर्थ होते

हैं—(१) दान देनेवाला, (२) दान लेनेवाला। अब रहा 'अग्र' शब्द ; इसके विषय में मनुजी का वाक्य है—

अग्र्या सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः॥

अ० ३, श्लोक १८४।

अतः 'अग्र' का अर्थ श्रेष्ठ तथा मुख्य है।

पृष्ठ ४३२ कालम १ में "कट्टहा" शब्द के अर्थ में (कट=शव) ठीक नहीं है। 'कट' का शुद्ध रूप है 'कष्ट'। अतः कष्ट+हा =कष्ट दूर करनेवाला।

पृष्ठ २६८८ और २६८९ में "महा" शब्द का अर्थ करने में विशेष अर्थ करते हुए ('ब्राह्मण' और 'पात्र') ये दो शब्द ठीक नहीं लिखे गए। आगे (महाब्राह्मण=कट्टहा ब्राह्मण और महापात्र=कट्टहा ब्राह्मण) भी नहीं होना चाहिए; क्योंकि महाब्राह्मण और महापात्र का अर्थ श्रेष्ठ ब्राह्मण और श्रेठ दानपात्र है। प्रमाण के लिये देखिए "महाब्राह्मण"।

पृष्ठ २६९३ कालम २ में 'महापात्र' शब्द के अर्थ करने में (कट्टहा ब्राह्मण) ठीक नहीं है।

पृष्ठ २६९४ कालम २ में 'महाब्राह्मण' शब्द का अर्थ करते हुए यह कहना "साधारणतः लोक में ऐसा ब्राह्मण निंदित माना जाता है। २ निकृष्ट ब्राह्मण" शास्त्र-विरुद्ध है, क्योंकि 'महाब्राह्मण' शब्द वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि आदि हिंदू धर्म के मान्य ग्रंथों में श्रेष्ठ ब्राह्मण के ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद का० १० अनु० ४ सू० ८ मं० ३३ में—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥

योा विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ॥
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥३७॥

बृहदारण्यक उपनिषद् द्वितीय अध्याय प्रथम ब्राह्मण मंत्र १९ में लिखा है—

स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा ।
तिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥

शतपथ ब्राह्मण १४ । ४ । १ । २२ में भी 'महाब्राह्मण' शब्द ब्रह्म-साक्षात्कार करनेवाले ब्राह्मण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों के भाष्य में जगद्गुरु श्री स्वामी शंकराचार्य्य जी ने 'महा-ब्राह्मण' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—"अत्यंतपरिपक्व-विद्याविनयसम्पन्नो महाब्राह्मणः ।"

ब्रह्मसूत्र अ० १ पा० ३ सू० ८ के भाष्य में भी जगद्गुरु ने 'महा-ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ, वेदपाठी ब्राह्मणों के अर्थ में किया है।

अद्भुत रामायण सर्ग १८ श्लोक ५३ में वाल्मीकिजी ने महर्षि भरद्वाज को महाब्राह्मण शब्द से संबोधित किया है। यथा—

सेनाध्यक्षा महाब्रह्मन् कीर्तिताः कीर्तिवर्धनाः ।
प्राधान्येन बहुत्वात्तु न सर्वे परिकीर्तिताः ॥

अद्भुत रामायण सर्ग ६ श्लोक ३६ में उल्लुकराज ने नारद को 'महाब्राह्मण' शब्द से अभिहित किया है—

किमर्थं भगवन्नत्र चागतोसि महाद्युते ।
किं कार्यं हि महाब्रह्मन् ब्रूहि किं करवाणि ते ॥

महाभारत वनपर्व अ० २०८ श्लोक ४९ में धर्मव्याध महामुनि कौशिक के प्रति कहता है—

धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तुष्यति महाद्विज ।

इसके अतिरिक्त साहित्य में भी महाब्राह्मण शब्द उत्तम ब्राह्मण के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। यथा—

पुण्यो महाब्रह्मसमूह जुष्टः ॥—भट्टीकाव्य सर्ग १७ श्लो० ४। महाकवि भवभूति प्रणीत महावीर-चरित में भी ऐसा ही अर्थ किया गया है।

स्कंधारोपितयज्ञपात्रनिचयाः स्वैर्वाजपेयार्जितैः
छत्रैर्वारयितुं तवार्ककिरणांस्ते ते महाब्राह्मणाः।

सर्ग ४७ श्लोक ५७

के० राम आचार्य—मीरठ।

(४) यशवंतसिंह तथा स्वातंत्र्य-युद्ध

लेखक—श्रीयुक्त व्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल० बी०। प्रकाशक— कमलमणि ग्रंथमाला कार्यालय, काशी। पृष्ठ-संख्या १३६। मूल्य ॥)

यह पुस्तक ६ परिच्छेदों में समाप्त हुई है और इसके पीछे दो परिशिष्ट और अनुक्रमणिका भी लगी है। पहले परिच्छेद में मारवाड़ का संक्षिप्त भौगोलिक वृत्तांत देकर दूसरे में मारवाड़ के राजवंश का परिचय दिया गया है। तीसरे में महाराजा यशवंत के पितामह सवाई राजा शूरसिंह और पिता राजा गजसिंह का हाल है। चौथे से सातवें परिच्छेद तक इस पुस्तक के नायक स्वयं महाराज यशवंतसिंह का इतिहास लिखा गया है। आठवें परिच्छेद में महाराज के साहित्य-संबंधी कार्यों का विवरण देकर नवें परिच्छेद में महाराजा यशवंत की मृत्यु के बाद होनेवाले औरंगजेब और राठोड़ों के बीच के युद्ध का वर्णन है। अंत में परिशिष्ट 'क' में विशेष विशेष घटनाओं का समय और 'ख' में मारवाड़ की मुगलकालीन आय की संक्षिप्त सूची है।

श्रीयुत व्रजरत्नदास जी का यह परिश्रम श्लाघनीय है और उन्हें इस पुस्तक के लिखने में बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। हमारी सम्मति में, सर्वसाधारण को भारतीय नरेशों के वीरतापूर्ण चरित्रों से परिचित करने के लिये, हिंदी-साहित्य में ऐसी पुस्तकों

की विशेष आवश्यकता है। आशा है, ब्रजरत्नदासजी ऐसे ही अन्य चरित्र लिखकर इस अभाव की पूर्ति करते रहेंगे।

आगे हम पुस्तक में की कुछ ऐसी बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं जिनकी वास्तविकता आधुनिक अनुसंधानों से असत्य सिद्ध हो चुकी है। आशा है, लेखक महाशय पुस्तक के द्वितीय संस्करण में उनके संशोधन का प्रयत्न करेंगे।

जयचंद्र का राजसूय यज्ञ और पृथ्वीराज के साथ का युद्ध। राव सीहा का ब्राह्मणों को मारकर पाली लेना। राव चूंडा के बाद राव रणमल्ल का गद्दी पर बैठना। राव रणमल्ल का महाराना कुंभा से मेवाड़-राज्य छीनने की चेष्टा करना। राव जोधा का रणमल्ल का बड़ा पुत्र होना। राव जोधा के १४ पुत्र होना। वि० सं० १६२५ में राव मालदेव का अकबर की अधीनता स्वीकार करना[1]। वि० सं० १६५३ में सिरोही के सुरतान का राजा शूरसिंह के साथ अपनी कन्या का विवाह करना। महाराजा यशवंत के धर्मत युद्ध से लौटने पर उनकी हाड़ी रानी का रुष्ट होना[2]। बालक महाराज अजितसिंह का मेवाड़ में जाकर रहना, आदि।

यद्यपि ढूँढ़ने पर इन घटनाओं का उल्लेख पृथिवीराजरासो, बर्नियर का सफरनामा, टाड राजस्थान, वीरविनोद आदि में मिल

(१) राव मालदेव का स्वर्गवास वि० सं० १६१९ में ही हो चुका था।

(२) 'विशाल भारत' मासिक पत्र के अक्टूबर १९३१ के अंक में भी श्री सुदर्शन जी का 'पराजय' नामक नाटक प्रकाशित हुआ है। उसका आधार भी यही कल्पित किस्सा है। उसमें लेखक ने और भी दो विचित्र बातों का समावेश किया है। एक तो जोधपुर-नरेश के लिये महाराना की उपाधि का प्रयोग किया है और दूसरा कहीं कहीं रुष्ट रानी के मुख से ऐसे वचन कहाए हैं जिन्हें एक साधारण भारतीय कुलांगना को भी अपने पति के प्रति कहने में संकोच हो सकता है। आशा है, भविष्य में लेखक और संपादक दोनों ही कुछ अधिक सतर्कता से काम लेंगे।

सकता है तथापि जब तक इनके विरुद्ध उपस्थित किए गए प्रमाणों का खंडन न हो ले तब तक इनकी सत्यता स्वीकार नहीं की जा सकती। किसी इतिहास में लिखी होने से ही यदि कोई बात प्रामाणिक हो सकती हो तब तो इसी अगस्त में प्रकाशित 'मारवाड़ के मूल इतिहास' नामक पुस्तक में पंडित रामकर्ण जी आसोपा ने दुर्गादास का शाहजादे अकबर को ले जाकर दक्षिण में शिवाजी से मिलाना लिख दिया[1] है। परंतु शिवाजी इनके वहाँ पहुँचने के करीब १४ मास पूर्व ही मर चुके थे।

इसी प्रकार लेखक का मारवाड़ को महाराष्ट्र शब्द का अपभ्रंश अनुमान करना; कोलू मढ को कोलमंड; डाभी को दावे; मेर को मेढ; काँधल को कंदल; पीपाड़ को पीपर और देसूरी को देवसूरी लिखना भी भ्रमोत्पादक ही है।

ई० स० १९३१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार कदाचित् मारवाड़ की आबादी भी १६ लाख के करीब न होकर २१ लाख के करीब सिद्ध हुई है।

परंतु इन बातों से पुस्तक की उपादेयता में कोई कमी नहीं आती है। क्योंकि इनमें की कुछ बातों को तो अब भी विवादास्पद कह सकते हैं। आशा है, हिंदी-प्रेमी इस पुस्तक को अपनाकर व्रजरत्नदासजी को और भी ऐसी ही पुस्तकें लिखने के लिये उत्साहित करेंगे।

विश्वेश्वरनाथ रेउ, जोधपुर

---

(१) देखो पृ० २००
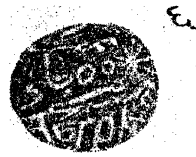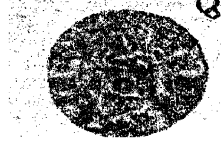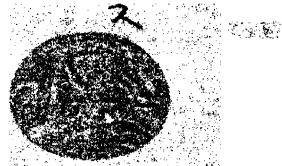
बुंदेलखंड के सिक्के

१—एरन के गणतंत्र राज्य का सिक्का ।

२—गांगेयदेव कलचुरि का सिक्का ।

३—कीर्तिवर्मा चंदेल का सिक्का ।

४—हलक्षण चंदेल का सिक्का ।

५—टीकमगढ़ का गजाशाही रुपया जो लगभग १५० वर्ष पूर्व चलाया गया ।

६—सागर का बालाशाही रुपया जिसे मराठों ने चलाया था ।

. (१०) बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास

[लेखक—श्री गोरेलाल तिवाड़ी, बिलासपुर]

अध्याय १

प्रारंभिक इतिहास

१—भारतवर्ष के मध्य भाग में नर्मदा के उत्तर और यमुना के दक्षिण में विंध्याचल पर्वत की शाखाओं से समाकीर्ण और यमुना की सहायक नदियों के जल से सिंचित सृष्टि-सौंदर्यालंकृत जो प्रदेश है उसे बुंदेलखंड कहते हैं। समय समय पर इसके नाम दशार्ण, वज्र, जेजाक-भुक्ति, जुझौती, जुझारखंड तथा विंध्येलखंड भी रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विंध्याटवी में स्थित होने के कारण इस प्रदेश का नाम विंध्येलखंड पड़ा, बाद में अपभ्रष्ट हो यह बुंदेलखंड कहलाया। इस भूभाग के उत्तर में यमुना का प्रचंड प्रवाह, पश्चिम में मंद मंद बहनेवाली चंबल और सिंध नदियाँ, दक्षिण में नर्मदा नदी और पूर्व में बघेलखंड है। इस प्रदेश का उत्तरीय भाग—जिसमें आज-कल झाँसी, जालौन, ललितपुर, बाँदा और हमीरपुर के जिले हैं—अँगरेजी राज्य में है। मध्य भाग में ओड़छा, समथर और दतिया के राज्य तथा चरखारी, छत्रपुर, पन्ना, बिजावर, अजयगढ़ इत्यादि छोटे छोटे राज्य हैं। दक्षिणी भाग में सागर, दमोह और जबलपुर के जिले हैं। इस प्रांत में बहनेवाली मुख्य नदियाँ बेतवा, धसान, सुनार, केन और टोंस (तमसा) हैं, जिनके जल से यह भाग बहुत उपजाऊ हो गया है। यहाँ के पर्वतों में कई प्रकार के खनिज पदार्थ पाए जाते हैं। उनमें हीरा, ताँबा, लोहा आदि मुख्य हैं।

२—वैदिक काल में आर्य लोगों की बस्तियाँ पंजाब और उत्तर भारतवर्ष में यमुना के उत्तर में ही थीं। पंजाब से आर्य लोग यमुना के उत्तरीय भाग में होते हुए बिहार की ओर बढ़े। उस समय भी बुंदेलखंड में आर्यों ने अपना आधिपत्य नहीं जमाया था। यमुना के नीचे सघन वन था और यहाँ उस समय उन लोगों के निवास-स्थान थे जिन्हें वेदों में दस्यु, यातुधान और राक्षस कहा है। ये लोग आर्यों के समान सभ्य नहीं थे और इनका वर्ण भी आर्यों के समान गोरा न था। आर्य लोगों को यमुना पार करके दक्षिण का देश अपने अधिकार में करना पूर्व की ओर बढ़ने की अपेक्षा अधिक कठिन जान पड़ा। इस प्रदेश में बसनेवाली आदिम जातियों के रहन-सहन के विषय में जानने के लिये कोई ऐतिहासिक साधन नहीं है। वेदों में भी इनकी भरपूर निंदा की गई है।

३—रामायण में नर्मदा नदी का नाम नहीं आया। इससे स्पष्ट है कि उस समय आर्य लोगों की बस्तियाँ नर्मदा तक नहीं पहुँची थीं। परंतु कई ऋषि यमुना के दक्षिण में आकर रहे थे। ये ऋषि केवल तप करनेवाले ब्राह्मण ही नहीं परंतु बड़े योधा थे जो अपने अनुयायियों को साथ लेकर राक्षसों से युद्ध करके, उनको भगाकर तथा उनके स्थान में अपने आश्रम बनाकर, रहने लगे थे। श्री रामचंद्रजी को ऐसे कई आश्रम मिले। अत्रि, सुतीक्ष्ण और शरभंग ऋषियों के आश्रम यमुना के दक्षिण में ही थे। इन आश्रमों का ठीक स्थान कौन था यह बताना बड़ा कठिन है, परंतु अत्रि का आश्रम अवश्य ही बुंदेलखंड में रहा होगा।

४—महाराज रामचंद्र शृंगवेरपुर के निकट गंगा को पार कर प्रयाग पहुँचे। फिर यमुना को पार करके चित्रकूट में आकर रहे। यह चित्रकूट गिरि प्रसिद्ध ही है और इसके विषय में कोई शंका नहीं हो सकती। कुछ लोग इसे भी दंडकारण्य का भाग मानते हैं।

बुंदेलखंड महाराज रामचंद्र के समय में दंडकारण्य का भाग था। महाराज रामचंद्र ने अगस्त्य मुनि का आश्रम भी देखा था। यह आश्रम कहाँ था इसका पता रामायण से ठीक नहीं चलता। परंतु महाभारत में अगस्त्य ऋषि का आश्रम कालिंजर कहा गया है। यह एक तीर्थस्थान था। यहाँ पांडव लोग अपनी तीर्थयात्रा करते हुए पहुँचे थे। विंध्य पर्वत-श्रेणी को पार करके दक्षिण में जाने का कठिन कार्य सबसे पहले अगस्त्य ऋषि ने ही किया था। इनका एक आश्रम संभवतः कालिंजर में रहा हो, पर दंडकारण्य में भी इनके आश्रम रहे होंगे जहाँ पर श्री रामचंद्र गए थे।

५—चित्रकूट से किष्किंधा जाते समय महाराज रामचंद्र बुंदेलखंड के कुछ भाग में से अवश्य ही निकले होंगे। रामचंद्र महाराज पंचवटी में रहे थे। अधिकतर विद्वानों की यही राय है कि यह पंचवटी गोदावरी नदी के उद्गम-स्थान के निकट और नासिक के समीप है। परंतु कई विद्वानों का यह भी मत है कि पंचवटी मद्रास प्रांत का भद्राचलम् नाम का स्थान है। हम पहला मत ही ग्राह्य समझते हैं। अतः महाराज रामचंद्र चित्रकूट से पंचवटी, दमोह और सागर जिलों में से होते हुए गए, यही अनुमान होता है। उन्हें मार्ग में कुछ थोड़े से ऋषियों के स्थानों के सिवा कोई उल्लेखनीय सभ्य जाति नहीं मिली। इसी से जान पड़ता है कि इस भाग में उस समय आदिम निवासी ही रहते थे जो कि आर्य नहीं थे। भवभूति के उत्तर-रामचरित में वाल्मीकि ऋषि के आश्रम के निकट मुरला (नर्मदा) और तमसा (टोंस) नदियों का नाम आया है। ये नदियाँ जबलपुर जिले में है।

६—महाराज रामचंद्र के राज्यकाल के लगभग आठ सौ या एक हजार वर्ष बाद महाभारत का युद्ध हुआ। इस युद्ध के समय आर्य लोगों ने बहुत से प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। कहीं कहीं

अनार्यों के भी बड़े बड़े राज्य थे जो आर्यों के राज्यों के समान ही व्यवस्थित थे। पांचाल लोग आर्यों की ही शाखाओं में से थे। इनका राज्य बुंदेलखंड के उत्तर में यमुना के उस पार था। चैदि-राज्य भी आर्य लोगों ने ही बसाया था। इनका पहला राजा वसु नाम का था जिसके एक पुत्र बृहद्रथ ने मगध का राज्य जमाया था। वसु के दूसरे पुत्र मत्स्य ने विराट का मत्स्य राज्य स्थापित किया था। कुंतिभोज राज्य भी इसी तरह बसा था। यह राज्य चंबल नदी के उस पार था। दशार्ण राज्य भी आर्य्यों की एक शाखा ने स्थापित किया था।

७—चेदि राज्य बुंदेलखंड के पूर्वीय भाग में था। आज-कल का दमोह जिला और उसके उत्तर के रजवाड़ों का प्रांत (दशार्ण नदी के पश्चिम का भाग) महाभारत के समय में चेदि देश ही में था। इसका विस्तार पश्चिम में बेतवा और उत्तर में यमुना नदी तक था। दशार्ण देश में सागर जिला और बुंदेलखंड का कुछ भाग था, और इसकी राजधानी विदिशा (भिलसा) थी। इस देश का नाम "दशार्ण" (धसान) नदी पर से पड़ा था। यह नदी भोपाल रियासत से निकलकर सागर जिले में होती हुई झाँसी जिले में आई है, पश्चात् यहाँ से बेतवा में मिल गई है। महाभारत के समय बुंदेलखंड के पश्चिमी भाग में आभीर लोग रहते थे। ये आर्य्य न थे। ये अनार्य्य रहे होंगे, पर पीछे से आर्य्यों ने इन्हें अपने में मिला लिया होगा। बुंदेलखंड के दक्षिण में उस समय विदर्भ देश भी था। यह आर्य्यों का स्थापित किया हुआ था। ऐसे ही पूर्व में दक्षिण-कोशल राज्य था। यहाँ भी आर्य्यों का ही राज्य था। चेदि देश में महाभारत के समय शिशुपाल राजा था। इसकी राजधानी चँदेरी थी। यह स्थान आजकल भी प्रसिद्ध है। ऐसे ही दशार्ण देश में हिरण्यवर्म्मा राजा राज्य करता था। इसकी कन्या पांचाल-राज

द्रुपद के पुत्र शिखंडी को ब्याही थी। पर यह पुरुषत्वहीन था। इसी से हिरण्यवर्म्मा और राजा द्रुपद में युद्ध भी हुआ था, पर पीछे से सुलह हो गई थी। इसके पश्चात् इस दशार्ण देश में राजा सुधर्मा का नाम मिलता है। राजा सुधर्मा और पांडव-सेनापति भीमसेन से पूर्व-दिग्विजय के समय युद्ध हुआ था। इसमें भीमसेन की विजय हुई थी। इतिहासज्ञ विद्वानों ने महाभारत का समय वि० सं० से लगभग ३००० वर्ष पूर्व माना है। यही मत यहाँ पर बिना विवाद किए मान लेना उचित है।

८—कर्मों के अनुसार जातिभेद आर्य्यों में पहले से ही रहा है। आर्य्यों की जो शाखा फारस देश में रहती थी और जिसे आर्य्य लोग असुर कहते थे उसमें भी जातिभेद पाया जाता है। वहाँ पर ब्राह्मणों का काम करनेवाले अथ्रुव, क्षत्रिय अर्थात् राजाओं का काम करनेवाले राथैस्थ, वैश्यों का कर्म करनेवाले वास्त्रिम और शूद्रों का काम अर्थात् सेवा करनेवाले हुइटी कहलाते थे। इससे जान पड़ता है कि कर्मों के अनुसार समाज के चार विभाग बहुत पुराने हैं। परंतु वैदिक काल में विवाह आदि संबंध के लिये कोई बंधन न थे। महाराज रामचंद्र के समय आर्य्य लोग अनार्य्यों से बहुत द्वेष रखते थे। परंतु महाभारत के समय में यह द्वेष बहुत कम हो गया था और आर्य्य लोग अनार्य्य जाति की कन्याओं से ब्याह करने में भी कोई आपत्ति न करते थे। इन विवाहों के उदाहरण बुंदेलखंड में तो कम परंतु बाहर बहुत पाए जाते हैं। शांतनु का विवाह एक मछली मारनेवाले धीमर की लड़की के साथ हुआ था। यह धीमर निषाद था। मत्स्य देश के राजा विराट की उत्पत्ति भी इसी प्रकार थी।

९—जाति-भेद पहले कर्मों के अनुसार ही था और बहुधा पिता का व्यवसाय पुत्र सीखा करता था। इससे जाति का कर्म भी परं-

परागत होने लगा। धीरे धीरे जातियों ने अपने समाज में विभिन्न जातियों के मनुष्यों को आने से रोकने के लिये भिन्न जातियों से विवाह-संबंध बंद कर दिए। बहुत समय के बाद विभिन्न जातियों के बीच खान-पान भी बंद हो गया। ये सब विचार महाभारत के बहुत दिनों बाद हुए। जाति-बंधन महाभारत के समय में बहुत कम था। यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय या वैश्य कन्या से विवाह करके पुत्र उत्पन्न करता था तो वह पुत्र भी ब्राह्मण कहलाता था और उसे ब्राह्मण के अधिकार देने में अन्य ब्राह्मण कोई आपत्ति न करते थे[1]। इसी से जान पड़ता है कि जाति-बंधन महाभारत के समय में उतना दृढ़ नहीं था जितना कि बाद के समय से हो गया है।

१०—महाराज रामचंद्र के समय में एक-पत्नीव्रत अच्छा समझा जाता था परंतु एक से अधिक स्त्रियों से ब्याह करने में कोई हानि न समझी जाती थी। महाभारत के समय में, जान पड़ता है कि, नैतिक दृष्टि से समाज बहुत शिथिल हो गया था। संभव है कि इसका कारण अनार्यों का संसर्ग हो। विवाह के समय कन्या की उम्र लगभग १६ वर्ष की हो जाती थी। द्रौपदी, रुक्मिणी और दमयंती ब्याह के समय इसी उम्र की रही होंगी। इस समय बाल्य-विवाह की प्रथा नहीं थी। कन्या कहीं कहीं अपना वर स्वयं चुन सकती थी। स्वयंवर के कई उदाहरण महाभारत में मिलते हैं।

११—दशार्ण और चेदि देशों में हिरण्यवर्म्मा, सुधर्मा, शिशुपाल इत्यादि राजाओं का राज्य था। जो राजा बहुत पराक्रमी होता था या जो अन्य राजाओं को अपने वश में कर लेता था वह सम्राट् कहलाता था। महाभारत के समय में जरासंध एक बड़ा शक्ति-

---

(१) त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद्ब्राह्मणो भवेत्।
स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पंचमो नाधिगम्यते॥
महाभारत, अनुशासनपर्व अध्याय ४७। १८

शाली राजा था। सम्राट् जरासंध की ओर से चेदि देश का राजा शिशुपाल साम्राज्य-सेना का अधिपति था। इससे जान पड़ता है कि चेदि देश का राज्य भी जरासंध के साम्राज्य के अंतर्गत हो गया था। श्रीकृष्ण ने जरासंध को हराया था और शिशुपाल को भी मारा था। उस समय द्वारका में प्रजातंत्र राज्य था। श्रीकृष्ण द्वारका के प्रजातंत्र राज्य के राष्ट्रपति थे और जरासंध तथा शिशुपाल आदि साम्राज्यवादी राजाओं से उनका द्वेष था। जरासंध और शिशुपाल की हार होने से साम्राज्य टूट गया, परंतु चेदि में एक-सत्तात्मक राज्य-संस्था चली आई।

१२—जरासंध के साम्राज्य में भिन्न-भिन्न राज्य तो अपनी आंतरिक शासन-संस्था में बिलकुल स्वतंत्र थे, परंतु परस्पर सहायता के लिये जरासंध के आधिपत्य में एक हो जाते थे। इससे जरासंध का साम्राज्य आधुनिक साम्राज्य से भिन्न था। चेदि राज्य के संबंध का इतना ही इतिहास महाभारत में मिलता है। दशार्ण देश का हाल और भी कम मिलता है और जो कुछ मिला ऊपर लिखा जा चुका है। महाभारत के युद्ध में यहाँ के राजा को भगदत्त ने मारा था।

१३—चेदि और दशार्ण ये दोनों एक-सत्तात्मक राज्य थे। इनकी राजसंस्था अन्य तत्कालीन राज्यों के समान ही रही होगी। राजा राजघराने का ही व्यक्ति रहता था और राजा के ज्येष्ठ पुत्र को चुना जाने का पहला अधिकार था। परंतु प्रजा ही राजा को चुनती थी। राजा आठ मंत्रियों की राज-सभा बनाता था[1]।

---

(१) अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्।

महाभारत, शांतिपर्व ८५।११

परंतु कहीं कहीं १८ मंत्रियों के मंत्रिमंडल का भी उल्लेख है[1]। इन अठारह मंत्रियों में (१) प्रधान मंत्री, (२) पुरोहित, (३) युवराज, (४) चमूपति, (५) द्वारपाल, (६) अतखेशक, (७) बंदीगृहों का अध्यक्ष, (८) कोषाध्यक्ष, (९) व्ययनिरीक्षक, (१०) प्रदेष्टा, (११) धर्माध्यक्ष, (१२) नगर का अध्यक्ष, (१३) राज्यसंस्था को आवश्यक सामान ला देनेवाला, (१४) सभाध्यक्ष (न्याय विभाग का प्रधान कर्मचारी), (१५) दंडधारी, (१६) दुर्गरक्षक, (१७) सीमारक्षक और (१८) जंगलों का रक्षक, ये लोग रहते थे। प्रत्येक गाँव में एक मुखिया रहता था जिसे ग्रामाधिपति कहते थे। ग्रामाधिपति को जंगल की आमदनी वेतन के रूप में मिलती थी। राज्यसंस्था के खर्च के लिये जमीन का लगान और व्यवसाय के कर, ये दो आमदनी के मार्ग थे। जमीन का लगान उपज के दशम भाग से छठे भाग तक था। जमीन का मालिक राजा नहीं समझा जाता था। व्यवसायियों को ढोर और सोने के व्यवसाय में पचासवाँ भाग राजा को देना पड़ता था। यह कर लेते समय माल की कीमत, उस पर लगनेवाला खर्च और जो कुछ और खर्च लगता था उसका विचार कर लिया जाता था[2]। कभी कभी युद्ध के समय प्रजा से ऋण भी ले लिया जाता था।

---

(१) कश्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दशपंच च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥

महाभारत, सभापर्व ५।३८

(२) विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान्॥

महाभारत, शांतिपर्व ८७।१३

पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च।
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम्॥

महाभारत, शांतिपर्व ६७।२३

१४—जमीन के मालिक वे ही मनुष्य समझे जाते थे जिनके पास जमीन रहती थी[1]। वे लोग अपनी जमीन को बेच सकते थे और दान में भी दे सकते थे। जमीन का मालिक राजा न समझा जाता था। उन दिनों सोने के सिक्के चलते थे जिन्हें निष्क कहते थे।

१५—इस समय में विद्यार्थियों की शिक्षा की ओर भी पूरा ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक राज्य में परिषद रहा करती थी जिसमें ब्राह्मण लोग विद्या सिखाया करते थे।

महाभारत के पश्चात् कई शताब्दियों तक का ठीक हाल नहीं मिलता। जिन राजघरानों का इतिहास मिल सका वह आगे के अध्यायों में दिया जाता है।

अध्याय २

मौर्य साम्राज्य

१—विक्रम संवत् के लगभग ३०० वर्ष पहले मगध का राज्य बहुत शक्तिशाली हो गया था। यहाँ पर शासन-संस्था एक-सत्तात्मक थी। इसके सिवा भारत के अन्य भागों में कहीं कहीं गणतंत्र राज्य थे। जब सिकंदर ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की तब उसको भारतवर्ष में कई गणतंत्र राज्य मिले थे। इस समय बुंदेलखंड की ठीक स्थिति क्या थी यह नहीं कह सकते। बुद्ध भगवान् का देहांत हुए लगभग साढ़े चार सौ वर्ष हो चुके थे जब सिकंदर ने यूनान से चढ़ाई की। उस समय मगध में नंद घराने का

(१) तस्मात्क्रीत्वा महीं दद्यात्स्वल्पामपि विचक्षणः।
महाभारत, अनुशासनपर्व, ६७।३४

राजा राज्य करता था। सिकंदर के लौट जाने के बाद प्राचीन राज-घराने का एक युवक, जिसका नाम चंद्रगुप्त मौर्य था, नंदवंश के शासक को मारकर स्वयं राजा बन गया। चंद्रगुप्त बड़ा बुद्धिमान् और परा-क्रमी राजा था। इसका मंत्री कौटिल्य था। कौटिल्य राजनीति में बहुत प्रवीण था। इसी की सलाह से कार्य करने में चंद्रगुप्त को पूरी सफलता मिली। मगध राज्य के आसपास कई ऐसे राज्य थे जहाँ पर शासन-संस्था प्रजा-सत्तात्मक थी। चंद्रगुप्त ने इन सबको अपने अधिकार में कर लिया। अन्य राजाओं को चंद्रगुप्त के राज्य में मिल जाना पड़ा। चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में नर्मदा के उत्तर का सब भाग आ गया था। इससे बुंदेलखंड भी चंद्रगुप्त के साम्राज्य में था। चंद्रगुप्त के मरने पर उसका लड़का बिंदुसार विक्रम-संवत् के २४० वर्ष पूर्व साम्राज्य का अधिकारी हुआ।

२—मौर्य साम्राज्य बड़ा होने के कारण उसके चार बड़े विभाग थे। प्रत्येक विभाग की राजधानी में साम्राज्य की ओर से एक शासक नियत रहता था। बुंदेलखंड उज्जैन के शासक के अधीन था। बिंदु-सार के राज्य-काल में उसका लड़का अशोक उज्जैन का शासक नियत किया गया था। यही विक्रम-संवत् के २१५ वर्ष पूर्व अपने पिता के मरने पर साम्राज्य का अधिकारी हुआ। अशोक बौद्ध था और उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न किया।

३—मौर्य साम्राज्य के समय की शासन-प्रथा का बहुत सा हाल कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मिलता है। वाणिज्य और व्यवसाय पर सदा राज्य की ओर से निरीक्षण रहता था और इनकी उन्नति के लिये सब प्रकार के यत्न किए जाते थे। प्रत्येक ग्राम तथा बड़े स्थानों में न्यायालय थे। जन्म और मृत्यु का पूरा विवरण राज-कर्मचारी रखा करते थे। विद्यालयों का प्रबंध प्रत्येक स्थान में था और उच्च शिक्षा के लिये काशी और तक्षशिला में परिषदें थीं।

४—अशोक ने कई स्थानों पर धर्म-प्रचार के लिये शिलालेख खुदवाकर लगवाए थे। इसके शिलालेख नागौद और जबलपुर के पास रूपनाथ में हैं। इस समय बुंदेलखंड में भी बौद्धधर्म का प्रसार हो गया था। संभवत: इस समय एरन राजधानी रही होगी। चंद्रगुप्त के राज्य-काल में यूनान से मेगास्थिनीज नाम का एक प्रवासी भारतवर्ष में आया था। उसके वर्णन में बुंदेलखंड का विशेष हाल नहीं मिलता।

५—सम्राट् अशोक का देहांत संवत् के १७४ वर्ष पूर्व हुआ। अशोक के लड़के अशोक के समान योग्य न हुए और अशोक का देहांत होते ही साम्राज्य दो भागों में बँट गया। पूर्व के भाग का शासक दशरथ और पश्चिम भाग का शासक संप्रति नाम का अशोक का नाती हुआ। अनुमान से जाना जाता है कि बुंदेलखंड पश्चिम के भाग में ही रहा। इसके पश्चात् मौर्य साम्राज्य का सेनापति पुष्यमित्र शुंग, अपने स्वामी बृहद्रथ को मारकर, स्वयं राजा बन गया और सारा मौर्य साम्राज्य अपने अधिकार में कर बैठा। इस प्रकार शुंगों के राज्यकाल का आरंभ विक्रम-संवत् के १२७ वर्ष पूर्व हुआ। यह वंश जाति का ब्राह्मण था।

६—बुंदेलखंड भी शुंगों के अधिकार में रहा। बेसनगर (भिलसा के निकट) में पुष्यमित्र शुंग का युवराज अग्निमित्र सूबेदार था। बुंदेलखंड इसी सूबे के अंतर्गत था। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न किया था और जीवहिंसा बंद करा दी थी। परंतु पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म का कट्टर विरोधी था और उसने बौद्ध धर्म को उखाड़ देने के लिये भरपूर प्रयत्न किया। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ रचा और फिर से हिंसामयी पूजा का आरंभ कर दिया। उसने कई बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला और बौद्ध विहारों में आग लगवा दी। शुंगों का राज्य ११२ वर्ष तक रहा। पुष्यमित्र

के मरने पर फिर राजाओं में बहुत अदल-बदल हुई। इस वंश का अंतिम राजा देवभूति अपने ब्राह्मण मंत्री वसुदेव के हाथ से मारा गया। हत्या करने के बाद यही मंत्री राजसिंहासन पर बैठ गया। वसुदेव से दूसरा राजवंश आरंभ होता है जिसे कान्वायन वंश कहते हैं। कान्वायन राजवंश ४५ वर्ष के बाद ही नष्ट हो गया। इस वंश का नाश विक्रम-संवत् ३० में हुआ। यह वंश भी ब्राह्मण ही था।

७—मौर्य राज्य के पहले से ही भारतवर्ष में अनेक गणतंत्र राज्य[1] थे। इनमें से मध्यदेश[2] में पांचाल, कुरु, मत्स्य, यौधेय, सपटच्चर, कुंत्य और शूरसेन लोग रहते थे। इनको मौर्य साम्राज्य ने कहीं पर तो नष्ट कर दिया था और कहीं साम्राज्य के अंतर्गत कर लिया था। गणतंत्र राज्यों में मल्लक (मालवा) नाम का राज्य बुंदेलखंड के पश्चिम में और पंचाल के उत्तर में था। अशोक के समय में ये सब साम्राज्य के अंतर्गत थे। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् इन स्थानों में फिर से गणतंत्र राज्य स्थापित हो गए। बुंदेलखंड का चेदि राज्य एक राजा के अधिकार में था। मौर्यों ने उसे अपने अधिकार में कर लिया था। मौर्य साम्राज्य के नष्ट होने पर चेदि देश में फिर से पुरानी प्रथा का एक-सत्तात्मक राज्य स्थापित हो गया। पश्चिम में मालवा देश में फिर से पुरानी प्रथा का गणतंत्र राज्य स्थापित हुआ। मालवा का गणतंत्र राज्य बड़ा शक्तिशाली और विस्तीर्ण था। इन गणतंत्र राज्यों के सिक्के मिले हैं, जिनसे इनका समय और स्थान ज्ञात हो जाता है।

(१) काम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः।
लिच्छिविकवृजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपांचालादयो राजशब्दोपजीविनः॥
कौटिल्य अर्थशास्त्र।

(२) पांचालाः कुरवो मत्स्याः यौधेयाः सपटच्चराः।
कुन्त्यः शूरसेनाश्च मध्यदेशे जनाः स्मृताः॥
विष्णुधर्मोत्तर महापुराण अध्याय ८

एरन सागर जिले में, खुरई के पश्चिम, बीना नदी के किनारे बसा हुआ है। यहीं पर कई पुरानी मूर्त्तियाँ भी मिली हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। एरन का प्राचीन नाम एराकण्या था। यहाँ पर १७ सिक्के मिले हैं। वे एरन के गणराज्य के चलाए हुए सिक्के हैं। इन सिक्कों में से एक पर धर्मपाल राजन्या लिखा है पर उसका चित्र नहीं है। शेष नाम-रहित हैं। इससे यह पाया जाता है कि ये सिक्के किसी एक राजा के चलाए नहीं हैं। इन पर बोधिवृत्त, धर्मचक्र बने हैं। सूर्य का चिह्न भी बना है। इनसे यह भी जान पड़ता है कि यहाँ बौद्ध धर्म का ही प्रभाव रहा है[1]। यह गणराज्य भी मौर्य साम्राज्य के नष्ट होने पर बना होगा। इसका विस्तार कहाँ तक होगा यह कहना कठिन है।

८—इन गणतंत्र राज्यों की सबसे बड़ी शासन-सभा को गण कहते थे। इस गण में राज्य के सब लोग अपने प्रतिनिधि भेजते थे। कहीं पर गण के सब सदस्य राजा कहलाते थे। इन राज्यों को अपना अस्तित्व बनाए रखने में बड़ी कठिनाई हुई। इन्हें उत्तर में शक लोगों से और पूर्व में गुप्त लोगों से सामना करना पड़ा। अंत में इनकी प्रजा-सत्तात्मक शासन-संस्था का लोप ही हो गया।

९—प्राय: इसी समय मालवा के उत्तर में नाग राजाओं का राज्य था। नाग राजाओं का हाल विष्णुपुराण में भी मिलता है। विष्णुपुराण में लिखा है कि नौ नाग राजाओं का राज्य पद्मावती[2] और कांतीपुरी में रहेगा। पद्मावती का आधुनिक नाम पवायाँ है।

(१) A, Cunningham : Archeological Survey of India, Vol. X, P. 75. and republic tradition in ancient Indian Polity (Modern Review 1920, P. 13.)

(२) पद्मावती को कनिंघाम नरवर मानते हैं, परंतु पद्मावती का आधुनिक नाम पवाँया ही है।

यह ग्वालियर रियासत के डभोरा स्टेशन से १२ मील पर है। कांतीपुरी को आजकल कुतवार कहते हैं। यह अहसन नदी के तट पर ग्वालियर से २० मील पर स्थित है।

१०—नरवर में नागवंशी राजाओं के बहुत से सिक्के मिले हैं। इन सिक्कों से निम्नलिखित राजाओं के नामों का पता लगा है। इन राजाओं के संवत् भी अनुमान से निम्न-लिखित हैं—

१	भीम नाग	विक्रम-संवत्	५७
२	खवा (खर्जुर नाग)	,,	८२
३	वा (वर्म्मा या वत्स)	,,	१०७
४	स्कन्द नाग	,,	१३२
५	बृहस्पति नाग	,,	१८७
६	गणपति नाग	,,	२०२
७	व्याघ्र नाग	,,	२२७
८	वसु नाग	,,	२५२
९	देवनाग	,,	२७७

देवनाग नाम का नवाँ राजा था। इस वंश का अधःपतन गणपत नाग के समय से ही हो चला था। इसे समुद्रगुप्त ने अपने अधिकार में कर लिया था। इसका हाल इलाहाबाद के विजय-स्तंभ में लिखा है।

११—पवायाँ में वि० सं० ८२ में नागवंशी राजाओं के ३० सिक्के और शिवनंदन नामी एक राजा का शिलालेख भी मिला है*। इन सिक्कों में से २० सिक्के गणेंद्र (गणपत) के, ६ देव (देवेंद्र) के और एक स्कंद नाग का है, शेष खराब हो गए हैं।

* राज्ञः स्वामिशिवनंदिस्य संवत्सरे चतुर्थे ग्रीष्मपक्षे द्वितीयदिवसे। (२) द्वादशे १०२ एतस्य पूर्वाये गोष्ठया मणिभद्रा गर्भसुखिताः भगवतो। (३) मणिभद्रस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापयन्ति गोष्ठयं भगवा आयुवलं वाच्यं कल्या-

१२—नाग राजाओं के समय से ही भारतवर्ष पर शक लोगों के आक्रमण होने लगे थे। पहले शक लोगों का राज्य पंजाब में जमा। यहाँ से ये लोग उज्जैन, काठियावाड़ और महाराष्ट्र देश में फैले। इन लोगों के प्रांतीय शासक क्षत्रप और महाक्षत्रप कहलाते थे। इन क्षत्रपों के राज्यकाल के सिक्के मिले हैं। इन सिक्कों पर एक ओर यावनी भाषा में शासकों के विरुद और नाम लिखे हैं तथा दूसरी ओर उनका अनुवाद ब्राह्मी अक्षरों में है। शक लोगों का राज्य मालवा में स्थापित हो गया था और यहाँ एक क्षत्रप शक लोगों की ओर से रहता था। जबलपुर जिले में भेड़ाघाट नामक स्थान में कुछ प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें लिखा है कि भूमक की लड़की ने इनकी स्थापना की। इससे अनुमान होता है कि भूमक का राज्य यहाँ तक भी रहा होगा। भूमक शक लोगों का एक क्षत्रप था। इसी से जान पड़ता है कि सारे बुंदेलखंड में शक लोगों का आधिपत्य हो गया था। किंतु इन लोगों का राज्य बुंदेलखंड में बहुत दिन नहीं रहा। नासिक के एक शिलालेख में लिखा है कि शालिवाहन वंश के राजा ने शक लोगों को महाराष्ट्र से भगा दिया था। शालिवाहन वंश के राजा का नाम गौतमी पुत्र और शक क्षत्रप का नाम नहपाण था जिसे क्षहराट भी कहते थे। इसी समय तिलंगाने के आंध्रभृत्यों ने शक लोगों को हरा दिया। पुराणों में लिखा है कि कान्वायन वंश के पश्चात्

णाभ्युदयं। (४) च प्रीतोदिशतु ब्राह्मणस्य गोतमस्य क्रमारस्य (कुमारस्य) ब्राह्मणस्य रुद्रदासस्य शिवन्तदपि। (५) समभुतिस्य जीवस्य खंजबलस्य शिवनेमिस्य शिवभद्रस्य क्रमकस्यधतदे। (६) वस्यदा॥ सिंधु के जल-प्रपात के पास धूमेश्वर महादेव का लिंग है। यही धूमघाट है। यह पवायाँ के नैऋ॑त्य में २ मील पर है। यहाँ पर एक मंदिर भी बना हुआ है।

(माधुरी माघ सं० ८२)

आंध्रभृत्यों का राज्य हुआ। इससे पता लगता है कि कान्वायनों के बाद भारतवर्ष के अधिकांश में आंध्रभृत्यों का ही राज्य रहा और इन लोगों ने भारतवर्ष के पूर्व के देशों पर अपना अधिकार अवश्य ही कर लिया होगा। बुंदेलखंड में इनका अधिकार हुआ या नहीं और हुआ तो कितने दिन रहा यह कहना कठिन है। आंध्रराजा पुलुमायी उज्जैन के महाक्षत्रप रुद्रदमन का दामाद था। इन दोनों में भी लड़ाई हो गई थी और आंध्र राजाओं ने जितना भाग पहले क्षत्रपों से ले लिया था वह भाग फिर से रुद्रदमन ने पुलुमायी को हराकर अपने अधिकार में कर लिया। इसलिये यदि बुंदेलखंड में आंध्र राजाओं का अधिकार हुआ भी हो तो वह बहुत दिन नहीं ठहरा। शक लोगों के महाक्षत्रप काठियावाड़ और मालवा में राज्य करते थे। मालवा का पहला महाक्षत्रप चेष्टन था। इसने विक्रम संवत् १३८ में अपनी राजधानी उज्जैन में जमाई थी। इसके पश्चात् इसका नाती रुद्रदमन महाक्षत्रप हुआ जिसने पुलुमायी से लड़ाई की थी। इनकी गद्दी पर बैठने की प्रथा विचित्र ही थी। पिता के मरने पर ज्येष्ठ पुत्र को गद्दी न मिलती थी परंतु उसके मरने पर उनके भाई वयःक्रम के अनुसार गद्दी के अधिकारी होते थे। और सब भाइयों के हो चुकने के पश्चात् बड़े भाई के बड़े लड़के को गद्दी मिलती थी। महाक्षत्रपों ने अपने नाम के सिक्के भी चलाए थे। इनके सिक्कों से इनके वंश और इनके वंश के शासकों का पता चलता है। संवत् ३५८ तक महाक्षत्रपों का राज्य मालवे में रहा।

१३—शक लोगों को उत्तर में पल्हव लोगों से सामना करना पड़ा। पल्हव लोगों के शिलालेख पेशावर में मिले हैं। परंतु ये लोग पंजाब के दक्षिण तक नहीं बढ़े और मालवा तथा बुंदेलखंड में इनका कोई प्रभाव न हुआ। इन लोगों को कुषाण वंशी

तुर्कों ने भारतवर्ष से हटा दिया और फिर भारतवर्ष में कुषाण-वंशी राजाओं का आधिपत्य हो गया।

१४—कुषाण-वंशी राजाओं के सिक्के काबुल, पंजाब और मथुरा के सिवाय मालवा में भी मिले हैं। इसी से जान पड़ता है कि कुषाण राजाओं का राज्य मालवा में भी हो गया था। राजतरंगिणी में कनिष्क, हविष्क और वासुदेव—इन तीन कुषाण-वंशी राजाओं का नाम है और उनके विषय में लिखा है कि वे तुरुष्क वंश के थे। सिक्कों से पता चलता है कि कुषाण-वंश के पहले दो राजा और थे जिनका नाम कुजुल-कड़फाइसेस और बेम-कड़फाइसेस था। इनमें से दूसरा शैव था, क्योंकि इसके सिक्कों पर शिव और नंदी की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। कुषाण-वंश का सबसे प्रतापी राजा कनिष्क हुआ। यह बौद्ध मतानुयायी था। कनिष्क का राज्य गुजरात तक फैल गया था। मालवा में भी कनिष्क का राज्य था, परंतु कनिष्क के मरते ही उसका राज्य मालवा से उठ गया।

१५—बुंदेलखंड में मौर्य साम्राज्य जब तक रहा तब तक शांति रही आई, पर मौर्य साम्राज्य के नष्ट होते ही शुंगों के समय में अवश्य ही राजकीय विग्रह इस देश में होते रहे होंगे। कान्वायनों के राज्य में भी यही दशा रही होगी। इसी समय चेदि देश अपने राजा के आधिपत्य में स्वतंत्र हो गया और ऐसे ही मालवा में गणसत्तात्मक राज्य स्थापित हो गया। फिर शक लोगों का आक्रमण हुआ। उनसे और आंध्रभृत्यों से युद्ध हुआ। इस समय भी बुंदेलखंड में बहुत अशांति रही होगी। परंतु बुंदेलखंड ने इतने आघात सहने पर भी अपनी स्वातंत्र्य-प्रियता न छोड़ी।

१६—इस विग्रह के समय में देश की स्थिति में सभ्यता की दृष्टि से कुछ विशेष उन्नति न हो सकी। इस समय में बौद्ध राजाओं ने बौद्धधर्म का प्रचार किया और दूसरों ने उसे उखाड़ फेकने की

चेष्टा की। अन्य राजाओं का ध्यान भी इसी ओर रहा और उन्नति की ओर विशेष ध्यान न दिया गया। इसी अशांति के समय में मगध में गुप्तराज्य की शक्ति बढ़ी और बुंदेलखंड को भी उस शक्ति के आगे सिर झुका कुछ दिनों तक गुप्तों के आधिपत्य में रहना पड़ा।

अध्याय ३

गुप्त और हूण साम्राज्य

१—मगध देश में बड़े राजघरानों के नाश हो जाने पर छोटे छोटे वैभवहीन राजा रह गए थे। इनमें से एक का विवाह नैपाल के लिच्छवि राजघराने में हो गया। इस राजा का नाम चंद्रगुप्त था। चंद्रगुप्त के पिता का नाम घटोत्कच था। परंतु गुप्त राजवंश का वैभव इसी के समय से ही बढ़ने लगा। लिच्छवि राजवंश से संबंध होने से चंद्रगुप्त को बहुत सहायता मिली। चंद्रगुप्त ने महाराजाधिराज का पद धारण किया और विक्रम संवत् ३७८ में गुप्त नामक संवत्सर का प्रचार किया। चंद्रगुप्त का लड़का समुद्रगुप्त अपने वंश का सबसे प्रतापी राजा हुआ। उसने चंद्रगुप्त मौर्य की नाईं अपने राज्य की सीमा तिलंगाने तक फैलाने का उद्योग किया और अनेक राजाओं को परास्त कर उन्हें मांडलिक बना लिया। उसने जितने प्रदेश जीते उनका हाल इलाहाबाद के उसी स्तंभ पर है जिस पर अशोक का लेख है। उसने पद्मावती के राजा गणपति नाग को अपने अधिकार में करके अपना मांडलिक बना लिया। इस समय पद्मावती में नाग राजाओं का राज्य था। ये समुद्रगुप्त के अधिकार में आ गए। मालवा को भी समुद्रगुप्त ने

अपने अधिकार में कर लिया था। 'इस समय मालवा में कोई खास राजा राज्य नहीं करता था। वरन् वहाँ पर फिर से गणतंत्र राज्य स्थापित हो गया था। झाँसी और ग्वालियर के बीच आभीर लोग रहते थे। इन्हें भी समुद्रगुप्त ने अपने अधिकार में कर लिया था। इस भाग को आजकल अहीरवाड़ा कहते हैं।

२—बघेलखंड के समीप कैमूर पर्वत के पास रहनेवाले मुरुंड लोगों को समुद्रगुप्त ने अपने राज्य में शामिल कर खड़परिखा जाति भी अपने अधीन कर ली थी। यह जाति दमोह जिले में रहती थी। समुद्रगुप्त के शिलालेख में ऐरीकेना प्रदेश का भी नाम है। यह सागर जिले का एरन ग्राम है। यहाँ के राजा से भी समुद्रगुप्त से युद्ध हुआ था और विजय-श्री समुद्रगुप्त को ही मिली थी। उसने इसकी प्रशस्ति भी लिखवाई थी, पर शिला टूट गई है। समुद्रगुप्त के मरने पर चंद्रगुप्त (दूसरा) विक्रम सं० ४३१ में गद्दी पर बैठा। इसने भी अपने राज्य की सीमा चारों ओर बढ़ाई। चंद्रगुप्त के शिलालेख भिलसा के निकट उदयगिरि में मिले हैं। इलाहाबाद के पास गढ़वा और साँची में भी इस राजा के लेख मिले हैं। इससे भी जान पड़ता है कि सारा बुंदेलखंड इसी राज्य में था। जब समुद्रगुप्त दिग्विजय को निकला तो वह सागर जिले से होता हुआ दक्षिण को गया था। जान पड़ता है कि सागर जिला उसे बहुत ही प्रिय लगा, क्योंकि उसने बीना नदी के किनारे एरन में 'स्वभोग नगर' बनाया था। हटा तहसील के सकौर ग्राम में २४ सोने के सिक्के मिले हैं। इन सिक्कों पर गुप्तवंशीय राजाओं के नाम अंकित हैं। ८ मुहरों पर महाराज समुद्रगुप्त का नाम, १५ पर महाराजाधिराज चंद्रगुप्त का नाम और एक पर स्कंदगुप्त का नाम खुदा है।

३—चंद्रगुप्त के मरने पर कुमारगुप्त राजा हुआ। कुमारगुप्त के शिलालेख कई स्थानों पर मिले हैं। दो गढ़वा नामक स्थान में,

एक विलसद में, एक मानकुँअर में, एक मथुरा में और एक मंडसर में मिला है। विलसद एटा जिले में, मानकुँअर इलाहाबाद जिले में और मंडसर मालवा के पश्चिमी भाग में है। इससे कुमारगुप्त के राज्य का विस्तार जाना जाता है। गढ़वा का शिलालेख ४७४ विक्रम-संवत् का है। कुमारगुप्त के पश्चात् स्कंदगुप्त राजा हुआ। स्कंदगुप्त के शिलालेख भी कई स्थानों में पाए गए हैं। स्कंदगुप्त का राज्य भी उतना ही विस्तीर्ण था जितना कि समुद्रगुप्त का था और बुंदेलखंड अवश्य ही उसके राज्य के अंतर्गत था। स्कंदगुप्त के शिलालेखों में हूण लोगों का नाम आया है और एक लेख में लिखा है कि स्कंदगुप्त ने हूण लोगों को हराया। परंतु स्कंदगुप्त के पश्चात् गुप्त-वंश का पतन आरंभ हो गया। स्कंदगुप्त के पश्चात् उसके भाई पुरगुप्त, फिर उसके लड़के नरसिंहगुप्त और फिर उसके लड़के कुमारगुप्त दूसरे ने राज्य किया। इसके पश्चात् जान पड़ता है कि इस वंश का नाश हो गया।

४—हूण लोगों के आक्रमण स्कंदगुप्त के समय से ही आरंभ हो गए थे। स्कंदगुप्त ने हूण लोगों की बढ़ती रोकने का प्रयत्न किया था परंतु इसके पश्चात् हूण लोग भारतवर्ष में घुस आए। स्कंदगुप्त की मृत्यु के चार ही वर्ष पीछे हूणों का राजा तोरमाण एरन में आ गया। उस समय एरन प्रांत स्कंदगुप्त के भाई-बंदों के हाथ में बुधगुप्त नाम के राजा के अधीन था। परंतु बुधगुप्त स्वयं राज-काज न देखता था और उसकी ओर से सुरश्मिचंद्र नामक मांडलिक यमुना और नर्मदा के बीच के प्रांत का शासन करता था। सारा बुंदेलखंड इसी मांडलिक सुरश्मिचंद्र के अधीन था। सुरश्मिचंद्र की ओर से एरन का राज्य चलाने के लिये मैत्रायणीय शाखा के ब्राह्मण मातृविष्णु और धान्यविष्णु नियत थे। इन्हीं के समय में तोरमाण ने विक्रम संवत् ५४२ में अपना आधिपत्य बुंदेलखंड पर

जमाया। एरन के वराह के वक्षस्थल में इसका उल्लेख अभी तक विद्यमान है, परंतु जान पड़ता है कि हूणों का राज्य स्थायी रूप से इस ओर नहीं जमा।

५—एरन में जो सिक्के मिले हैं उनका वर्णन ऊपर हो चुका है। वे सिक्के उस समय के हैं जब एरन में गणसत्तात्मक राज्य था। एरन में एक बड़ा स्तंभ है जो लगभग ३८ फुट ऊँचा है और जिस पर ५ फुट ऊँची दो मूर्तियाँ बनी हैं। इस स्तंभ पर एक लेख भी है। इस लेख में पहले गरुड़वाहनवाले तथा समुद्र में रहनेवाले विष्णु की वंदना है। फिर यह लिखा है कि यह लेख बुधगुप्त के राज्य काल में मैत्रायणीय शाखावाले ब्राह्मण मातृविष्णु और धान्यविष्णु ने अपने माता-पिता के सुख के लिये लिखवाया। इसी स्तंभ के निकट वाराह अवतार का मंदिर है। इसमें वाराह अवतार की एक विशाल मूर्ति है। यह मूर्ति मातृविष्णु के छोटे भाई धान्यविष्णु की बनवाई हुई है। वाराह के वक्षस्थल पर भी एक लेख है। इस लेख में पहले वाराह भगवान् की स्तुति है। फिर उसमें लिखा है कि यह मंदिर तोरमाण के राज्य के पहले वर्ष में मैत्रायणीय शाखावाले ब्राह्मण धान्यविष्णु ने बनवाया। इन दो महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के सिवाय यहाँ और भी कई दर्शनीय मंदिर और मूर्तियाँ हैं। मातृविष्णु के स्तंभ में गुप्त संवत् भी दिया हुआ है। उसी से यह जाना जाता है कि एरन के वाराह मंदिर का समय वि० स० ५४२ था। इस समय तोरमाण ने अपना आधिपत्य बुंदेलखंड पर कर लिया था। स्तंभ से ज्ञात होता है कि मातृ-विष्णु गुप्त लोगों के अधीन था। परंतु उसका भाई धान्यविष्णु तोरमाण हूण का आधिपत्य स्वीकार करके उसके अधीन हो गया था। इन हूणों से गुप्तवंशीय राजाओं का भी इसी एरन में युद्ध हुआ था। यह बात एरन के सती के चौरे से ज्ञात होती है।

इस चौरे पर लिखा है कि भानुगुप्त के साथ सरभ राजा का दामाद गोपराज आया था। वह यहाँ मारा गया और उसकी स्त्री (सरभ राजा की कन्या) सती हो गई थी।

६—हूण राजाओं में केवल दो राजाओं के नाम मिले हैं। पहले तोरमाण के विषय में कुछ लिखा जा चुका है। दूसरा नाम मिहिरकुल का है। यह नाम मंडसर और ग्वालियर के शिला-लेखों में मिला है। ग्वालियर के शिलालेख में मिहिरकुल के राजत्व-काल का संवत् दिया है, पर मंडसर का लेख वि० सं० ५८९ का है। इस लेख से यह ज्ञात होता है कि इसे यशोधर्मन ने हराया था। यह भी मालूम होता है कि यशोधर्मन के पिता विष्णुधर्मन ने अपना राज्य स्थापित कर महाराजाधिराज की पदवी धारण की थी। इससे जान पड़ता है कि हूणों का राज्य ४० वर्ष से अधिक नहीं रह सका। इसी बीच में यशोधर्मन ने इसे नष्ट कर दिया। यशोधर्मन की राजधानी मंडसर में थी और वह सारे उत्तर का शासक था। उसने मगध के राजा से भी मैत्री कर ली थी। इतिहासकार कहते हैं कि इसका राज्य हिमालय से लेकर दक्षिण में ट्रावनकोर तक फैल गया था। इससे यह प्रतीत होता है कि इसका राज्य बुंदेलखंड में अवश्य ही रहा होगा।

७—खोह (उचेहरा के पास) में परिव्राजक महाराज हस्तिन और उसके पुत्र शंखशोभा के कई ताम्रपत्र मिले हैं। इनमें गुप्तसंवत् और वार्हस्पत्य वर्ष अलग अलग दिए हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि परिव्राजक महाराज हस्तिन भी गुप्तों के मांडलिक राजा थे। इन ताम्रपत्रों में परिव्राजक महाराज की वंशावली इस प्रकार दी है—"सुशर्म्मा, देवाढ्य, प्रभंजन, दामोदर, हस्तिन और शंखशोभा।" परि-व्राजक महाराज हस्तिन का समय वि० सं० ५३२ और शंखशोभा का ५७५ है। संभवतः महाराज सुशर्म्मा वि० सं० ४३२ में मौजूद थे।

८—भभूरा ग्राम में एक यष्टि (यज्ञस्तंभ) मिली है। उसमें परिव्राजक महाराज हस्तिन के पुत्र शंखशोभा और राजा सर्वनाथ के नाम आए हैं। परिव्राजक महाराज तो खोह के राजा थे और सर्वनाथ कारीतलाई में राज्य करते थे। ये दोनों समकालीन हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कारीतलाई का राजा भी गुप्तों का मांडलिक राजा था। इस वंश की नामावली इस प्रकार है। ओगदेव-कुमारदेवी, कुमारदेव-जयस्वामिनी, जयस्वामी-रमादेवी, व्याघ्र-देव-अजहितादेवी, जयनाथ और सर्वनाथ। इन दोनों अंतिम राजाओं का राजत्व काल वि॰ सं॰ ४७६ और ४९८ है।

९—दमोह जिले के वटियागढ़ ग्राम में गुलाम नसीरुद्दीन महमूद के समय का एक शिलालेख वि॰ सं॰ १३८५ का मिला है। इसे चेदि देश के सूबेदार जलाल खोजा ने उत्कीर्ण करवाया था यह सूबेदार खड़परिका नामक जाति का सूबेदार भी था। इस जाति का उल्लेख हरिषेण कवि-रचित समुद्रगुप्त के इलाहाबादवाले शिला-लेख में है। इस जाति ने समुद्रगुप्त से युद्ध किया था। यदि संवत् १३८५ वाली खड़परिका जाति ही समुद्रगुप्त के शिलालेख की खड़परिका है तो ऐसा कहना अनुचित न होगा कि यह भी बुंदेल-खंड के दक्षिणी भाग (जंगल) में रहनेवाली एक प्रभावशालिनी स्वतंत्र जाति थी। इसी से यह अनेकानेक राजकीय उलट-फेर होने पर भी लगभग ९०० वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाए रही। शिला-लेख में विक्रम संवत् १३८५ लिखा है इससे यह लेख गुलामवंश के बदले तुगलक वंश का हो सकता है, क्योंकि गयासुद्दीन तुगलक के लड़के मुहम्मद दूसरे का राजत्व-काल इसी संवत् के आस-पास रहा है।

१०—इस समय में शिल्पविद्या की बहुत उन्नति हुई। इस समय के बने मंदिर, स्तंभ और मूर्तियाँ शिल्पोन्नति की साक्षी देती

हैं। जाति-भेद इस समय बढ़ गया था। इसके पहले जितनी स्वतंत्रता जातीय विषयों में थी उतनी अब न रही थी। इस समय जातियों की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। भिन्न भिन्न जातियों के मेल से कई जातियाँ बन गई थीं और कई जातियाँ व्यवसाय के अनुसार भी बन चुकी थीं। इससे इनके संयम भी दृढ़ हो गए थे। राजा अपनी सेना के जोर से चाहे जो कुछ कर सकते थे। इसी कारण कई उदाहरण ऐसे मिलते हैं जहाँ बलशाली मंत्रियों ने राज्य अपने अधिकार में कर अपने इच्छानुसार नीति में फेर-फार कर दिए। इन राजाओं की ओर से प्रांतों के जो शासक होते थे उनको बड़े बड़े अधिकार रहते थे। यमुना से नर्मदा तक के मध्य-प्रांत के शासक सुरश्मिचंद्र और एरन के शासक मातृविष्णु के उदाहरण सामने हैं। संभवतः इसी वंश में जुझौति देश का ब्राह्मण राजा भी पैदा हुआ हो। ये राजकर्मचारी केंद्रस्थ शासकों के कमजोर होते ही स्वयं स्वतंत्र हो जाते थे। ग्राम-संस्थाएँ प्राचीन प्रथा के अनुसार ही अपने मुखिया के अधिकार में थीं और न्यायालय भी उसी प्रकार रहे होंगे जैसे कि मौर्य काल में थे। परंतु इस समय मनुस्मृति जिस रूप में आजकल प्रचलित है उस रूप में आ गई थी। स्मृति के सिवाय और और भी स्मृतियाँ हो गई थीं, इससे कानून भी प्रचलित स्मृति के अनुसार रहता होगा। मनुस्मृति बहुत पुरानी है। इसमें जो फेर-फार हुए हैं उनका पता लगाना असंभव है।

अध्याय ४

हर्षवर्धन का राज्य और कछवाहे

१—यशोवर्धन के राज्य के पश्चात् पंजाब के राजाओं की शक्ति बढ़ने लगी। यहाँ का पहला राजा शिलादित्य था। इसके

पश्चात् हर्षवर्धन हुआ। इसकी राजधानी थानेश्वर थी। प्रभाकरवर्धन का युद्ध मालवा के शासक से हुआ परंतु प्रभाकरवर्धन हार गया। इसके पश्चात् इसका लड़का राज्यवर्धन थानेश्वर की गद्दी पर बैठा। राज्यवर्धन ने फिर भी मालवा के राजा से युद्ध किया परंतु इसे बंगाल के राजा नरेंद्रगुप्त ने हरा दिया। पीछे से इसे राजा ने विश्वासघात से मार भी डाला। राज्यवर्धन के पश्चात् इसका भाई हर्षवर्धन गद्दी पर बैठा। इसे शिलादित्य भी कहते थे। हर्षवर्धन जेठ बदि १२ रविवार वि० सं० ६४७ में उषाकाल के समय पैदा हुआ था[1] और १६ वर्ष की अवस्था में वि० सं० ६६३ में राजगद्दी पर बैठा। हर्षवर्धन ने मालवा अपने अधिकार में कर लिया। हिंदुस्तान का सारा उत्तरीय भाग भी उसके अधिकार में हो गया था। वह बड़ा प्रतापी राजा था। उसके पास बहुत बड़ी शिक्षित सेना थी। उसने सारा राज्य अपने बाहुबल से ही बढ़ाया था।

२—हर्षवर्धन की बहिन का नाम राज्यश्री था। यह कन्नौज के मौखरी राजा गृहवर्म्मा को ब्याही गई थी। जब मालवा के राजा देवगुप्त ने कन्नौज पर चढ़ाई करके गृहवर्म्मा को युद्ध में परास्त कर उसे

(१) हर्ष की जन्मकुंडली—जन्म तारीख ४-६, ५९० इष्टि ४० घड़ी।

११
९
१२
१०
८
१ रा
के ७
चं २
४
६
३ बु. शु. श
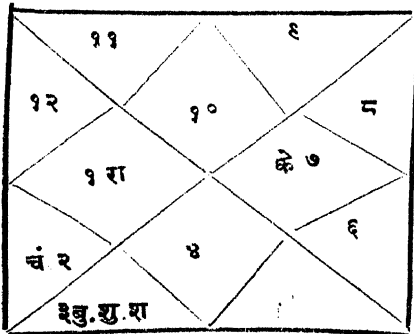
र	चं	मं	बु	गु	शु	श	राहु	केतु
२	१	४	२	२	२	२	०	६
१०	१	१८	१३	१६	१६	१९	२३	२३
५९	५४	२६	६	१५	५४	३७	२९	९

मार डाला तब राज्यवर्धन ने इसका बदला लेने के लिये मालवा पर चढ़ाई की थी। पर जब उसे नरेंद्रगुप्त ने मार डाला तब हर्षवर्धन ने इन दोनों का बदला लेने के लिये मालवा पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई में हर्षवर्धन की विजय हुई, पर राज्यश्री हर्षवर्धन के आने के पूर्व ही वहाँ से चली गई थी। वह पता लगाने पर हर्षवर्धन को एक जंगल में मिली थी। गृहवर्म्मा को कोई संतान तो थी नहीं, इससे हर्षवर्धन थानेश्वर और कन्नौज दोनों का राजा हो गया और उसने कन्नौज में अपनी राजधानी बनाई।

३—हर्षवर्धन ने गद्दी पर बैठने पर अपने नाम का संवत् भी चलाया था। उसके नाम का एक ताम्रपत्र भी मिला है। उसमें हर्षवर्धन की वंशावली दी है। हर्षवर्धन के पिता तो शैव थे पर उसने बौद्धधर्म की दीक्षा ली थी। इससे उसने जीव-हिंसा करना छोड़ दिया था। न वह स्वतः मांस खाता था, न औरों को खाने देता था। यदि कोई खाता तो उसे प्राणदंड की सजा दी जाती थी। वह अपने विस्तीर्ण राज्य का प्रबंध स्वतः दौरा करके करता था। उसके राज्य में बेगार नहीं ली जाती थी। जो आदमी राजा के काम में लगाए जाते थे उन्हें पूरा पूरा पैसा मिलता था। शिक्षा की ओर भी उसका पूरा ध्यान था। वह अच्छा कवि और नाटककार भी था। बौद्ध नाटिका प्रियदर्शिका, नागानंद और रत्नावली नाटिका उसी के बनाए हुए कहे जाते हैं। संभव है कि रत्नावली की रचना में बाण ने कुछ सहायता दी हो। बाण इसी के दरबार का कवि था। इसके प्रसिद्ध ग्रंथ कादंबरी और हर्षचरित्र हैं। हर्ष ने लोगों के उपकार के लिये शहर और बाहर भी धर्मशालाएँ बनाई थीं और इनमें एक एक वैद्य भी रहता था। ये वैद्य बीमारों को बिना मूल्य औषध देते थे। सारा बुंदेलखंड हर्षवर्धन के राज्य में था। यह विक्रम सं० ७०३ में मरा।

४—चीनी यात्री हुएनशियांग हर्षवर्धन के समय में ही भारत-भ्रमण करने के लिये आया था। इसने अपनी यात्रा के वर्णन में जुझौति (बुंदेलखंड), महेश्वरपुरा और उज्जैन में ब्राह्मण राजाओं का राज्य बतलाया है। इस समय जुझौति की राजधानी कहाँ थी, इसका तो पता लगता नहीं; पर लोगों का ऐसा अनुमान है कि एरन ही राजधानी रही होगी, क्योंकि यह प्राचीन राजधानी थी। यहाँ पर बौद्धधर्म-चक्रांकित कई सिक्के और गुप्तकालीन शिलालेख भी मिले हैं। इसी समय में पड़िहार भी बढ़े थे। ये कन्नौज के महाराजा हर्षवर्धन के मांडलिक थे। जान पड़ता है कि पड़िहारों का राज्य दक्षिणी बुंदेलखंड में था। दमोह जिले के दक्षिण भाग में सिंगोरगढ़ का किला पड़िहारों का बनवाया हुआ है। पड़िहार लोग राजपूत थे। इनकी राजधानी पहले मऊ में थी, पर पीछे से उच्छकल्प (उचेहरा) में हुई। यहाँ के राजाओं के पास प्राचीन वंशावली नहीं है। इससे उचेहरा राजधानी का समय निश्चित करना असंभव है।

५—हर्षवर्धन के कोई संतान न थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् सारे साम्राज्य में अराजकता सी फैल गई। इस समय में धार के राज्य की शक्ति बहुत बढ़ी। बुंदेलखंड के पश्चिमी भाग पर भी धार के राजा का अधिकार हो गया था। परंतु किस भाग तक धार के राज्य का अधिकार हो गया था यह कहना कठिन है। इस वंश के प्रथम राजा का नाम उपेंद्र था। पर कोई इसे कृष्ण और कोई भोज भी कहते हैं। इसका राजत्व-काल वि० सं० ८७५ से ८८२ के बीच में माना जाता है।

६—धार के प्रसिद्ध राजा का नाम भोज था। ऐतपुर के शिलालेख से मालूम होता है कि यह राजा भोज गुहादित्य का पुत्र

था[1]। इसी राजा भोज के वंश में नवीं पीढ़ी में वह राजा भोज हुआ है जिसके लिखे हुए कई ग्रंथ प्रचलित हैं। धार के राजा भोज प्रथम के लड़कों का हाल नहीं मालूम होता। पर सीयक दूसरे से जो राजा उपेंद्र की छठीं पीढ़ी में हुआ था कुछ कुछ हाल मिलता है। धार का राज्य कब तक बुंदेलखंड में रहा इसका निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। प्रसिद्ध ग्रंथकर्ता राजा भोज के संबंध में ऐतिहासिक विद्वानों का मतैक्य नहीं है और उसका इतिहास बुंदेलखंड के इतिहास से भी संबद्ध न होने के कारण उक्त विवादग्रस्त विषय की चर्चा करना यहाँ उचित नहीं जान पड़ता।

७—विक्रम संवत् के आरंभ से लगभग ९५० वर्षों के पश्चात् तक कछवाहों के राज्य का कुछ भी विस्तृत हाल हमें नहीं मिलता। वास्तव में यह राजवंश बहुत पुराना है। कछवाहे लोग अपनी उत्पत्ति महाराज रामचंद्र के पुत्र कुश से बतलाते हैं। इसी वंश के सूरजसेन नामक राजा का राज्य कुंतलपुरी (कुटवार) नामक ग्राम के आस-पास था। इस राजा ने संवत् ३३२ में ग्वालियर का किला बनवाया। सूरजसेन कोढ़ी था। इसका कोढ़ ग्वालियर के निकट एक सिद्ध ने अच्छा कर दिया था। इसी सिद्ध के कहने से सूरजसेन ने ग्वालियर का किला बनवाया और इसी सिद्ध के आदेशानुसार अपना नाम सूरजपाल रख लिया। फिर सूरजपाल के वंशजों ने भी अपने नाम के आगे 'पाल' शब्द लगाया।

(१) इतिहास में भोज नाम के कई राजाओं का नाम आया है। उड़ीसा में भी भोज नाम का राजा था जिसने विक्रम संवत् के पहले राज्य किया था। बंगाल में तीन राजा भोज नाम के हुए। कर्नल टॉड ने मालवा के भोज प्रमार का वर्णन किया है। भोज प्रमार का राज्य संवत् ६३१ के लगभग रहा। धार के भोज का भी वर्णन टॉड साहब ने किया है। धार के इस भोज का शासन संवत् ७२१ से आरंभ होता है।

सूरजपाल के पश्चात् इस वंश का चौरासीवाँ राजा तेजकर्ण नाम का था। इसके समय में कछवाहों का राज्य कन्नौज के राजा भोज पड़िहार के अधीन हो गया।

८—तेजकर्ण के कुछ वर्षों पश्चात् वज्रदामा नामक राजा का हाल मिलता है। इसने कन्नौज के पड़िहार राजा से ग्वालियर छीन लिया और उस पर अपना अधिकार कर लिया। किंतु यह राजा तत्कालीन चंदेल राजा के अधीन रहा होगा। अलबरूनी का यह कहना कि उस समय चंदेल राज्य में ग्वालियर और कालिंजर दो मुख्य गढ़ थे ठीक जान पड़ता है। वज्रदामा के पिता का नाम लक्ष्मण था। इस समय कछवाहा राजवंश की दो शाखाएँ थीं। एक शाखा का राज्य जयपुर की ओर था और दूसरी शाखा यह थी जिसका राज्य नरवर के आस-पास था।

९—वज्रदामा का पिता लक्ष्मण जैन था परंतु वज्रदामा वैष्णव था। वज्रदामा के राज्यकाल का आरंभ अनुमान से विक्रम संवत् १००७ या १०३४ से होता है। वज्रदामा के पश्चात् मंगलराज और मंगलराज के पश्चात् कीर्तिराज का राज्य हुआ। कीर्तिराज के राज्य-काल का आरंभ विक्रम संवत् १०४७ के लगभग होगा। कीर्तिराज बड़ा प्रतापी राजा था। इसने मालवा के राजा को परास्त करके उस देश पर अपना अधिकार जमा लिया। पश्चिमी बुंदेलखंड पर भी कछवाहों का अधिकार था। कीर्तिराज के समय में महमूद गज-नवी ने ग्वालियर पर चढ़ाई की थी। कीर्तिराज ने उसकी अधी-नता स्वीकार करके अपने राज्य की रक्षा की।

१०—कीर्तिराज के पश्चात् भुवनपाल राजा हुआ। इसे कोई कोई त्रिलोकपाल और भुवनपाल भी कहते हैं। भुवनपाल बड़ा दानी और धनुर्विद्या-विशारद था। भुवनपाल के पश्चात् देवपाल उपनाम अपराजित और देवपाल के पश्चात् उसका पुत्र पद्मपाल

राजा हुआ। पद्मपाल बड़ा धार्मिक और भक्त राजा था। पद्म-पाल के पश्चात् उसका भतीजा महिपाल राजा हुआ। महिपाल बड़ा दानी राजा था। शिलालेखों से जान पड़ता है कि महिपाल ने जैन और वैष्णव मंदिरों को बहुत सा दान दिया था। वह संवत् ११५० में जीवित था। ग्वालियर के सास-बहू मंदिर में इसके नाम का संवत् ११५० का एक शिलाशेख है। इनकुंड के जैन मंदिर में भी कछवाहों के शिलालेख मिलते हैं। ग्वालियर का सास-बहू का मंदिर वैष्णव मंदिर है। इससे जान पड़ता है कि इस राजा के समय से कछवाहे वैष्णव हो गए थे। महिपाल के पश्चात् त्रिभुवनपाल (उपनाम मनोरथ) राजा हुआ। मनोरथ मथुरा में रहना पसंद करता था और कायस्थों को बहुत चाहता था। ग्वालि-यर गजट में इस मनोरथ को मधुसूदन लिखा है। इसने संवत् ११६१ में ग्वालियर में महादेव का एक मंदिर बनवाया था। मनो-रथ के पश्चात् उसका पुत्र विजयपाल सिंहासन पर बैठा। इसके राजत्व-काल का संवत् ११९० है। विजयपाल के पश्चात् सूरपाल और उसके पश्चात् अनंगपाल का नाम मिलता है। इसका उत्तरा-धिकारी सोलेखपाल था, जिसे संवत् १२५३ में शहाबुद्दीन ने ग्वालि-यर के किले में घेर लिया था किंतु ग्वालियर गजेटियर में लिखा है कि संवत् ११८६ में पड़िहारों ने यह किला कछवाहों से छीन लिया था। इससे प्रकट होता है कि सोलेखपाल पड़िहार होगा। अंत में कुतुबुद्दीन ने इस किले पर अपना अधिकार कर लिया। किंतु यह किला पुनः पड़िहारों के हाथ में आ गया और फिर अल्तमश के अधिकार में चला गया। कछवाहों की एक शाखा इनकुंड में बहुत दिनों तक राज्य करती रही। इनके दो शिलालेख मिले हैं, जिनमें युवराज अभिमन्यु, विजयपाल, विक्रमसिंह राजाओं का उल्लेख है।

जालौन
हमीरपुर
नरवर
झाँसी
ओरछा
ज झौ ति
बांदा
मारफा
कालिंजर
चंदेरी
खजुराहा
अजयगढ़
देवगढ़
पन्ना
एरन
भारहुट
डा ह ल
कारीतलाई
सागर
दमोह
ग्यारसपुर
सिंगौरगढ़
बिलहरी
बांधोगढ़
तेवर
चे दि
जबलपुर

जझौति और चेदि

[अ० ५
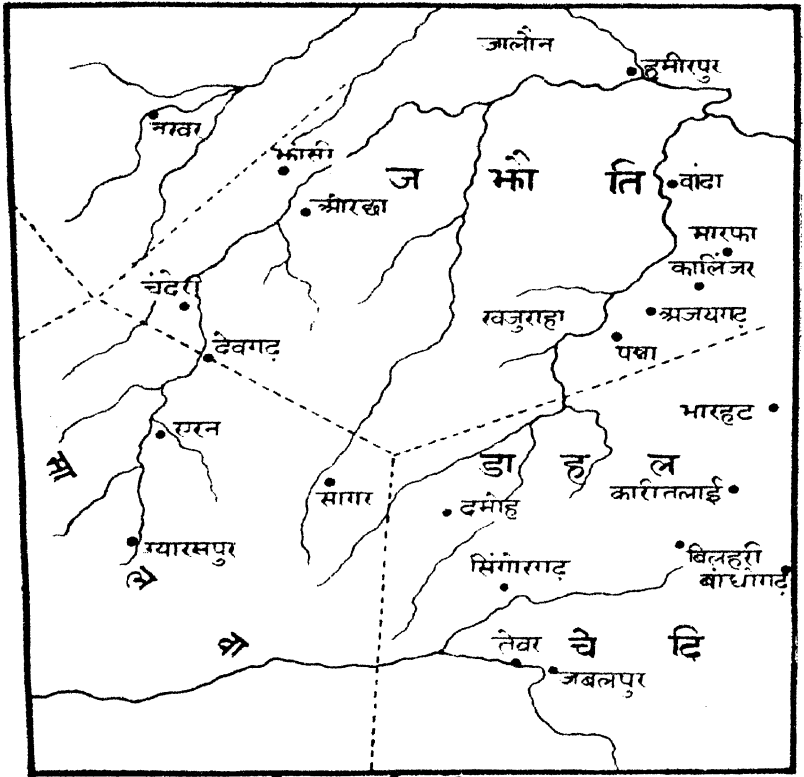
अध्याय ५

चेदि राज्य

१—प्राचीन समय में बुंदेलखंड के दक्षिण और पूर्व का प्रदेश यादववंशी राजाओं के अधिकार में था। इनकी राजधानी महिष्मती थी। यादव-वंशी प्रसिद्ध पराक्रमी राजा सहस्रार्जुन यहाँ राज्य करता था। यह वही सहस्रार्जुन है जिसने एक बार लंकाधिपति रावण को बाँध रखा था। सहस्रार्जुन की संतान आगे चलकर हैहय वंश के नाम से प्रसिद्ध हुई। महाभारत के समय में हैहयों का राज्य बहुत विस्तीर्ण हो गया था। उस समय महिष्मती में राजा नील राज्य करता था। यह नील कौरवों की ओर से युद्ध में लड़कर मारा गया। महाभारत काल का प्रसिद्ध राजा शिशुपाल भी हैहयवंशी था। वह चेदि देश का राजा था। जान पड़ता है यह चेदि नाम शिशुपाल के पितामह चिदि के नाम से हुआ है। चिदि का पुत्र दमघोष था। दमघोष के पीछे शिशुपाल सिंहासन पर बैठा जो अपने अयोग्य आचरण के कारण श्रीकृष्ण के हाथों मारा गया।

२—पीछे से इन्हीं हैहयवंशी क्षत्रिय राजाओं ने नर्मदा-तटस्थ डाहल मंडल, महाकोशल, कर्णाट आदि पर अपना अधिकार जमाया। इन देशों की राजधानी पहले त्रिपुर और तुमान रही। फिर मध्य-प्रदेश के इन हैहयों की दो शाखाएँ हो गईं। दूसरी शाखा ने नर्मदा के ही किनारे त्रिपुरा को अपनी राजधानी बनाया। यह शाखा इतिहास में चेदि के कलचुरियों के नाम से प्रसिद्ध है। कलचुरियों की यह शाखा कब बनी और ये लोग त्रिपुरी जाकर कब बस गए इसका कुछ निश्चय नहीं। परंतु तेवर में जो सिक्के मिले हैं वे कोई कोई एक हजार वर्ष से अधिक पुराने हैं। तेवर जबलपुर से ६ मील दूर एक छोटा सा गाँव है। प्राचीन पौरंदरी समान

त्रिपुरी थी। किंतु अब यहाँ के निवासी कलचुरियों का नाम भी नहीं जानते।

३—आज तक जितने शिलालेख मिले हैं उनमें इस देश का नाम चेदि ही लिखा है। चेदि का राजवंश कलचुरि वंश के नाम से विख्यात है। कविवर चंद ने राजपूतों की ३६ जातियाँ लिखी हैं। उनमें से एक जाति का नाम कलचर भी है। संभव है कि कलचुरि कलचर का ही बदला हुआ रूप हो। कलचुरि संवत् विक्रम संवत् के ३०५ वर्ष बाद शुरू हुआ। लुइस राइस संगृहीत "मैसूर के शिलालेख" नाम की पुस्तक के २२६ पृष्ठ में लिखा है कि कलचुरि राजा कृष्णराज ने कालिंजर पर अधिकार जमाकर कालिंजरपुरवराधीश्वर की उपाधि धारण की। वह कालिंजरपुर के राजा को मार वहाँ का अधिकारी बन गया। पर कलचुरि राजवंश के राजाओं के शिलालेखों से इस राज्य का जमानेवाला कार्तवीर्य राजा जान पड़ता है। चालुक्य-वंशी राजा मंगल (मंगलीस) के शिलालेख से दो कलचुरि राजाओं का हाल मिलता है। यह शिलालेख वि० सं० ६०८ का जान पड़ता है। इस लेख में लिखा है कि चालुक्य राजा मंगल ने शंकरगण के पुत्र बुद्धराज को हरा दिया। यह बुद्धराज शंकरगण का पुत्र चेदिराज वंश का ही होना चाहिए। चालुक्य राजाओं के दो लेख और भी मिले हैं। इनमें कलचुरि राजाओं से चेदि देश छीनने का हाल है। इसके बाद का हाल नहीं मिलता।

४—कलचुरि राजाओं की लगातार वंशावली कोकल्लदेव राजा के समय से मिलती है। इन राजाओं के नाम के शिलालेख बिलहरी और बनारस में मिले हैं। बनारस के लेख से ज्ञात होता है कि कोकल्लदेव ने नंदादेवी चंदेल कन्या से विवाह किया। बनारस तथा बिलहरी दोनों शिलालेखों में कन्नौज के राजा भोजदेव के साथ

के युद्ध का वर्णन है[1]। इस समय कन्नौज में भोजदेव राजा राज्य करता था। भोजदेव का राज्य-काल लगभग विक्रम संवत् ९१९ से ९६० तक रहा होगा, क्योंकि भोजदेव का सब से पहला शिलालेख देवगढ़[2] के किले पर खुदा है और उसमें विक्रम संवत् ९१९ दिया है। भोजदेव के और भी लेख ग्वालियर और पहेवा में मिले हैं। बनारस के ताम्र-लेख में भोजदेव के पुत्र महेंद्रपालदेव का भी नाम आया है। इन लेखों से कोकल्लदेव का राज्य-काल और उसके समकालीन राजाओं का हाल ज्ञात होता है। बिलहरी के लेख में एक युद्ध का वर्णन और भी है। वह युद्ध कोकल्लदेव ने दक्षिण के कृष्णराज से किया था। यह कृष्णराज राष्ट्रकूट वंश का था। इसने कोकल्लदेव की लड़की महादेवी के साथ ब्याह किया था। इन सब राजाओं के वर्णन से जान पड़ता है कि कोकल्लदेव का राज्य-काल विक्रम संवत् ९१९ से ९६० तक रहा होगा। कोकल्लदेव के राज्य का विस्तार भी बनारस तक चला गया होगा, क्योंकि इसका एक शिलालेख वहाँ भी मिला है। इस राजवंश का सबसे बड़ा प्रतापी राजा यही था।

५—कोकल्लदेव के पुत्र का नाम मुग्धतुंग था। कोकल्लदेव के पश्चात् यह राजगद्दी पर बैठा। इसका नाम भी बिलहरी के शिलालेख में है। उसमें लिखा है—जब वह दिग्विजय को निकला तब वह कौन सा देश है जिसको उसने नहीं जीता? उसका चित्त मलय की ओर खिंचा, क्योंकि समुद्र की तरंगें वहीं अपनी कला दिखलाती हैं, वहीं केरल की युवतियाँ क्रीड़ा करती हैं, वहीं भुजंग चंदन

(१) Alexander Cunningham: Archæological Survey of India. Tour in the Central Provinces, Vol. IX., Page 82.

(२) यह झाँसी जिले में ललितपुर के पास है।

के वृक्षों की सुगंध लूटते हैं। इसके समय में इसके राज्य का कुछ भाग कृष्ण परमार के हाथ में चला गया। इस समय मालवा में परमार लोगों का राज्य था। कृष्णराज इसी परमार वंश का था। भिलसा जिले में मिले हुए एक लेख से ज्ञात होता है कि राजा कृष्ण के मंत्री कौंडिन्य वाचस्पति ने दो नगर चेदिराज से जीत लिए। परमारवंश का राजा कृष्ण मुग्धतुंग के समय में ही था।

६—मुग्धतुंग के पश्चात् उसका पुत्र बालहर्ष राजा हुआ, किंतु वह शीघ्र मर गया। उसके बाद उसका भाई केयूरवर्ष सिंहासन पर बैठा। इसका वर्णन भी बिलहरी के लेख में है। इसकी रानी का नाम नोहला था। यह चालुक्य वंश की थी। इस रानी ने शिव का एक मंदिर बनवाया था और उसके खर्च के लिये सात गाँव दिए थे इन गाँवों में से पोंड़ी नामक गाँव अभी तक इस मंदिर के लिये लगा हुआ है। केयूरवर्ष भी बड़ा दानी राजा था। इसने एक मठ के लिये तीन लाख गाँव लगा दिए। यह मठ गोलकी मठ कहलाता है। तेवर के निकट नर्मदा के किनारे एक मठ है। पुरातत्त्वविद इसी को गोलकी मठ कहते हैं। केयूरवर्ष का राज्य विक्रम संवत् ९८० से १००० तक रहा होगा। केयूरवर्ष का दूसरा नाम युवराज लिखा है। इसकी लड़की कंदका देवी का विवाह राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष के साथ हुआ था।

७—युवराज के पश्चात् लक्ष्मणदेव नाम का राजा सिंहासनारूढ़ हुआ। बिलहरी के लेख से जान पड़ता है कि लक्ष्मण केयूरवर्ष का पुत्र था और वह केयूरवर्ष के बाद ही राजगद्दी पर बैठा। लक्ष्मणदेव ने कोशल राज्य को जीत लिया और उड़ीसा राज्य पर आक्रमण करके वहाँ से कालिया नाग लाकर शिवजी के मंदिर सोमनाथ (सौराष्ट्र) में चढ़ा दिया। नोहला रानी के बनवाए मंदिर के प्रबंध के लिये इसने हृदयशिव नाम के एक पुजारी को

नियत किया। बिलहरी के निकट एक तालाब लक्ष्मण-सागर नाम का है जो इसी राजा का बनवाया कहा जाता है। चालुक्य देश के एक लेख से मालूम होता है कि वहाँ के राजा विक्रमादित्य ने चेदि देश के राजा लक्ष्मण की पुत्री से विवाह किया था। आस-पास के समकालीन राजाओं का विचार करके अनुमान किया जाता है कि लक्ष्मणदेव का राज्य-काल विक्रम संवत् १००० से १०२५ तक रहा होगा।

८—बनारस और बिलहरी के लेखों से ज्ञात होता है कि लक्ष्मण के दो पुत्र थे। इनमें बड़े का नाम शंकरगण और छोटे का युवराज था। बिलहरी का लेख युवराज के समय का ही है। इससे इसमें युवराज के समय तक का ही हाल है। यह लेख बिलहरी के नोहला रानी के मंदिर से मिला है और इसमें मंदिर के पुजारियों का भी हाल दिया है। यह लेख अब नागपुर के अजायबघर में है।

९—बनारस के लेख से जान पड़ता है कि लक्ष्मण के पश्चात् युवराज राजा हुआ। भिलसा के समीप उदयपुर नामक स्थान में मालवा के परमार राजा भोज का एक शिलालेख मिला है। मालवा में परमार राजाओं का राज्य था। कृष्ण परमार का वर्णन ऊपर हो चुका है। भोज परमार इसी कृष्ण परमार के वंश का था भोज परमार के काका का नाम वाक्पति था। भोज के पहले भोज का काका वाक्पति परमार (मुंज) मालवा में राज्य करता था। उदयपुर के शिलालेख में लिखा है कि वाक्पति ने युवराज को हराकर त्रिपुर ले लिया। इससे जान पड़ता है कि वाक्पति और युवराज सम-कालीन थे। त्रिपुर परमारों के पास नहीं गया, परंतु युद्ध अवश्य हुआ। युवराज का राज्यकाल विक्रम संवत् १०२५ से १०५० तक रहा। मुंज संवत् १०३१ में राजगद्दी पर बैठा था, ऐसा उज्जैन के शिलालेख से पता लगता है।

१०—युवराज के मरने पर उसका पुत्र कोकल्लदेव (दूसरा) गद्दी पर बैठा। कोकल्लदेव बड़ा पराक्रमी था। इसने अपने राज्य को बढ़ाया था।

११—कोकल्लदेव (दूसरे) के पश्चात् उसका पुत्र प्रसिद्ध गांगेय-देव अपने पिता की राजगद्दी पर बैठा। यह बड़ा प्रभावशाली राजा था। इसके नाम का एक ताम्रलेख जबलपुर के निकट कुम्हीं नामक स्थान में मिला है। उस ताम्रलेख में गांगेयदेव के विषय में यह लिखा है कि गांगेयदेव प्रयाग के निकट अक्षयवट के नीचे मरे और उनके पश्चात् उनकी १५० रानियाँ सती हो गई[१]। इस राजा का युद्ध कन्नौज के राठौर राजाओं से हुआ था। कहा जाता है कि कन्नौज के राठौर राजाओं ने गांगेयदेव को प्रयाग में बंदी बना लिया था और यहीं उनका देहांत हुआ। परंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। इसका कोई विश्वसनीय प्रमाण भी नहीं मिला है। गांगेयदेव ने सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के चलाए थे जिन पर एक ओर दुर्गादेवी की मूर्ति और दूसरी ओर श्रीमान् गांगेयदेव का नाम है। इससे परमार राजा भोज से युद्ध हुआ था जिसमें भोज की जीत हुई थी।

१२—गांगेयदेव के पश्चात् उसका लड़का कर्णदेव गद्दी पर बैठा। कर्णदेव अपने बाप से भी अधिक प्रतापी निकला। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ काशीप्रसाद जायसवाल उसे भारतीय नेपोलियन कहते हैं। उसने भारतवर्ष के सभी राज्यों पर आक्रमण किया और उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। पांड्य, थोड़, पुरल, कीर, कुंग, बंग, कलिंग, गुर्जर, हूता आदि सभी ने कर्ण के सामने अपना माथा नवाया। रासमाला में लिखा है कि १३६ राजा उसके चरणकमल

---

(१) A. Cunningham: Archæological Survey of India. Tour in the Central Provinces, Vol. IX, page 87.

की पूजा करते थे। कर्ण ने राज्य पाते ही दस बारह वर्ष के भीतर सारे भारतवर्ष में अपना सिक्का जमा लिया था। वह राजा इतना प्रतापी हो गया है कि कर्ण डहरिया अर्थात् 'डाहल का कर्ण' के नाम से अब कहावतों में प्रसिद्ध है। डाहल मंडल कर्ण का पैतृक देश था। इसके समय में त्रिपुरी समस्त भारतीय शक्ति का केंद्र बन गई थी और कलचुरि वंश की कीर्त्ति सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई थी। इसके समय का एक ताम्रलेख बनारस में मिला है। कर्ण-देव के समय में मालवा में भोज परमार और चालुक्य देश में भीम-राज का राज्य था। कर्ण ने भोज परमार को हराया था और उसके राज्य पर चढ़ाई की थी। जबलपुर के ताम्रलेख से जाना जाता है कि कर्णदेव ने आंध्र के राजा भीमेश्वर को हराया। भीमेश्वर चालुक्य देश का भीम राजा ही है। कुम्हीं के ताम्रलेख से ज्ञात होता है कि कर्णदेव ने कर्णावती नामक नगर बसाया था। यह कर्णा-वती आजकल का कारीतलाई स्थान है या करनबेल, इसमें मतभेद है। कारीतलाई में कई मंदिर हैं और उसके स्थान को कर्णपुर कहते हैं। यहाँ के मंदिर राजा कर्ण के बनवाए कहे जाते हैं। कर्ण का युद्ध चंदेलराज कीर्तिवर्मा से हुआ था। इस युद्ध में चंदेलराज कीर्तिवर्मा ने कर्णदेव को हरा दिया था। उसका उल्लेख कीर्तिवर्मा के समय में रचित प्रबोधचंद्रोदय नाटक में है। कालिंजर के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि चंदेल राजा ने कर्णदेव को हराकर दक्षिण का प्रदेश जीता था। मऊ के एक लेख में इस कीर्तिवर्मा की विजय का हाल है। इन लेखों का वर्णन चंदेल राजाओं के वर्णन के समय किया जायगा। अभी केवल इतना ही कहना है कि चंदेलराज कीर्तिवर्मा और चेदिराज कर्णदेव समकालीन थे। कर्ण का कितना प्रदेश कीर्तिवर्मा ने ले लिया था यह निश्चय रूप से नहीं कह सकते। कर्णदेव का राज्यकाल विक्रम

संवत् ११०० से ११२५ तक रहा होगा। ऐसा भी पता लगता है कि इसने गुजरात के चालुक्य राजा भीम की सहायता से धार के परमार राजा भोज के साथ युद्ध किया था और उसकी मृत्यु के पश्चात् इन दोनों ने दुबारा धार नगरी पर आक्रमण किया था। इस समय भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह था। यह इस युद्ध में मारा गया। पीछे से संधि हो गई। इसका विवाह चेदि राजवंश में हुआ था।

१३—कर्णदेव के पश्चात् उसका पुत्र यशःकर्ण राजा हुआ। इसके समय से कलचुरी वंश का ह्रास होने लगा। इसके नाम का कोई लेख चेदि देश में नहीं मिला। पर इसका नाम राठौर वंश के एक ताम्रपत्र में आया है। इसमें लिखा है कि यशःकर्ण ने रुद्रशिव को एक ग्राम दिया था। यह गाँव रुद्रशिव ने कन्नौज के राजा गोविंद-चंद्र के सामने एक दूसरे व्यक्ति को दे दिया था। इससे इसके राज्यकाल का पता लगता है। अनुमान से इसका राजत्व-काल विक्रम संवत् ११२५ से ११५० तक जान पड़ता है। इससे और परमार राजा उदयादित्य के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मणदेव से युद्ध हुआ था। इसके छोटे भाई का नाम नरवर्म्मा था।

१४—यशःकर्ण का पुत्र गयाकर्ण था जो यशःकर्ण के पश्चात् राजगद्दी पर बैठा। इसके राजत्व-काल में इसका पुत्र नरसिंहदेव युवराज था। जबलपुर के ताम्रलेख में इसका नाम आया है। गयाकर्ण का विवाह मालवा के राजा उदयादित्य की नातिन अलहन-देवी से हुआ था। इसकी माता का नाम श्यामलादेवी था। यह मेवाड़ के गुहिल राजा विजयसिंह की कन्या थी।

१५—गयाकर्ण के पश्चात् उसका लड़का नरसिंहदेव गद्दी पर बैठा। इसके राज्यकाल में इसका छोटा भाई जयसिंहदेव राज्य का बहुत सा कार्य किया करता था। कुम्हीं के ताम्रपत्र में जयसिंह-

देव के अभिषेक का वर्णन है जिससे जान पड़ता है कि नरसिंहदेव के पश्चात् उसका भाई जयसिंहदेव गद्दी पर बैठा था।

• १६—जयसिंह का पुत्र विजयसिंह था जो जयसिंह के पश्चात् राजा हुआ। इसकी स्त्री का नाम गोशलदेवी था, जैसा कि एक शिलालेख से जान पड़ता है। इसका एक शिलालेख चेदि संवत् ९३२ का मिला है। इसके लड़के का नाम अजयसिंह था, यह भी शिलालेखों में आया है। चेदि संवत् ९३२ (विक्रम संवत् १२३८) के पश्चात् कोई लेख इन राजाओं के नहीं मिलते।

१७—मालवा के राजाओं के आक्रमण चेदि देश पर बहुत पहले से ही आरंभ हो गए थे। उत्तर में भी चंदेलों की शक्ति बढ़ गई थी और खजुराहो तथा कालिंजर पर इनका अधिकार हो गया था। अंत में इन लोगों ने कलचुरि राजवंश का नाश करके अपना आधिपत्य सारे बुंदेलखंड पर जमा लिया। पूर्व में बघेले आगे बढ़े और उन्होंने चेदि देश का शेष भाग अपने अधिकार में कर लिया। अब केवल हैहयवंशी राजपूत रह गए हैं जिनके वंशज जबलपुर और नरसिंहपुर जिले में पाए जाते हैं। किस प्रकार चेदि देश का भाग धीरे धीरे चंदेलों के हाथ में आया, इसका वर्णन आगे के चंदेल राजवंश के वर्णन के साथ किया जायगा। परंतु यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि कलचुरियों का राज्य दमोह के पश्चिम और कालिंजर के उत्तर को नहीं बढ़ा। सागर जिले में कलचुरियों का राज्य नहीं रहा। यह पहले मालवा प्रांत का भाग समझा जाता था। धार के परमार राजाओं के अधिकार में सागर बहुत दिनों तक रहा। राहतगढ़ धार के राजाओं के समय में एक मुख्य स्थान था। धार के राज्य में यह विक्रम संवत् की चौदहवीं शताब्दी तक रहा।

शिलालेखों से तथा अन्य लेखों से चेदि देश के राजाओं का जो पता चला है उनके नाम और संवत् नीचे दिए जाते हैं।

कलचुरि राजाओं के नाम

चेदि सं०	विक्रम सं०	राजाओं के नाम
०	३०६	चेदि या कलचुरि संवत् का आरंभ
१	३०७	
		काकवर्ण (चेदि का राजा, इसे शिशुपाल के वंशजों ने मारा।)
२७१	५५७	शंकरगण (चेदि का राजा)
३०१	६०७	बुद्ध (चेदि का राजा। इसका लड़का मंगल चालुक्य से हारा।)
४३१	७३७	हैहय(जिसको विनयादित्य चालुक्य ने हराया।)
४८१	७८७	हैहय (की राजकुमारी लोक महादेवी का विवाह विक्रमादित्य (दूसरा) चालुक्य के साथ हुआ।)
६२६	९३२	कोकल्ल (पहला) (कन्नौज के राजा भोज का समकालीन)
६५१	९५७	मुग्धतुंग
६७६	९८२	युवराज
७०१	१००७	लक्ष्मण ने बिलहरी में लक्ष्मणसागर नामक तालाब बनाया।
७२६	१०३२	युवराज (वाक्पति का समकालीन)
७५१	१०५७	कोकल्ल (दूसरा) गंडदेव का समकालीन
७७१	१०७७	गांगेयदेव
७९१	१०९७	कर्णदेव (भोज का समकालीन)
८३१	११३७	यशःकर्ण
८६६	११७२	गयाकर्ण
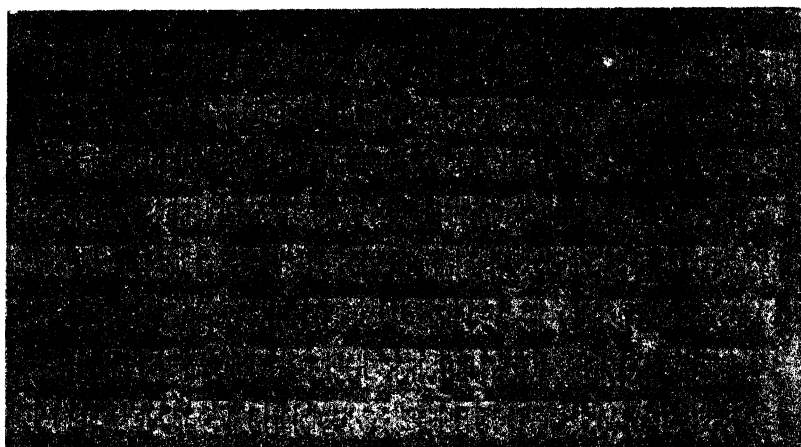
देवगृह के मंदिर के निकट मिला हुआ कीर्तिवर्म्मा का शिलालेख

[अ० ६

चेदि सं०	विक्रम सं०	राजाओं के नाम
९०२	१२०८	नरसिंहदेव
९३०	१२३६	जयसिंहदेव (भाई)
९३२	१२३८	विजयसिंहदेव

अध्याय ६

चंदेलों का राज्य (परमाल के समय तक)

१—हर्षवर्धन के साम्राज्य के नष्ट होने के पश्चात् बुंदेलखंड के उत्तरीय भाग में ब्राह्मण राजवंश का राज्य बहुत दिनों तक रहा। इस राजवंश का पूरा वर्णन कहीं नहीं मिलता। बहुत दिनों के पश्चात्, जब कि चेदि देश में कोकल्लदेव (पहले) का राज्य था, उत्तर बुंदेलखंड में चंदेलों का राज्य और मालवा में परमारों का राज्य पाया जाता है। इस समय में नरवर (ग्वालियर) में कछवाहा राजपूत लोग और कन्नौज में भोजदेव और फिर उसके वंशजों का राज्य था। चंदेलों के पहले बुंदेलखंड में पड़िहार लोगों का राज्य था। ये लोग बहुत दूर के गुर्जर लोगों की एक शाखा थे और परमार लोग, जो मालवा में राज्य करते थे, गुर्जर लोगों की दूसरी शाखा के थे। इन राजघरानों का बहुत सा हाल अब पुस्तकाकार निकल चुका है।

२—जो देश चंदेल लोगों के अधिकार में रहा वह धसान नदी के पूर्व में और विंध्याचल पर्वत के उत्तर और पश्चिम में था। उत्तर में वह यमुना नदी तक और दक्षिण में केन नदी के उद्गम-स्थान तक फैला हुआ था। केन नदी इस देश के बीच में से

बहती है और महोबा तथा खजुराहो इसके पश्चिम में और कालिं-जर तथा अजयगढ़ इसके पूर्व में हैं। इस प्रदेश में आज-कल के बाँदा और हमीरपुर जिले तथा चरखारी, छत्रपुर, बिजावर, जैतपुर, अजयगढ़ और पन्ना की रियासतें हैं। चंदेल राजाओं ने अपनी उन्नति के दिनों में इस प्रांत की सीमा पश्चिम में बेतवा नदी तक बढ़ा ली थी।

३—कहा जाता है कि चंदेल लोगों का वंश चंद्रमा से चला है। चंद्रमा ने काशी के गहरवार राजा के पुरोहित की कन्या हेमवती से एक पुत्र उत्पन्न किया जिसने महोबा में अपना राज्य जमाया। इस चंद्रमा के पुत्र का नाम चंद्रवर्मा था। इस कथा की सत्यता जाँचने के लिये कोई ऐतिहासिक साधन नहीं है। केवल राजा धंगदेव का एक शिलालेख मिला है। इस लेख में चंदेल वंश का चलानेवाला नन्नुक नाम का एक पुरुष बताया गया है। पर कथानकों में चंदेल वंश के आदिपुरुष चंद्रात्रेय का भी उल्लेख आता है। चंदेलों के प्रांत का नाम (जयशक्ति) जेजा के नाम पर से जेजाभुक्ति या जेजाकभुक्ति पड़ा था। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि वैदिक काल में यजुर्वेदीय कर्मकांड का पहले पहल यहाँ अभ्युदय होने के कारण यह प्रदेश यजुर्होति कहलाया जिससे बिगड़कर जोजभुक्ति बना। पूर्व में इसे जुझौति या जुझौती भी कहते थे। जेजा (जयशक्ति) वाक्पति का ज्येष्ठ पुत्र है। इसके छोटे भाई का नाम विजयशक्ति था।

शिलालेखों में चंदेल राजा नानुकदेव के पहले के राजाओं का कोई वर्णन नहीं मिलता। चंदेल वंश के जिन राजाओं का हाल मिला है उनके नाम और संवत् नीचे दिए जाते हैं—

विक्रम संवत्	राजाओं के नाम
८५७	नानुकदेव
८८२	वाक्पति

[वि]क्रम संवत्	राजाओं के नाम
...	विजय
...	राहिल
...	हर्षदेव
९८२	यशोवर्मादेव
१०१०	धांगादेव
१०५६	गंडदेव
१०८२	विद्याधरदेव
१०९७	विजयपालदेव
११०७	देववर्मादेव
११२०	कीर्तिवर्मादेव
११५५	हलक्षणवर्मादेव (पहला)
११६७	जयवर्मादेव
११७७	हलक्षणवर्मादेव (दूसरा)
११७९	पृथ्वीवर्मादेव
११८६	मदनवर्मादेव
१२८२	परमर्द्धिदेव
१२५९	त्रैलोक्यवर्मादेव
१२९७	वीरवर्मा (पहला)
१३०९	भोजवर्मा
१३५७	वीरवर्मा (दूसरा)
१३८७	शशांक भूप
१४०३	भिलमादेव
१४४७	परमर्दि

विक्रम संवत्	राजाओं के नाम
... ...	... ...
... ...	... ...
१५७७	कीरतसिंह
... ...	... ...
... ...	... ...

४—नन्नुक, वाक्पति और विजयशक्ति इन तीन राजाओं के समय का कोई हाल नहीं मिलता, केवल नाम ही नाम मिलते हैं। अवश्य नन्नुक के विषय में लिखा है कि इसने पड़िहारों को मऊ के युद्ध में परास्त किया था, जिससे कुछ तो दशार्ण (धसान) नदी के पश्चिम की ओर चले गए और कुछ दक्षिण की ओर आए। जो लोग दक्षिण की ओर आए उन लोगों ने प्राचीन तेली राजा को परास्त कर अपना राज्य जमाया और उचेहरा राजधानी नियत की। इसी युद्ध से चंदेलों के राज्य की नींव पड़ी।

५—विजय के बाद इस वंश में राहिल नामक राजा हुआ। इसने राहिला नाम का एक गाँव बसाया और वहाँ एक सुंदर मंदिर बनवाया। मंदिर तो टूट-फूट गया है पर गाँव महोबा से दो मील की दूरी पर अब तक बसा हुआ है।

६—हर्ष राहिल का लड़का और उत्तराधिकारी था। इसके विषय में इतना पता लगता है कि इसने कन्नौज के तत्कालीन राजा क्षितिपाल (महिपाल) पर चढ़ाई की थी। पर जब उसने अधीनता स्वीकार कर ली तब यह वहाँ से वापस चला आया। इसके दो रानियाँ थीं, एक का नाम कनेशुका और दूसरी का कच्छपा था। इसके लड़के का नाम यशोवर्म्मदेव था। यही हर्ष के पश्चात् राजा हुआ।

७—यशोवर्म्मदेव के दो विवाह हुए थे। इसकी एक रानी का नाम नर्म्मदेवी और दूसरी का नाम पुष्पा था। यह बड़ी ही सुलक्षणा

और धर्मनिष्ठ थी। इसके पातिव्रत की ख्याति दूर दूर तक फैल गई थी। खजुराहो के शिलालेख में यशोवर्म्मदेव के राज्य का वर्णन इस प्रकार लिखा है कि इसने अपने बाहुबल से गौड़, खस, कोशल, काश्मीर, कन्नौज, मालवा, चेदि, कुरु, गुर्जर इत्यादि देशों को जीत कालिंजर के कलचुरियों को परास्त किया और उनसे कालिंजर ले लिया। यह कन्नौज के राजा को परास्त कर उसके यहाँ से विष्णु की प्रतिमा ले आया।

८—यशोवर्म्मदेव के पश्चात् उसका लड़का धंगदेव राजगद्दी पर बैठा। इसने शिवजी का एक बड़ा मंदिर बनवाया था। ऐसा कहते हैं कि यह १०० वर्ष तक जीता रहा और अंत समय में इसने प्रयागराज में त्रिवेणी संगम पर प्राण छोड़े थे। खजुराहो के शिलालेख में इसकी इस मृत्यु का वृत्तांत है। यह लेख वि० सं० १०५६ का है। इससे जान पड़ता है कि यह इसी वर्ष परलोक को सिधारा होगा। एक ताम्रलेख भी इसी साल का इसके हाथ का मिला है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह १०५५ में जीवित था। चंदेलवंश का यह बड़ा प्रतापी राजा था। इसने आस-पास के प्रदेशों के राजाओं को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया। इतना ही नहीं, वरन् इसकी ख्याति दूर दूर तक फैल गई थी। इसी से जब गजनी के मुसलमान बादशाह सुबुक्तगीन ने भटिंडा के राजा जयपाल पर चढ़ाई की तब उसने भारतवर्ष के अनेक क्षत्रिय राजाओं को अपनी सहायता के लिये बुलवाया था। उस समय धंगदेव भी अपनी विशाल सेना लेकर सहायता के लिये पहुँचा था।

९—खजुराहो के चतुर्भुज के मंदिर में एक और भी शिलालेख इसके समय का मिला है। यह वि०सं० १०११ में उत्कीर्ण हुआ था। इसमें चंदेल राजाओं की वंशावली नन्नुकदेव से दी हुई है। राजा

धंगदेव के समय चंदेलों के राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। इसकी उत्तरीय सीमा यमुना तक पहुँच गई थी। पूर्व में काशी, पश्चिम में बेतवा और दक्षिण सीमा केन नदी के उद्गम के पास थी। इस तरह से यह प्रदेश १२० मील लंबा और १०० मील चौड़ा हो गया था। यह राजा बड़ा ही दानी, प्रतापी, विवेकी, कला-कौशल-निपुण और बुद्धिमान् था। यह धार्म्मिक और भगवद्भक्त भी कम न था। इसने कई मंदिर बनवाए थे। उनमें से एक शिवमंदिर अब भी मौजूद है।

१०—गंडदेव धंगदेव का पुत्र और उत्तराधिकारी था। यह अपने पिता के मरने पर गद्दी पर बैठा। यह भी अपने पिता के समान पराक्रमी था। इसने कन्नौज पर इसलिये चढ़ाई की थी कि कन्नौज के राजा ने महमूद गजनवी की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इसकी चढ़ाई वि० सं० १०७७ में हुई थी। इस बार वह कन्नौज पर अधिकार कर वापस चला गया था। इस समय कन्नौज में राठौर वंशो राजा महेंद्रपाल राज्य करता था। (किसी किसी इतिहासज्ञ ने इस वंश को गुर्जर लिखा है)।

११—गंड चंदेल ने कन्नौज पर चढ़ाई करके राजा महेंद्रपाल को अपने अधीन कर लिया, यह खबर सुनते ही महमूद गजनवी ने विक्रम संवत् १०७८ में दुबारा चढ़ाई की। इस बार वह सीधा कालिंजर की ओर आया। इस समय चंदेल राजा गंड ने बड़ी वीरता से उसका सामना किया। यह ३६००० पैदल, ४५००० सवार और ६४० हाथियों का हलका लेकर गजनवी का आक्रमण रोकने के लिये आया था। इसके विरोध के कारण महमूद गजनवी आगे न बढ़ सका और उसे लौट जाना पड़ा।

१२—कन्नौज की चढ़ाई और महमूद गजनवी का युद्ध चंदेल राज्य की शक्ति का परिचय देते हैं। इसने कन्नौज के तत्कालीन

राजा महेंद्रपाल के पुत्र जयपाल पर चढ़ाई करने के लिये अपने पुत्र विद्याधर को भेजा था। इसके समय में कलचुरि राजा युवराज (माह्नत) के पुत्र और जयदेव के भाई कोकल्लदेव दूसरे ने चढ़ाई की थी। खजुराहो में विश्वनाथ के मंदिर में एक शिलालेख मिला है। यह लेख गंडदेव के राजत्व-काल का है। इसमें मंदिर के निर्माण-कर्ता धंगदेव का नाम और वि० सं० १०५६ लिखा है। इसमें यह भी लिखा है कि गंडदेव गद्दी पर बैठा, जिससे यह निर्विवाद रूप से पाया जाता है कि धंगदेव के पश्चात् ही वि० सं० १०५६ में गंडदेव गद्दी पर बैठा था।

१३—गंडदेव के पश्चात् विद्याधरदेव राजा हुआ। इससे और कन्नौज के तत्कालीन राजा त्रिलोचनपाल से बहुत दिनों तक युद्ध होता रहा। राजा भोजदेव भी समय समय पर इसकी प्रशंसा किया करता था। विद्याधर के पश्चात् विजयपाल राजा हुआ। पर इसके विषय में कोई उल्लेखनीय बात नहीं मिलती।

१४—विजयपाल का पुत्र देववर्म्मा था जो अपने पिता के पश्चात् राजगद्दी पर बैठा। ननयौरा में विक्रम संवत् ११०७ का एक ताम्रलेख मिला है। इसमें देववर्म्मा का विरुद कालिंजराधिपति लिखा है। इसमें इसकी माँ का नाम भुवनादेवी लिखा है। जिननाथ-देव के एक जैन मंदिर में जो देववर्म्मा के प्रपितामह के समय में बना था देववर्म्मा के समय में एक शिलालेख लगाया गया था। इस लेख में देववर्म्मा और उसके पूर्वजों के नाम लिखे हैं। यह मंदिर खजुराहो में है।

१५—देववर्म्मा के पश्चात् उसका भाई कीर्तिवर्मा राजा हुआ। कीर्तिवर्मा का राज्य बहुत दिनों तक रहा। उसका एक लेख देव-गढ़ में विक्रम संवत् ११५४ का है। महोबा के पास का कीरत-सागर नामक तालाब इसी का बनवाया हुआ है। इसके नाम के

सोने के सिक्के भी मिले हैं जिन पर इसका नाम श्रीमत् कीर्त्तिवर्म्म-देव लिखा है। देवगढ़* में इसका शिलालेख मिलने से ज्ञात होता है कि इसका राज्य देवगढ़ तक पहुँच गया था और ललितपुर और सागर इसके राज्य में था। ये जिले चंदेल राज्य में कब आए, इसका ठीक हाल नहीं मालूम होता। कीर्त्तिवर्म्मा का समकालीन मालवा का राजा भोज परमार था। इसके समय में गुजरात में भीमदेव

* देवगढ़ का लेख इस प्रकार है—

ॐ नमः शिवाय।

चांदेल्लवंशकुमुदेन्दु विशालकीर्त्तिः
ख्यातो बभूव नृपसंघनतांघ्रिपद्मः।
विद्याधरो नरपतिः कमलानिवासो
जातस्ततो विजयपालनृपो नृपेन्द्रः॥

तस्माद्धर्मपर श्रीमान् कीर्त्तिवर्मनृपोऽभवत्।
यस्य कीर्त्तिसुधाशुभ्र त्रिलोक्यं सौधतामगात्॥
अगदं नूतनं विष्णुमाविर्भूतमवाप्य यम्।
नृपाब्धि तस्समाकृष्टा श्रीरस्थैर्यममार्जयत्॥

राजोडुमध्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य
नूनं युधिष्ठिर सदाशिव रामचंद्राः।
एते प्रसन्न गुणरत्ननिधौ निविष्टा
यत्तद्गुणप्रकररत्नमये शरीरे॥

तदीयामात्य मन्त्रीन्द्रो रमणीपुरविनिर्गतः।
वत्सराजेति विख्यात श्रीमान्महीधरात्मजः॥

ख्यातो बभूव किल मन्त्रपदैकमात्रे
वाचस्पतिस्तदिह मन्त्रगुणैरुभाभ्याम्।
यो यं समस्तमपि मण्डलमाशु शत्रो-
राच्छिद्य कीर्त्तिगिरिदुर्गमिदं व्यधत्ता॥

श्री वत्सराजघट्टोयं नूनं तेनात्र कारितः।
ब्रह्माण्डमुज्वलं कीर्त्तिं आरोहयतुमात्मनः॥

संवत् ११५४ चैत्र बदि २

और कन्नौज में राठौर लोगों का राज्य था। चेदि देश में इस समय कलचुरि राजा कर्णदेव राज्य करता था। कलचुरि राजा कर्णदेव को कीर्तिवर्म्मा ने हरा दिया था। इस विजय से कीर्तिवर्म्मा को इतना आनंद हुआ कि उसने विजय के ऊपर एक नाटक प्रबोधचंद्रोदय नाम का बनवाया। यह नाटक वेदांत से भरा हुआ है, परंतु इसमें कर्ण की हार और कीर्तिवर्म्मा की जीत बताई गई है।

१६—देवगढ़ ललितपुर के निकट बेतवा के किनारे है। यहाँ पर एक मंदिर के स्तंभ पर संवत् ९१९ का लिखा राजा भोज के नाम का शिलालेख है। यह राजा भोज कन्नौज का राजा था। इससे जान पड़ता है कि संवत् ९१९ में देवगढ़ कन्नौज के राजाओं के अधिकार में था। सागर और ललितपुर भी इस समय में कन्नौज के राज्य के भीतर रहे होंगे। यहाँ पर दूसरा लेख एक शिला पर मिला है। यह लेख विक्रम संवत् ११५४ का लिखा कीर्तिवर्म्मा चंदेल के समय का है। इस लेख का लिखनेवाला वत्सराजा कीर्तिवर्म्मा का मंत्री था। वत्सराज का नाम यहाँ पर महीधर लिखा है, परंतु मऊ के लेख में उसका नाम अनंत लिखा है। अनुमान किया जाता है कि उसका नाम अनंत और विरुद महीधर था। खजुराहो में लक्ष्मीनाथ के मंदिर का एक लेख, जिसमें विक्रम संवत् ११६१ दिया है, कीर्तिवर्म्मा के ही समय का है। सागर और दमोह कीर्तिवर्म्मा के राज्य में कन्नौज के राज्य से ही आए होंगे।

१७—कीर्तिवर्म्मा के समय का एक लेख महोबा में मिला है। यह पीर मोहम्मद की दरगाह की दीवार में लगे हुए एक पत्थर पर था। अब यह पत्थर इलाहाबाद के अजायबघर में है। इस लेख में चंदेल राजाओं की वंशावली धंगदेव से कीर्तिवर्म्मा तक दी हुई है। इसमें चेदि देश के कलचुरि राजा गांगेयदेव का नाम भी आया है। इस लेख में देश का नाम जेजाभुक्ति नहीं लिखा, बल्कि ऐसा

लिखा है कि जिस प्रकार पृथु से पृथ्वी कहलाती है उसी प्रकार जेजा से जेजाभुक्ति कहाई। जेजाभुक्ति नाम राजा पृथ्वीराज चौहान ने अपने मदनपुरवाले वि० सं० १२३९ के शिलालेख में भी लिखवाया है। कीर्तिवर्म्मा का एक शिलालेख अजयगढ़ में भी मिला है। इसकी राजधानी खजुराहो में थी।

१८—कीर्तिवर्म्मा के पश्चात् उसका लड़का हलक्षण राज्यगद्दी पर बैठा। हलक्षण को कहीं कहीं पर सलक्षण भी कहा है। इसके नाम के सोने और ताँबे के सिक्के मिले हैं जिन पर इसका नाम हलक्षण लिखा है। इसने अंतर्वेद में एक बड़ा युद्ध किया था और उसमें विजय पाई थी। इस युद्ध का पूरा हाल नहीं मिलता।

१९—जयवर्म्मदेव हलक्षण के पश्चात् राजगद्दी पर बैठा। इसके नाम के ताँबे के सिक्के मिले हैं। ये सिक्के इँगलैंड के अजायब-घर में अँगरेजों ने रखे हैं। जयवर्म्मदेव ने खजुराहो में धंगदेव के बनवाए शिवमंदिर में जो शिलालेख था उसे सुधरवाया। धंगदेव के समय का शिलालेख कीर्णाक्षरों में था। इस लेख को जयवर्म्मा ने अपने मंत्री के द्वारा अच्छे अक्षरों में लिखवाया। जयवर्म्मा का मंत्री गौड़ कायस्थ था। मंत्री की असीम विद्वत्ता का भी वर्णन इस शिलालेख में मिलता है। यह लेख विक्रम संवत् ११७३ का है। इससे और कन्नौज के पड़िहार राजा भीमपाल के बेटे शुक्र-पाल से युद्ध हुआ था। इस युद्ध में शुक्रपाल की जीत हुई थी। अजयगढ़ के शिलालेख से ऐसा भी पता लगता है कि इससे और चेदि राजा यशःकर्णदेव तथा मालवाधिपति लक्ष्मणदेव से भी युद्ध हुआ, पर इनमें जीत जयवर्म्मा की ही हुई थी।

२०—जयवर्म्मा के पश्चात् उसका छोटा भाई हलक्षण दूसरा (या सलक्षण दूसरा) राजा हुआ। इसने लगभग दो वर्ष ही राज्य किया। इसके राज्य में कोई उल्लेखयोग्य घटना नहीं हुई।

२१—हलक्षण दूसरे के पश्चात् पृथ्वीवर्म्मदेव राजा हुआ। इसके समय के कुछ ताँबे के सिक्के भी मिले हैं। इसने कन्नौज के परिहार राजाओं से मैत्री कर ली थी। इसके पश्चात् मदनवर्म्मा राजा हुआ।

२२—मदनवर्म्मा का राज्य बहुत दिनों तक रहा। इसके समय के बहुत से शिलालेख मिले हैं। सबसे पहला लेख वि० सं० ११८६ का है और सबसे बाद का वि० सं० १२२० का है। महोबा के निकट जो सुंदर तालाब मदनसागर नाम का है वह इसी का बनवाया हुआ है। तालाब के किनारे दो मंदिर भी इसी ने बनवाए थे जो अब तक मौजूद हैं। इसी के समय में चंदेल राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर फिर से पहुँचा था। इसने गुर्जर प्रांत के राजा को भी हरा दिया था। यह इसके समय के लेखों से ज्ञात होता है, जिनका वर्णन नीचे किया जाता है। मदनवर्म्मा के बसाए हुए नगर का नाम मदनपुर है, जो सागर जिले में है।

२३—मदनवर्म्मा का एक शिलालेख कालिंजर में मिला है। कालिंजर बहुत प्राचीन नगर है। पांडवों ने भी इसे देखा था। उस समय यह एक तीर्थस्थान समझा जाता था। पद्मपुराण में भी इसका नाम आया है। कालिंजर की पहाड़ी का प्राचीन नाम कालंजराद्रि है जो शिव (काल) के नाम से पड़ा है। कहा जाता है कि कालिंजर का किला चंदेलों के पूर्वज चंद्रवर्म्मा का बनवाया हुआ है। मैसूर के वि० सं० ११०७ के शिलालेख से भी, जो हरिहर में मिला है, यही जान पड़ता है कि कलचुरि राजाओं ने कालिंजर को अपने अधिकार में कर लिया था। यह बात बहुत करके वि० सं० की छठी शताब्दी के पहले की होगी।

२४—महमूद गजनवी जब गंडदेव से लड़ने आया तब उसने कालिंजर के किले को देखा और उसकी बड़ी प्रशंसा की। कालिंजर

में जो शिलालेख हैं वे अधिकतर मदनवर्म्मा और परमर्दिदेव के राज्य के समय के हैं। मदनवर्म्मा का पहला लेख कालिंजर के नीलकंठ के मंदिर के बाहर की एक शिला पर मिला है। यह लेख विक्रम संवत् ११८६ का है। मदनवर्म्मा के समय में कालिंजर एक प्रधान नगर रहा होगा। परंतु राजधानी बहुत करके खजुराहो में ही रही होगी, जैसा कि मदनवर्म्मा के पूर्वजों के समय में था। इसके समीप नृसिंह के मंदिर के निकट भी एक शिलालेख है। इसके सिवाय कई लेख नीलकंठ के मंदिर के निकट मिले हैं। महोबा के नेमीनाथ के मंदिर में भी मदनवर्म्मा के नाम का विक्रम-संवत् १२११ का एक लेख है। खजुराहो के जैनमंदिर में विक्रम-संवत् १२१५ का एक लेख मदनवर्म्मा के नाम का है।

८५—मदनवर्म्मा के पश्चात् कीर्त्तिवर्म्मा नाम का एक राजा हुआ। उसके पश्चात् परमर्दिदेव या परमाल नाम का एक राजा हुआ। कीर्त्तिवर्म्मा का राज्य शायद एक वर्ष भी नहीं रह पाया और परमाल का राज्य आरंभ हो गया। इसके समय के शिलालेख मदनपुर, अजयगढ़, खजुराहो और महोबा में मिले हैं। कालिंजर के नीलकंठ के मंदिर में भी परमर्दिदेव के नाम का एक शिलालेख है[1]।

[1] यह लेख इस प्रकार है:—

आकाश प्रसर प्रसर्यंत दिशस्त्वं पृथ्वि पृथ्वी भव
प्रत्यक्षीकृतमादिराजयशसां युष्माभिरुज्जृंभितम्।
अद्य श्रीपरमार्द्धिपार्थिवयशो राशेर्विकाशोदयाद्-
बीजोच्छ्वास विदीर्ण दाडिममिव ब्रह्मांडमालोक्यते॥
कीर्तिस्ते नृप दूतिका मुररिपोरंके स्थितामिन्दिरा-
मानीय प्रददौ तवेति गिरिशः अत्वार्धनारीश्वरः।

अध्याय ७

चंदेलों का राज्य (परमाल के समय के पश्चात्)

१—परमाल (परमर्दिदेव) के समय में आल्हा का युद्ध और पृथ्वीराज चौहान का आक्रमण हुआ था। आल्हा के युद्ध का विस्तृत वर्णन आल्हा महाकाव्य में है। परमाल उस ग्रंथ में महोबे का राजा कहा गया है। खजुराहो का वर्णन इस ग्रंथ में नहीं आया। जान पड़ता है कि परमाल के समय में महोबे में ही राजधानी थी। यह महोबे का राजा था और महाराजाधिराज कहलाता था।

२—ऐतिहासिक घटनाओं से पूर्ण होने के कारण यहाँ पर आल्हा की प्रसिद्ध लड़ाई का सारांश देना ठीक जान पड़ता है। यह सारांश आल्हा काव्य से किया गया है।

३—महोबे के राजा परमाल का आल्हा नाम का एक योद्धा था। आल्हा बनाफर जाति के दशरथ का पुत्र था। कहा जाता है कि आल्हा ने बाल्यावस्था में पृथ्वीराज और अन्य राजाओं को सुल्तान महमूद के विरुद्ध सहायता देकर अपने पराक्रम का परिचय दिया था। इस समय में बंगाल प्रदेश में सोलंकी राजपूत वंश का मानजू नाम का राजा राज्य करता था और मिथिला देश के जनकपुर नामक स्थान में ब्रह्मादेव नाम के पड़िहार राजा का राज्य

ब्रह्माभूच्चतुराननः सुरपतिश्चक्षुः सहस्रं दधौ
स्कंदो मंदमतिर्विवाहविमुखो धत्ते कुमारव्रतम् ॥
नागो भाति मदेन खं जलरुहैः पूर्णेन्दुना शर्वरी
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरम् ।
वाणी व्याकरणेन हंस मिथुनैर्नद्यः सभा पंडितैः
सत्पुत्रेण कुलं त्वया वसुमती लोकत्रयं विष्णुना ॥

था। जब मानजू ने ब्रह्मादेव प चढ़ाई की तब आल्हा ने ब्रह्मादेव को सहायता दी और उसे हारने से बचाकर उसका 'मद' रख लिया। इससे आल्हा 'मदराख' भी कहलाने लगा। आल्हा की स्त्री का नाम माचलदेवी, पुत्र का नाम ईंदल, भाई का नाम ऊदल और माँ का नाम देवलदेवी था। परमाल के साले का नाम माहिलदेव था जो राजा परमाल का मंत्री था। परमाल के राजकवि का नाम जगनायक था।

४—माहिलदेव का किसी कारण से परमाल राजा से वैमनस्य हो गया, परंतु माहिलदेव आल्हा के कारण परमाल का कुछ न बिगाड़ सकता था। आल्हा सदा परमाल की सहायता के लिये तैयार रहता था। माहिलदेव चाहता था कि किसी कारण से आल्हा राजसभा से निकाल दिया जाय जिसमें वह फिर परमाल की सहायता न कर सके। इसकी युक्ति माहिल ने ढूँढ़ निकाली और एक समय, जब आल्हा का लड़का ईंदल परमाल राजा के घोड़े पर बैठ गया तब, माहिल ने तुरंत इस बात की शिकायत परमाल राजा से करके आल्हा, ऊदल और ईंदल को राज्य से निकलवा दिया।

५—उस समय के कन्नौज के राजा का नाम जयचंद्र था। जयचंद्र के सब सूबेदार जयचंद्र से नाराज हो गए थे और अपने प्रांत का कर जयचंद्र के पास नियमानुसार न भेजते थे। आल्हा और ऊदल जब जयचंद्र के पास पहुँचे तब जयचंद्र ने उन्हें अपने सूबेदारों को अधिकार में करने के लिये भेजा। आल्हा और ऊदल वीर थे ही। इन्होंने जयचंद्र के सूबेदारों को तुरंत हराकर उन्हें जयचंद्र के अधिकार में कर दिया। अब वे लोग जयचंद्र को नियत कर देने लगे। जयचंद्र इस पर बहुत प्रसन्न हो गया और उसने कन्नौज के समीप रायकोट नामक स्थान आल्हा और ऊदल को रहने के लिये दिया।

६—माहिलदेव ने आल्हा और ऊदल को राज्य से निकलवा-कर चंदेलों के राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न किया। उसने चंदेलों की सेना तो किसी बहाने से दक्षिण में भेज दी और दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान को परमाल के देश पर आक्रमण करने के लिये निमंत्रित किया।

७—पृथ्वीराज चौहान इस समय साँभर में था। जब उसे मालूम हुआ कि महोबे की सेना दक्षिण भेज दी गई है तब उसने चंदेल राज्य पर आक्रमण किया। वह पहले सिरसा (या सिरस्वा-गढ़) को रवाना हुआ। यह झाँसी के उत्तर में पहोज नदी के किनारे है। उस समय सिरस्वागढ़ के आसपास का प्रांत चंदेलों के राज्य में था और चंदेल राजाओं की तरफ से उस प्रांत पर एक शासक नियत रहता था। इस समय के शासक का नाम मलखान था। यह मलखान आल्हा की मौसी का लड़का था। जब मलखान ने देखा कि पृथ्वीराज अपनी बड़ी सेना लेकर राज्य पर चढ़ आया तब उसने परमाल राजा को सहायता के लिये लिखा। परंतु माहिलदेव ने परमाल राजा से कहा कि सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। मलखान को अपने प्रांत का बचाव अपनी सेना के द्वारा स्वयं करना चाहिए।

८—मलखान को यह उत्तर पाकर बहुत आश्चर्य और खेद हुआ, परंतु वह हिम्मत न हारा। अपनी सेना को एकत्र कर वह पृथ्वीराज चौहान की बड़ी सेना का सामना करने की तैयारी करने लगा। उसने अपने एक सरदार पूरन जाट को ग्वालियर के निकट की घाटी के पास पृथ्वीराज चौहान को रोकने के लिये भेज दिया और वह स्वयं अपनी सेना को लेकर पृथ्वीराज के आक्रमण की बाट देखने लगा।

९—पृथ्वीराज चौहान के पास बड़े बड़े वीर सेनापति थे। ये सेनापति पृथ्वीराज के संबंधी ही थे। पृथ्वीराज अपनी सेना

को लेकर सिरस्वागढ़ पर गया। साँभर से सिरस्वागढ़ तक पहुँचने में उसे १२ दिन लगे थे। सिरस्वागढ़ पर उसने मलखान की सेना पर तीन बार आक्रमण किए। तीनों बार मलखान ने उसे हटा दिया। अंतिम बार के युद्ध में पृथ्वीराज का सेनापति डिंभाराय मारा गया। इसके पश्चात् फिर एक बड़ा युद्ध हुआ। इस युद्ध के समय मलखान ने ही पृथ्वीराज की फौज पर धावा किया। लड़ाई रात तक होती रही और जब दो दंड रात रह गई थी तब मलखान शूरता से लड़ता हुआ मारा गया। मलखान के मरने पर मलखान की स्त्री सती हो गई। पृथ्वीराज ने फिर मलखान के भाई अलखान को उस प्रांत का शासक बना दिया। इस प्रकार सिरस्वागढ़ का इलाका पृथ्वीराज के अधिकार में आ गया।

१०—इसके पश्चात् पृथ्वीराज महोबा की ओर चला। उस समय महोबा में परमाल की सेना न थी। सारी सेना जलालपुर के पास मसराही नामक स्थान में बेतवा के किनारे थी। पृथ्वीराज महोबा के पास आकर ठहरा और माहिलदेव ने परमाल राजा को खबर दी कि पृथ्वीराज परमाल से पारस और दिव्य अश्व हिरनागर चाहता है। परमाल ने अपने बचाव का प्रयत्न किया। उसने अपने दोनों लड़के ब्रह्माजीत और रणजीत को कालिंजर के किले में भेज दिया। वह अपनी स्त्री के साथ मनियादेवी की शरण में चला गया और आल्हा को सहायता के लिये बुलवाया। इस काम के लिये राजकवि जगनायक भाट हिरनागर अश्व पर कन्नौज भेजा गया। माहिलदेव ने इन सब बातों का पता पृथ्वीराज को दे दिया। पृथ्वीराज हिरनागर अश्व को लेना चाहता था और उसने जगनायक से घोड़ा जबरदस्ती ले लेने के लिये सेना भेजी। जगनायक उस समय काल्पी जा रहा था और वह बसवारी नामक स्थान पर, जो महोबे के उत्तर में है, रोक लिया गया। परंतु हिरनागर रोकने-

वालों को बचाके जगनायक को कोरहट तक ले गया। जगनायक वहाँ कोरहट के राजा का अतिथि होकर ठहरा। राजा ने जगनायक के घोड़े की जीन ले ली जिससे जगनायक को बहुत बुरा लगा। फिर जगनायक कन्नौज पहुँचा और वहाँ पर आल्हा और ऊदल ने उसका सत्कारपूर्वक स्वागत किया। जगनायक भाट ने आल्हा और ऊदल को परमाल और परमाल की रानी का सँदेशा सुनाया। आल्हा पहले सहायता देने को राजी न हुआ, क्योंकि परमाल ने उसे बिना कारण देश-निकाला दे दिया था और जयचंद्र की नौकरी के कारण आल्हा सहायता करने न जा सकता था। परंतु फिर जगनायक ने उसे जोश दिलाया। जगनायक ने कहा कि आल्हा के पिता दशरथ का बनवाया शहिल्य ताल पृथ्वीराज ने फोड़ दिया है और पृथ्वीराज आल्हा के अखाड़े में कसरत करता है। यह हाल सुनने पर आल्हा को बड़ा क्रोध आया। आल्हा की मा ने भी आल्हा को लड़ने के लिये उत्साहित किया। तब आल्हा ने पृथ्वीराज से लड़ाई करने का निश्चय कर लिया और वह कन्नौज के राजा जयचंद्र से अनुमति माँगने गया। जयचंद्र ने पहले अनुमति न दी पर इससे आल्हा को क्रोध आया और उसने जयचंद्र के सामने बिना जयचंद्र की आज्ञा के चले जाने का निश्चय कर लिया। इस पर जयचंद्र राजी हो गया और उसने आल्हा की सहायता के लिये अपनी कुछ सेना भी दी। आल्हा की सेना के नायकों में से जयचंद्र के भतीजे राना लाखन और राना गुलाब भी थे। नरवर का रावराजा भी एक सेनानायक था। कुल ३२ सेनानायक आल्हा की सेना में जयचंद्र की ओर से थे।

११—जगनायक भाट ने मार्ग में कोरहट के राजा का दुर्व्यवहार आल्हा को सुनाया। आल्हा ने उस राजा को हराकर उससे जीन छुड़ा ली और वह राजा भी आल्हा की सेना के साथ हो

गया। आल्हा ने मार्ग में सिंघा नाम के एक परमार राजा को हराकर उसे भी अपने साथ कर लिया।

१२—इसी बीच में पृथ्वीराज और परमाल राजा में सुलह हो गई थी। परंतु जब पृथ्वीराज की सेना ने आल्हा के आने का हाल सुना तब धाँधूराय नाम का पृथ्वीराज का एक सेनापति अपनी सेना लेकर बेतवा के किनारे जाकर अड़ गया। आल्हा की सेना ने काल्पी के समीप यमुना को पार किया और गारागढ़ और हमीर-पुर ले लिया। फिर वे सब कानाखेरा घाट के पास बेतवा में पूर होने के कारण ठहर गए। धाँधूराय अपनी सेना को लेकर दूसरी ओर ठहरा था। जब आल्हा की फौज पूर कम होने के लिये ठहरी थी उसी समय धाँधूराय अचानक नदी पार करके लाखन राना को सेना पर आ टूटा। लाखन राना की फौज घबरा गई और भाग गई। लाखन अकेला रह गया, परंतु वह भी घेर लिया गया। बाकी सब सेना भी भागने लगी, परंतु आल्हा की मा देवलदेवी ने इन सबको भागने से रोका और लड़ने को उत्साहित किया। आल्हा और मीर तालन वापस आ गए। मीर तालन एक मुसलमान था परंतु वह आल्हा का बड़ा मित्र था। आल्हा और मीर तालन इन दोनों ने धाँधूराय को भगा दिया। फिर सब सेना को महोबा आ जाना पड़ा। यहाँ पर पृथ्वीराज और परमाल के बीच संधि होने से युद्ध बंद हो गया। यह संधि केवल एक वर्ष के लिये ही हुई थी। पृथ्वीराज दिल्ली चला गया और संधि के पश्चात् युद्ध करने के लिये उरई के निकट का मैदान नियत कर लिया गया।

१३—नियत समय पर उरई के मैदान में सेनाएँ इकट्ठी हुईं। बेतवा के समीप मोहानी नामक गाँव के पास परमाल की सेना एकत्र हुई। परमाल ने जब दोनों ओर की सजी हुई सेना देखी तब वह घबरा गया और आल्हा से कहने लगा कि मुझे

कालिंजर ले चलो। आल्हा ने बहुत कहा, किंतु परमाल ने न माना। अंत में आल्हा परमाल को लेकर कालिंजर गया। आल्हा कालिंजर से लौटकर आ न पाया था कि लड़ाई होने लगी और आल्हा के आने के पहले ही परमाल की सारी सेना हारकर भाग गई। कहा जाता है कि इस पर आल्हा को बड़ा क्रोध आया और उसने पृथ्वीराज की सारी सेना काट डालने के लिये तलवार खींची, पर मैहर की देवी शारदा ने आल्हा का हाथ पकड़ लिया और देवी के कहने से पृथ्वीराज ने आल्हा को मना लिया। तब से आल्हा का पता नहीं है। आल्हा को मना लेने की बात विश्वास करने योग्य नहीं जान पड़ती।

१४—काव्य में अतिशयोक्ति बहुत है। आल्हा के पराक्रम का खूब वर्णन किया गया है। संभव है कि आल्हा की मृत्यु इसी युद्ध में हुई हो। आल्हा के समय के चंदेल राजाओं के आठ किलों के नाम दिए हैं। वे ये हैं—बारीगढ़ (महोबे के पास), कालिंजर, अजयगढ़, मनियागढ़, मड़फा, मौदहा, काल्पी और गढ़ (जबलपुर के पास)

१५—पृथ्वीराज चौहान का आक्रमण और लड़ाई, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, वि० सं० १२३९ में हुई। इस युद्ध में परमर्दिदेव की हार हुई और धसान के पश्चिम का भाग राजा पृथ्वीराज चौहान के अधिकार में चला गया। वि० सं० १२६० में कुतबुद्दीन ऐबक की चढ़ाई चंदेल राज्य पर हुई। इसने चंदेल राजा परमर्दिदेव को कालिंजर के किले में आ घेरा। वह किला छोड़ने पर राजी हो गया, पर मंत्री ने ऐसा करने से मना किया। जब वह न माना तब परमर्दिदेव के मंत्री ने ही उसे मार डाला। इसके पश्चात् किला कुतबुद्दीन ने ले लिया, पर पीछे से मुसलमानों ने मंत्री को भी मरवा डाला और मंदिरों को गिरवाकर उनके स्थान

पर मसजिदें बनवाईं। ऐसा जान पड़ता है कि किले को शीघ्र ही चंदेलों ने फिर से अपने अधिकार में कर लिया, क्योंकि त्रैलोक्य-वर्म्मन के राजत्व-काल में यह चंदेलों के ही पास था।

१६—परमर्दिदेव के मरने पर उसका पुत्र त्रैलोक्यवर्म्मन राजा हुआ। इसके नाम का एक शिलालेख वि० सं० १२६९ का अजयगढ़ में मिला है और दो ताम्रपत्र (छतरपुर के पूर्व १२ मील, गूढ़ा ग्राम में) संवत् १२६१ के मिले हैं। इस समय त्रैलोक्य-वर्म्मन चंदेल और मुसलमानों के बीच युद्ध हुआ था। इस युद्ध में चंदेल सेनापति खेत रहा। वि० सं० १२९० में दिल्ली के बाद-शाह शमसुद्दीन अलतमश ने बुंदेलखंड पर चढ़ाई की थी। इस समय मुसलमानों का सेनापति नसीरुद्दीन तायसो था। मुसलमानों ने खजाना लूटने के लिये कालिंजर पर चढ़ाई की थी। यहाँ से ये लगभग सवा करोड़ मुद्राएँ लूटकर ले गए। इस युद्ध में चंदेलों को बड़ी हानि पहुँची पर पीछे से त्रैलोक्यवर्म्मन ने इसकी पूर्त्ति कर ली। कालिंजर के पूर्व ४० मील पर ककरेड़ी नाम का ग्राम है। यहाँ वि० सं० १२३२, १२५२ और १२९६ के शिलालेख मिले हैं। यहाँ के राजा ने प्रथम दोनों शिलालेखों में तो कल-चुरियों का आधिपत्य माना है, पर संवत् १२९६ के शिलालेख में इसने चंदेलों का प्रभुत्व स्वीकार किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि त्रैलोक्यवर्म्मन ने कलचुरि-वंश के अंतिम राजा विजयसिंह को परास्त कर नर्मदा नदी का उत्तरीय भाग अपने राज्य में मिला लिया हो।

१७—त्रैलोक्यवर्म्मन के पुत्र का नाम वीरवर्म्मदेव (पहला) था। यही अपने पिता के पश्चात् गद्दी पर बैठा। इससे और नलपुरा के राजा गोविंद, मधुवनी के राजा गोपाल तथा गोपगिरि (ग्वालियर) के राजा हरिदेव से युद्ध हुआ था। इस युद्ध में सेना-

पति मलपुरा-निवासी कश्यपगोत्री बलभद्र तिवारी थे। वीरवर्म्मदेव की राजमहिषी को कल्यानीदेवी कहते थे। यह नलपुरा के राजा गोविंददेव की कन्या थी। इसके मंत्री का नाम गणपत था।

१८—वीरवर्म्मदेव के पश्चात् उसका पुत्र भोजवर्म्मदेव राजा हुआ। इसके समय के शिलालेख भी अजयगढ़ में मिले हैं। ये शिलालेख नाना नामक मंत्री के लिखवाए हुए हैं। यह जाति का कायस्थ था। शिलालेखों से ऐसा भी जान पड़ता है कि इसके पूर्वज परमाल के समय से चंदेलों के मंत्री रह आए थे। शिलालेख में नाना की बड़ी प्रशंसा लिखी है। इसका गोत्र कश्यप था। नाना मंत्री से भोजवर्म्मदेव को बहुत सहायता मिलती थी। इसके कारण ही भोजवर्म्मदेव वैरियों के दाँत खट्टे कर सका, और कालिंजर चंदेलों के हाथ में रह सका।

१९—भोजवर्मदेव के पश्चात् वीरवर्मा (वीरनृप) राजा हुआ। उसके पश्चात् शशांक भूप गद्दी पर बैठा। इनके नाम शिलालेखों में आए हैं। फिर भिलावादेव का नाम अजयगढ़ के समीप के एक लेख में मिला है। भिलावादेव के पश्चात् परमर्दिदेव (द्वितीय) का नाम संवत् १४६६ के लेख में मिला है। परमर्दिदेव (द्वितीय) के लगभग एक सौ वर्ष बाद कीरतसिंह का राज्यकाल आरंभ हुआ। कीरतसिंह के समय तक चंदेल राज्य कालिंजर के आस-पास ही रह गया था।

२०—जेनरल ए० कनिंघम ने अपनी आर्कियालाजिकल सरवे आफ इंडिया नाम की पुस्तक में तथा जरनल ए० सो० बंगाल भाग १ पृष्ठ ४२ सन् १८८१ में लिखा है कि चंदेलवंश का अंतिम राजा कीर्तिसिंह था। यह शेरशाह के साथ लड़ा था और उसके एक सैनिक के हाथ से मारा गया था। दुर्गावती इसी की कन्या है जो गढ़मंडल के राजा दलपतिशाह को ब्याही गई थी। परंतु

सरस्वती जून सन् १६१० तथा ओड़छा स्टेट गजेटियर में लिखा है कि जिस समय शेरशाह ने कालिंजर पर चढ़ाई की थी उस समय यहाँ पर बुंदेलों का राज्य था और भारतीचंद ओड़छे के राजा ने इसका सामना करने के लिये अपने भाई मधुकरशाह को भेजा था, पर कुछ लाभ न हुआ। किला मुसलमानों के हाथ चला ही गया।

२१—रानी दुर्गावती भी इसी राजा कीर्तिसिंह की लड़की बतलाई जाती है। परंतु अबुलफजल ने अपने अकबरनामे में लिखा है कि रानी दुर्गावती राठ के चंदेल राजा शालवाहन की कन्या थी (राठ आजकल हमीरपुर जिले में है)। ज० ए० सो० बं० के भाग ४० पृष्ठ २३३ में चंदबरदाई के रायसे के आधार पर लिखा है कि राजा कीर्तिसिंह ने गढ़मंडल के गोंड़ राजा का मनियागढ़ के जंगल में शिकार के समय पीछा किया था। पीछे से इन दोनो में युद्ध छिड़ गया। राजा कीर्तिसिंह हार गया और कैद हो गया। इन सब लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्गावती के विषय में अबुलफजल ने जो कुछ लिखा है वह सत्य है, क्योंकि ये दोनों समकालीन हैं और चंदबरदाई लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुआ है।

२२—चंदेलों के अधःपतन के पहले से ही दक्षिण में गोंड़ लोगों का, पूर्व में बघेलों का और बुंदेलखंड में बुंदेलों का राज्य बढ़ने लगा था। इनका वर्णन आगे किया जायगा।

अध्याय ८

चंदेलों का राज्य

विस्तार और आंतरिक स्थिति

१—चंदेल वंश के जिस प्रथम राजा नानुकदेव का इतिहास में पता चलता है कि वह संवत् ८५० के आसपास खजुराहो में राज्य
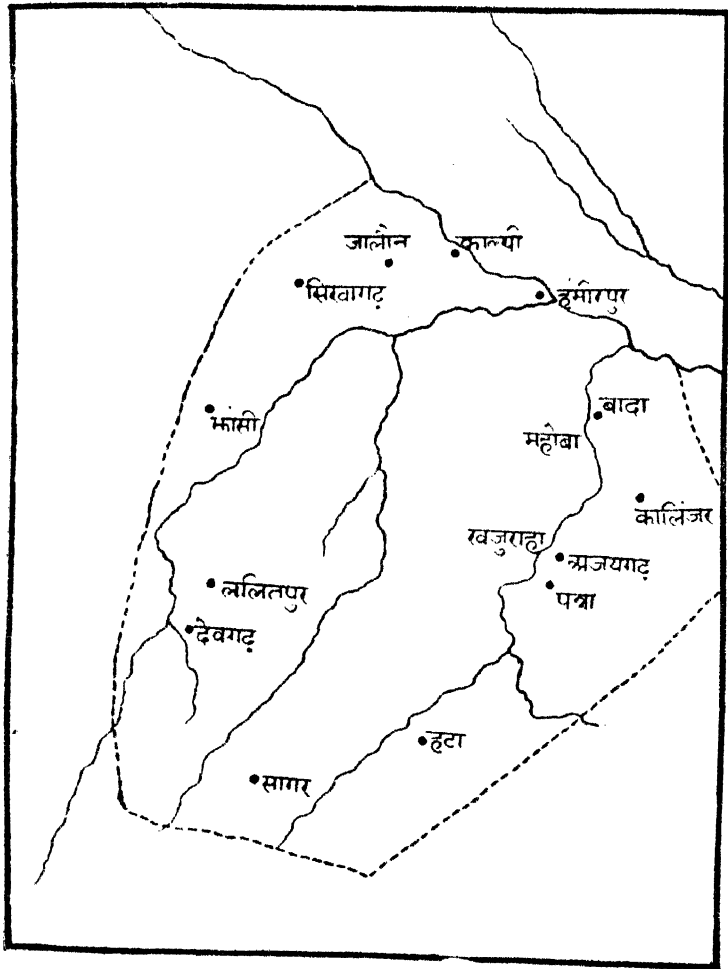
कीर्तिवर्मा के समय में चंदेल-राज्य

करता था, उसके पहले हमें चंदेलों का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। नवीं और दसवीं शताब्दी में चंदेलों ने पूर्व और पश्चिम के कुछ प्रदेशों पर अधिकार करके अपने राज्य का विस्तार किया। उस समय चेदि में कलचुरियों का राज्य था। स्वभावतः चंदेले अपनी इस समकालीन शक्ति के संसर्ग में आए। उनमें परस्पर विवाह-संबंध स्थापित हुए। चंदेल राजा राहिल ने अपनी पुत्री नंदादेवी का विवाह तत्कालीन कलचुरि राजा कोकल्ल के साथ किया था।

२—राहिल के बाद जब चंदेलवंश का परम प्रतापी राजा यशोवर्धन सिंहासन पर बैठा तब उसने कालिंजर के किले पर अधिकार करके चंदेल वंश की कीर्त्ति उज्ज्वल की। उस समय कालिंजर पर कलचुरियों का अधिकार था। कलचुरि राजा अपने को कालिंजर-पुरवराधीश्वर की उपाधि से अभिहित करते थे। किंतु यशोवर्धन ने कालिंजर पर अधिकार करके इस पदवी को स्वयं धारण किया। इस समय कालिंजर भारत की राज-शक्तियों का प्रधान केंद्र गिना जाता था। आल्हा में भी गाया करते हैं—

किला कालिंजर का माँगत है, बैठक माँगे ग्वालियर क्यार।

३—पहले यह दुर्ग चारों ओर से प्राचीरवेष्टित था। उसमें प्रवेश के लिये चार द्वार थे। आज भी इस प्राचीन दुर्ग के कुछ ध्वंसावशेष देख पड़ते हैं। यहाँ चंदेल वंश के कई शिलालेख मिले हैं, जिनसे भारत के तत्कालीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ा है। गंडदेव के राजत्व-काल में महमूद गजनवी ने इस किले पर आक्रमण किया था। गंडदेव ने एक बड़ी सेना लेकर महमूद का सामना किया। अंत में वह हार गया और उसने महमूद से संधि कर ली।

४—पृथ्वीराज की लड़ाई के समय राजा परमर्दिदेव इसी किले में आकर रहा था। संवत् १२०० में। जब कुतुबुद्दीन ने कालिंजर

पर आक्रमण किया तब परमर्दिदेव कालिंजर में था। कुतुबुद्दीन ने उसे परास्त करके किले को अपने अधिकार में कर लिया। उसकी ओर से उसका एक सूबेदार हजब्बरुद्दीन नाम का किले पर कुछ दिनों तक शासन करता रहा। उसके बाद शीघ्र ही कालिंजर फिर हिंदुओं के हाथ में आ गया। अंत में संवत् १६०२ में शेरशाह ने कालिंजर पर आक्रमण किया और वहाँ के चंदेलवंश के अंतिम राजा कीर्तिसिंह को मारकर कालिंजर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। शेरशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र इसलामशाह कालिंजर में ही देहली के सिंहासन पर बैठा। इसके कुछ दिनों बाद रीवाँ के बघेल राजा रामचंद्र ने किलेदार से यह किला मोल ले लिया। संवत् १६२६ तक वह इस किले पर अधिकार किए रहा। उसके बाद वह किला अकबर के हाथ में चला गया। औरंगजेब के समय तक कालिंजर मुसलमानों के हाथ में रहा। उसके बाद महाराज छत्रसाल ने कालिंजर पर अपना अधिकार कर लिया।

५—कालिंजर भारतीय इतिहास में एक विशेष स्थान ग्रहण किए हुए है। यह अत्यंत प्राचीन नगर है। वेदों ने इसे तपस्याभूमि कहकर अभिहित किया है। महाभारत में कई जगह इसका नाम आया है। लिखा है कि जो व्यक्ति कालिंजर के सरोवर में स्नान करता है उसे एक हजार गोदान का पुण्य मिलता है। शैव-साहित्य में भी कालिंजर का विशेष उल्लेख पाया जाता है।

६—पौराणिक काल के बाद से कालिंजर कई राज्यों की क्रीड़ा-स्थली रहा। किंतु यहाँ का प्रसिद्ध गढ़ किस राजा का बनवाया है, इसका हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसमें संदेह नहीं कि कालिंजर का गढ़ विक्रम की तीसरी या दूसरी शताब्दी से पूर्व का है। यह गढ़ विंध्यगिरि पर एक ऊँचे स्थान पर बना है। पहले यह चारों ओर से प्राचीरवेष्टित था। प्रवेश के लिये चार द्वार थे।

चंदेल काल में यह किला बहुत प्रसिद्ध रहा। उस समय के मुसलमान इतिहासकार निजामुद्दीन ने लिखा है कि उस जमाने में भारतवर्ष में कालिंजर की जोड़ का और कोई किला नहीं था। आल्हा में भी इसकी प्रशंसा की गई है।

७—यहाँ चंदेलों के समय के कई मंदिर और तालाब हैं। उस समय के कई शिलालेख भी मिले हैं जिनसे भारत के, और विशेषकर बुंदेलखंड के तत्कालीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है।

८—विक्रम संवत् १२८६ में इस पर अल्तमश का आक्रमण हुआ। वह इस किले से बहुत सा धन लूटकर ले गया। परंतु यह किला फिर हिंदुओं के हाथ में आ गया। एक मुसलमान इतिहासकार ने इसके कई बार लूटने का वर्णन किया है। लूट हो जाने के पश्चात् हिंदू राजाओं का अधिकार फिर से इस पर हो गया। तुगलक बहुधा लूट-मार के उद्देश्य से ही आक्रमण करते थे, इससे उनके राज्यकाल में यह किला फिर मुसलमानों के हाथ से निकल गया। इस समय में फिर यह चंदेलों के पास आ गया होगा और उस पर चंदेलों के राजवंश के कुछ लोग राज्य करते रहे होंगे, परंतु इसका ठीक पता नहीं लगता कि उन राजाओं के नाम क्या थे। विक्रम संवत् १६०२ में शेरशाह ने इस किले को ले लिया और अपने दामाद को यहाँ पर रखा। परंतु रीवाँ के बघेल राजा ने उससे कालिंजर के किले को ले लिया। पीछे से अकबर के समय में यह किला रीवाँ के बघेल राजा रामचंद्र के हाथ में आया। राजा रामचंद्र से यह किला अकबर बादशाह ने ले लिया। फिर अकबर के वंशज औरंगजेब से यह किला महाराजा छत्रसाल ने ले लिया।

६—अजयगढ़ चंदेलों के राज्य का एक मुख्य स्थान था। यह केन नदी के समीप एक छोटी पहाड़ी पर है। यहाँ का किला भी कालिंजर के किले के बराबर ही है। कहा जाता है कि अजय-

गढ़ अजयपाल नामक राजा का बनाया हुआ है परंतु इस नाम के राजा का पता नहीं लगता। यहाँ पर राजा परमर्दिदेव के बनवाए हुए मंदिर और तालाब हैं। यहाँ पर विक्रम संवत् १३४५ का एक शिलालेख मिला है जिससे मालूम होता है कि मलिक का नाती नाना नाम का चंदेल राजाओं का एक बुद्धिमान् मंत्री था। अजयगढ़ त्रैलोक्यवर्मा के पहले से चंदेलों के राज्य में था। पृथ्वीराज चौहान ने परमर्दिदेव से धसान नदी के पश्चिम का भाग ले लिया था पर अजयगढ़ चंदेलों के राज्य में रहा।

१०—खजुराहो बहुत दिनों तक चंदेलों के राज्य की राजधानी रहा। कालंजर में चंदेलों का दुर्ग था। सेना इत्यादि वहीं रहती थी और खजुराहो में महल थे। यह पहले जुझौति देश की राजधानी था। पर किसी किसी के मत से जुझौति देश की राजधानी एरन थी। संभवतः यहाँ का ब्राह्मण राजा एरन के धान्यविष्णु, मातृविष्णु इन दो भाइयों में से किसी एक का वंशज हो। जुझौति आधुनिक बुंदेलखंड का ही प्राचीन नाम है। खजुराहो चंदेलों के राज्य में बहुत पहले से है। यहाँ के मंदिरों में तीन बड़े बड़े पाषाण-लेख हैं। ये प्रायः चंदेल-नरेश गंड और यशोवर्मन के समय के हैं। हर्षवर्धन के समय में प्रसिद्ध यात्री हुएनसांग खजुराहो आया था। उसने यहाँ कई मंदिरों का होना लिखा है। यहाँ का चौंसठ योगिनियों का मंदिर चंदेलों के जमाने का जान पड़ता है। यह प्रायः सातवीं शताब्दी का बना है। इसके बाद भी चंदेल-नरेशों ने यहाँ कई विशाल पाषाण-मंदिर बनवाए। ये मंदिर आज दिन भी स्थापत्य की दृष्टि से भारतवर्ष के सर्वोत्कृष्ट मंदिर कहे जाते हैं। भारतवर्ष में इनकी जोड़ का सुंदर मंदिर नहीं है। इनके प्रत्येक प्रस्तरखंड में, प्रत्येक कोने में, प्रत्येक रेखा में मानों चंदेलों की कीर्त्ति का अमर इतिहास लिखा है। इनका अपूर्व सौंदर्य, सुडौल आकार-

प्रकार, भारी विस्तार और चित्रकार की कूँची को लज्जित करनेवाला बारीक नक्काशी का काम देखकर चकित होना पड़ता है। सौभाग्य से ग्यारहवीं शताब्दी में खजुराहो मुसलमानों के आक्रमण से दूर पड़ गया था। इसलिये चंदेलों के समय के ये विशाल मंदिर, चंदेलों की धर्म-प्रवीणता, कला-प्रेम और अनंत ऐश्वर्य के ये मूल साक्षी अब भी ज्यों के त्यों अक्षत खड़े हैं।

११—मनियागढ़ केन नदी के किनारे है। यह छतरपुर में खजुराहो से १२ मील है। यह एक पहाड़ पर है। अब इसकी एक पुरानी प्राय: ७ मील लंबी पत्थर की प्राचीर मात्र शेष रह गई है। आल्हा में इस गढ़ का खूब जिक्र आया है। यह चंदेलों के आठ किलों में से था।

१२—महोबा चंदेल राज्य के बहुत प्राचीन स्थानों में से है। कहा जाता है कि यहाँ पर चंदेल वंश के आदि पुरुष चंद्रवर्मा ने महोत्सव किया था। यह महोबा उसी महोत्सव का स्थान है। परमाल (परमर्दिदेव) के समय में यह चंदेल राज्य की राजधानी था। पृथ्वीराज चौहान ने विक्रम संवत् १२३९ में इसे ले लिया था, परंतु फिर छोड़ दिया था। संवत् १२४० में जब पृथ्वीराज ने दूसरी लड़ाई की तब, जान पड़ता है कि, महोबा ले लिया गया था। संवत् १२४० के पश्चात् महोबे में चंदेलों का कोई लेख नहीं मिलता। इसके बाद महोबा दिल्ली के मुसलमान बादशाहों के हाथ में चला गया था। महोबा और काल्पी ये दोनों नगर कुतुबुद्दीन ने विक्रम संवत् १२५३ में ले लिए थे। तब से महोबे और काल्पी में एक मुसलमान सूबेदार दिल्ली के बादशाह की ओर से रहता था। तैमूर के आक्रमण के समय में जो गड़बड़ हुई थी उसी में काल्पी और महोबे का सूबेदार मुहम्मदखाँ स्वतंत्र हो गया था। विक्रम संवत् १४६१ में जौनपुर के सूबेदार इब्राहीमशाह ने काल्पी पर आक्रमण

किया, परंतु एक साल के बाद जब दिल्ली के बादशाह और जौनपुर के सूबेदार के बीच युद्ध हुआ तब काल्पी और महोबा मालवा के बादशाह हुशंगशाह के हाथ में चले गए। परंतु फिर से जौनपुर के सूबेदार ने यह प्रदेश अपने कब्जे में कर लिया।

१३—मदनपुर कोई बड़ा गाँव नहीं है, परंतु चंदेलों के समय में यह एक प्रधान नगर था। यह गाँव सागर के उत्तर में और ललितपुर से कुछ दक्षिण की ओर है। यहाँ पर पहले कई अच्छे मंदिर और पत्थरों की खदान थी। यह गाँव चंदेल राजा मदनवर्मा का बसाया हुआ है। परंतु मदनवर्मा के पहले भी यहाँ पर एक बस्ती थी। यह यहाँ पर मिले हुए विक्रम संवत् १११२ के एक लेख से मालूम होता है। चौहान राजा पृथ्वीराज ने परमाल पर जब चढ़ाई की तब वह यहाँ तक आया था। यहाँ के जैन मंदिर के एक स्तंभ पर परमाल की लड़ाई और पृथ्वीराज के विजय का हाल लिखा है। पृथ्वीराज ने इस समय परमाल को हटाकर इसके आस-पास का देश जीत लिया था। पृथ्वीराज के नाम के यहाँ तीन लेख मिले हैं। इन पर संवत् १२३९ अंकित है।

१४—बिलहरी नामक ग्राम कटनी रेलवे स्टेशन से १० मील पश्चिम को है। इसका प्राचीन नाम पुष्पावती था और इसका बसानेवाला राजा कर्ण कहा जाता है। यह राजा कर्ण विक्रमादित्य का समकालीन था ऐसी कथा चली आ रही है। परंतु इसका ठीक पता इतिहास में नहीं मिलता। यह देश कलचुरि राजाओं के अधिकार में लगभग विक्रम संवत् १२१० तक रहा। फिर यह नगर और इसके आस-पास का प्रांत चंदेलों के हाथ में चला गया। आजकल के दमोह जिले की भूमि का अधिकांश चंदेलों के हाथ में इसी बिलहरी नगर के साथ आया होगा। नोहटा भी उसी समय का चंदेलों का बसाया हुआ है। बिलहरी

के आस पास के प्रदेश के शासन के लिये बिलहरी में चंदेलों की ओर से एक सूबेदार रहता था। परंतु इसी के आस-पास का कुछ प्रदेश पड़िहारों के हाथ में और कुछ राष्ट्रकूटों के हाथ में बारहवीं शताब्दी के आस-पास पाया जाता है। पृथ्वीराज के युद्ध के पश्चात् चंदेलों की शक्ति का ह्रास होने लगा था। जान पड़ता है कि इसी समय यहाँ पर इन लोगों ने अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया होगा। पड़िहारों का राज्य इस समय दमोह के पूर्वी भाग में था। दमोह जिले में सिंगोरगढ़ का किला पड़िहारों का बनवाया हुआ है। यह किला विक्रम संवत् १३६० के लगभग बना होगा। बारहवीं शताब्दी में हटा तहसील राठौरों के हाथ में रही होगी। हटा के समीप फतहपुर के निकट पिपरिया नामक ग्राम के मैदान में युद्ध के कुछ स्मारक पाए जाते हैं। इनसे मालूम होता है कि महा-मांडलिक जयतसिंह राष्ट्रकूट और किसी दूसरे राजपुत्र हेमसिंह के साथ लड़ाई हुई थी। इस युद्ध का काल संवत् ११६८ दिया हुआ है। पिपरिया के कीर्तिस्तंभों से पता नहीं लगता कि जयतसिंह किस राजा का मांडलिक था और हेमसिंह किस घराने का राजपुत्र था। परंतु बहुरीबंद नामक गाँव के उसी समय की जैनमूर्ति के लेख से अनुमान किया जाता है कि यह कलचुरियों के अधीन था। इसी समय का एक लेख हटा के निकट जटाशंकर नामक स्थान में भी मिला है। इसमें विजयसिंह की एक प्रशस्ति है। इसमें लिखा है कि विजयसिंह ने दिल्ली जीत ली, गुर्जरों को मार भगाया और वह चित्तौड़ से जूझ गया। इसी लेख से मालूम होता है कि विजयसिंह के पिता हर्षराज ने कालिंजर, डाहल, गुर्जर और दक्षिण को जीता था। यह विजयसिंह गुहिल वंश का था। गुहिल विजयसिंह मालवा के राजा उदयादित्य का दामाद था और इसकी लड़की अल्हणदेवी का ब्याह कलचुरि

राजा गयाकर्ण के साथ हुआ था। गुहिल ने हटा और दमोह पर धावा किया परंतु वह वहाँ ठहरा नहीं और लूट-मार करके वापिस चला गया।

१५—गढ़ा नामक स्थान जबलपुर के समीप है। आल्हा नामक काव्य में गढ़ा का किला चंदेलों के किलों में से एक बताया गया है। परंतु यह ठीक नहीं जान पड़ता।

१६—देवगढ़ कीर्तिवर्मा चंदेल के समय में चंदेल राज्य में था। एक शिलालेख विक्रम संवत् ११५४ का कीर्तिवर्मा के मंत्री का खुदवाया हुआ यहाँ पर मिला है। परंतु आल्हा के समय में यह गढ़ गोंड़ राजाओं के हाथ में आ गया था, क्योंकि कहा गया है कि आल्हा ने गोंड़ राजाओं को देवगढ़ से निकाल दिया। गोंड़ लोगों ने यह गढ़ कीर्तिवर्मा के पश्चात् ले लिया होगा।

१७—सिरस्वागढ़ पहोज नदी के किनारे है। यह नगर भी चंदेलों के हाथ में था, क्योंकि पृथ्वीराज चौहान ने पहले इसी पर धावा किया था। यह कीर्तिवर्मा चंदेल के समय में भी चंदेलों के हाथ में रहा होगा।

१८—उपर्युक्त स्थानों के इतिहास से चंदेल राज्य के विस्तार का हाल मालूम हो सकता है। कीर्तिवर्मा के समय में राज्य का विस्तार यमुना नदी से लेकर दमोह और सागर जिले के दक्षिण तक था। पूर्व में कालिंजर से लेकर पश्चिम में सिरस्वागढ़ और देवगढ़ तक था। ये स्थान राज्य में ही शामिल थे। कीर्तिवर्मा के पश्चात् राज्य के भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न स्वतंत्र राज्य स्थापित होने लगे। पूर्व में बघेले और दक्षिण में गोंड़ लोग प्रबल होने लगे। धसान नदी के पश्चिम का भाग—अर्थात् सागर, ललितपुर, ओड़छा, झाँसी, सिरस्वागढ़ इत्यादि—पृथ्वीराज ने ले लिया। फिर मुसलमानों का आक्रमण आरंभ हुआ।

१९—गुप्त साम्राज्य के नष्ट होते ही सारे भारतवर्ष में अराजकता सी फैल गई थी। प्राचीन राज्य-व्यवस्था और गणतंत्र राज्य-प्रथा को गुप्त साम्राज्य ने नष्ट कर दिया था। इस समय में जो बलवान् होता था और जिसके पास बड़ी सेना होती थी वही स्वतंत्र बन के अपने आस-पास के प्रदेश का राजा बन जाता था। चेदिवंश का विस्तार और चंदेलों का राज्य इसी समय में हुआ। ये राजा धर्म के अनुसार चलना चाहते थे पर प्राचीन राज्य-व्यवस्था को भूल गए थे। इनके भिन्न भिन्न प्रदेशों में इनकी ओर से शासक नियत रहते थे, जो प्रत्येक बात में स्वतंत्र थे। केंद्रस्थ शासक के प्रति उनका केवल इतना ही कर्त्तव्य था कि वे प्रत्येक वर्ष एक नियत कर दे दिया करें। केंद्रस्थ शासक को सदैव इन सूबेदारों का डर बना रहता था और इसी लिये एक बड़ी सेना राजधानी में रखी जाती थी, जिसमें ये प्रांतीय शासक लोग सिर न उठा सकें। इसी कारण से जब केंद्रस्थ शासक बलहीन होता था तब ये लोग स्वतंत्र बन बैठते थे। मुसलमानों के आक्रमण के समय यही हाल प्राय: सारे भारतवर्ष का था। राजा लोग अपने पड़ोसी को हराकर उसका देश छीन लेने में ही वीरता समझते थे। आपस में मेल करके बाहर से आकर आक्रमण करनेवालों से लड़ना इन लोगों ने न सीखा। सारे राजा लोग आपस में लड़ते थे और ऐसे ही समय पर विदेशियों ने यहाँ आकर अपना शासन जमाया।

२०—इस समय देश में वैष्णव धर्म का ही प्रचार अधिक था। गुप्त राजाओं के समय में बौद्ध धर्म को बहुत हानि पहुँची पर जैन धर्म बढ़ता ही गया। ऐसा जान पड़ता है कि जैन और वैष्णव धर्मों में कभी द्वेष नहीं हुआ। चंदेल राजा, जो कि वैष्णव थे, जैन मंदिरों को भी दान देते थे। चंदेलों के समय के बने कई जैन मंदिर भी पाए जाते हैं।

अध्याय ९

अफगानों का राज्य

१—मुसलमानों ने भारतवर्ष पर हमले करना वि० सं० ७६९ में आरंभ कर दिया था। इनके पहले हमले सिंध में हुए थे। इस समय यहाँ चच का लड़का दाहिर आलोर (राजधानी) में और उसका भतीजा (राजा चंद्र का लड़का) ब्रह्मनाबाद में राज्य करते थे। दाहिर के दो लड़के थे। इनके नाम फूफी और जयसिंह थे। इसके सूर्यदेवी और पालदेवी नाम की दो लड़कियाँ भी थीं। इन्होंने ही मुहम्मद कासिम से अपने बाप का बदला लिया था।

२—मुहम्मद कासिम के पश्चात् दूसरा मुसलमान बादशाह, जिसने भारतवर्ष पर आक्रमण किया, महमूद गजनवी था। इसके कई आक्रमण हुए हैं। बुंदेलखंड पर इसका पहला आक्रमण वि० सं० १०७८ में कालिंजर पर हुआ था। उस समय वहाँ पर गंडदेव चंदेल राज्य करता था। इसका हाल मुसलमान इतिहासकार निजामुद्दीन ने लिखा है कि गंडदेव चंदेल की हार हो गई थी और महमूद गजनवी कालिंजर से बहुत सा खजाना लूटकर ले गया था। इसके आक्रमण अधिकतर लूट-मार के लिये ही हुए थे। भारतवर्ष की अतुल संपत्ति लूटकर ले जाना ही इसका उद्देश्य था।

३—गंडदेव चंदेल के राज्य पर, जब यह वि० सं० १०८० में दुबारा आया था, तब चंदेल राजा गंडदेव ने ३०० हाथी और बहुत सा धन देकर इससे संधि कर ली थी और उसकी तारीफ में बहुत सी कविता भी भेजी थी जिसे सुन महमूद बहुत खुश हुआ और उसने उसके राज्य में १४ किले और भी बढ़ा दिए। यहाँ से वह ग्वालियर गया। यहाँ आते ही उसने घेरा डाल दिया। तब राजा देवपाल

कछवाहे ने बाध्य होकर उसे ३५ हाथी और बहुत सा धन देकर संधि कर ली और ग्वालियर को लुटने से बचाया।

४—दूसरा आक्रमण करनेवाला मुसलमान बादशाह गोर का शासक शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी था। इसे मुइज्जुद्दीन साम भी कहते थे। इससे और दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान से वि० सं० १२४८ में तरैन (करनाल और थानेश्वर के बीच दिल्ली से १०० मील उत्तर) में युद्ध हुआ था। इस युद्ध में पृथ्वीराज चौहान के सामंत चामुंडराय के हाथ से इसे गहरी चोट लगी थी, इससे यह वापिस चला गया, पर दूसरी बार इसने पृथ्वीराज चौहान को थानेश्वर के युद्ध में वि० सं० १२५० में हराया। इसके पश्चात् पृथ्वीराज चौहान को कैद कर मार डाला; परंतु रायसे में लिखा है कि मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज को पकड़कर गजनी ले गया। वहाँ उसने उसे अंधा कर दिया। कुछ दिनों के बाद पृथ्वीराज ने चंद बरदाई की सहायता से शहाबुद्दीन को मार डाला। उस समय भारतवर्ष के राजा लोग आपस में लड़ना ही अपना कर्तव्य समझते थे। पृथ्वीराज के हारने के बाद दिल्ली भी मुहम्मद गोरी के हाथ में आ गई। पंजाब पहले से ही इसके अधीन था। कुतुबुद्दीन ऐबक कुहराम (पटियाला) में रहता था।

५—संवत् १२५३ में मुहम्मद गोरी अपने सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को लेकर बयाना के राजा हरिपाल को परास्त करता हुआ ग्वालियर आया। यहाँ के राजा लोहनदेव पड़िहार ने इससे संधि कर अपना पिंड छुड़ाया। इस युद्ध में बयाना का सूबेदार बहाबुद्दीन तघरूल बेग भी आया था।

६—कुतुबुद्दीन बड़ा ही पराक्रमी था। इससे मुहम्मद गोरी के पीछे कई राजाओं को परास्त कर अपने अधीन कर लिया था। अंत में इसने वि० सं० १२५९ में कालिंजर पर चढ़ाई की। उस

समय यहाँ पर राजा परमर्दिदेव राज्य करता था। पर यह न तो योग्य शासक ही था न उसमें शूरता ही थी। यह युद्ध से सदा डरा करता था। पृथ्वीराज चौहान ने इसके राज्य का बहुत सा भाग पहले ही से वि० सं० १२३९ में छीन लिया था। पर जो कुछ रह गया था उसके जाने की भी अब बारी आई। बिचारे परमर्दिदेव से कुछ न बन पड़ा। उसने कुतुबुद्दीन की अधीनता स्वीकार करनी चाही पर उसके मंत्री ने इसे ही मार डाला और वह स्वयं युद्ध करता रहा। परंतु पीछे से वह भी युद्ध में मारा गया। इससे कालिंजर पर कुतुबुद्दीन का अधिकार हो गया। इस जीते हुए प्रदेश के शासन के लिये उसने हजबरुद्दीन हसन नामक एक मुसलमान सरदार को सूबेदार नियत कर दिया। यहाँ से कुतुबुद्दीन महोबा लेता हुआ काल्पी गया। उस समय महोबा काल्पी के राजा के अधीन था। इससे महोबा, काल्पी और इसके आस-पास का प्रदेश भी मुसलमानों के हाथ में आ गया। पर कालिंजर को हिंदुओं ने कुतुबुद्दीन के सूबेदार से छीन लिया।

७—मुहम्मद गोरी के मरने पर कुतुबुद्दीन स्वतंत्र हो गया। यह गोर के बादशाह शहाबुद्दीन (मुहम्मद गोरी) का गुलाम था। ऐबक इसकी जन्मभूमि थी। निशाँपुर के एक सौदागर ने इसे मुहम्मद गोरी के हाथ बेचा था। इसी से इसे ऐबक कहते हैं। इसका वंश गुलाम वंश कहलाया। इस वंश का तीसरा बादशाह अलतमश नाम का था। यह कुतुबुद्दीन का दामाद था। यह कुतुबुद्दीन के लड़के आरामशाह को वि० सं० १२६८ में गद्दी से उतारकर बादशाह हो गया। कालिंजर आरामशाह के पूर्व ही हिंदुओं के हाथ में चला गया था। इससे इसने वि० सं० १२६१ में फिर कालिंजर पर चढ़ाई की और वह यहाँ से बहुत सा लूट का माल ले गया।

८—इसके समय में वि० सं० १२७२ में चंगेजखाँ मुगल ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की और उसने गुलामवंश के बादशाहों के राज्य का कुछ उत्तरीय भाग ले भी लिया। अलतमश ने वि० सं० १२८८ में ग्वालियर पर चढ़ाई की। इस समय यहाँ पर सारंगदेव पड़िहार राजा राज्य करता था। हिंदुओं ने जी-जान से युद्ध किया पर हार गए। राजा सारंगदेव बड़ी बहादुरी से लड़कर खेत रहा। इसकी रानियाँ पहले ही से जलती हुई चिता में भस्म हो गई थीं। यहाँ से वह मालवा की ओर गया। भिलसा लेने के पश्चात् उसने उज्जैन को लूटा। सारंगदेव का नाम मुसलमान इतिहासकारों ने देवल लिखा है।

९—अलतमश के मरने पर उसका लड़का रुकनुद्दीन फीरोज वि० सं० १२९३ में गद्दी पर बैठा। यह सिर्फ ७ महीने राज्य कर पाया था कि इसकी बहिन रजिया बेगम को इसके सरदारों ने राजगद्दी पर बैठा दिया। पर इसे भी उन लोगों ने वि० सं० १२९७ में मार डाला और मुइजुद्दीन बहराम को गद्दी पर बैठाया। यह भी रजिया बेगम का भाई था। इस समय राजगद्दी देना और उससे अलग करना सरदारों के ही हाथ में था। ये लोग जिसे चाहते बात की बात में राजा से रंक कर धूल में मिला देते थे। इन्होंने वि० सं० १२९९ में बहराम को भी गद्दी से उतारकर रुक-नुद्दीन के लड़के मसऊद को गद्दी दे दी। इसके समय में मुगलों के हमले हुए। इसने सिर्फ पाँच ही वर्ष राज्य किया। इतने ही में उसने निर्दयता के अनेक काम किए। इससे सरदारों ने इसे भी वि० सं० १३०३ में गद्दी से उतारकर शमसुद्दीन अलतमश के छोटे लड़के नसीरुद्दीन महमूद को बहराइच से बुलाकर गद्दी पर बैठाया। यह एक योग्य शासक निकला। इसके समय में शासन-कार्य इसका बहनोई गयासुद्दीन बलबन किया करता था।

१०—इसने वि० सं० १३०४ (दिसंबर सन् १२४७) में कालिंजर पर चढ़ाई की। इस समय यहाँ पर बघेल राजा दलकेश्वर और मलकेश्वर राज्य करते थे, और चंदेल राजा त्रैलोक्यवर्मन के अधिकार में अजयगढ़ और उसके आस-पास का प्रदेश ही बाकी रह गया था। इन दोनों भाइयों ने नसीरुद्दीन से घोर युद्ध किया, पर हार गए। इससे इसने कालिंजर को मनमाना लूटा। इसके पश्चात् इसने वि० सं० १३०७ में नरवर पर चढ़ाई की। चाहड़देव हार गया। (फरिश्ता में जाहिरदेव लिखा है।) यहाँ से वह चँदेरी होता हुआ मालवा गया। यहाँ के राजा भी इसके अधीन हो गए। इस प्रकार नसीरुद्दीन महमूद ने बुंदेलखंड का बहुत सा भाग अपने अधीन कर लिया। नसीरुद्दीन ने वि० सं० १३०४ में बघेल राजाओं को परास्त कर कालिंजर को मनमाना लूटा था। उसके जाते ही हिंदुओं ने उसे फिर भी मुसलमानों से छीन लिया। इस तरह से यह किला कई बार हिंदुओं से मुसलमानों के हाथ आया और फिर कई बार हिंदुओं के हाथ में चला गया। अंत में इसने वि० सं० १३०८ में एक बड़ी सेना लेकर कालिंजर पर चढ़ाई की। इस समय इसने दिल्ली, ग्वालियर, कन्नौज और मुलतान कोट से भी सेना बुलवाई थी। इस समय तो कालिंजर मुसलमानों के हाथ आ गया, पर फिर भी उनसे निकलकर हिंदुओं के हाथ में चला गया। इस समय से यह किला कोई अढाई सौ वर्षों तक बराबर हिंदू राजाओं के हाथ में रहा आया। अंत में वि० सं० १५५५ में रीवाँ के बघेल राजा शालिवाहन से दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी ने अपनी कन्या का विवाह करने के लिये कहा, परंतु बघेल राजा ने अपनी राजकुमारी का विवाह एक मुसलमान बादशाह के साथ करना अनुचित समझकर इस प्रस्ताव को न माना। इससे बादशाह नाराज हो गया और उसने उस पर चढ़ाई कर दी। राजा

इस युद्ध में हार गया। अंत में बादशाह यहाँ से उसके देश को उजाड़ता हुआ बाँदा से दिल्ली चला गया। दिल्ली के मुसलमान बादशाह का वैमनस्य इसके पिता राजा भोरादेव के समय से चला आ रहा था।

११—इसके पश्चात् वि० सं० १६०२ में शेरशाह ने भी चढ़ाई की। इस समय यह बुंदेलों के अधीन था। राजा भारतीचंद ने इसका मुकाबला करने के लिये अपने भाई मधुकरशाह को भेजा, पर किला बुंदेलों के हाथ से निकल ही गया। यद्यपि शेरशाह बारूद के ढेर में आग लग जाने से झुलसकर मर गया, पर किला उसके मरने के पूर्व ही अधिकार में आ गया था। मुसलमान इतिहासकारों ने राजा का नाम नहीं लिखा, न उसकी जाति ही बतलाई है। इसी से मतभेद हो रहा है। जेनरल ए० कनिंघम इसका नाम कीर्ति-सिंह चंदेल बतलाते हैं और अबुलफजल शालिवाहन कहते हैं। ओड़छा स्टेट गजेटियर में यह भी लिखा है कि कालिंजर का किला निकल जाने पर सलेमनाबाद (शेरशाह के लड़के सलीमशाह के नाम पर बसाया हुआ आधुनिक जतारा का प्राचीन नाम) पर आक्रमण कर उसे सलीमशाह से छीन लिया।

१२—नसीरुद्दीन महमूद ने कालिंजर के सिवा बुंदेलखंड का बहुत सा भाग अपने अधीन कर लिया था। चंदेरी और मालवा भी वि० सं० १३०८ में इसके हाथ आ गए थे। पर अजयगढ़ और उसके आस-पास का प्रदेश अब तक चंदेलों के पास ज्यों का त्यों बना हुआ था। यह बिना संतान के मरा और गयासुद्दीन बलबन इसका मंत्री ही वि० सं० १३२३ में बादशाह हो गया। इस समय मालवा आदि प्रदेशों ने फिर भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया, परंतु बलबन ने उन्हें दबा दिया। इसके पश्चात् कोई योग्य शासक इस वंश में न हुआ। अंतिम बादशाह कैकोबाद को इसके

मंत्री जलालुद्दीन खिलजी ने मार डाला और वह स्वयं वि० सं० १३४५ में बादशाह बन बैठा।

१३—जलालुद्दीन खिलजी के समय से खिलजी वंश चला। इसने वि० सं० १३५० में माँड़ो पर चढ़ाई की और इसे लूटकर दिल्ली वापस चला गया। इसके पश्चात् इसके भतीजे अलाउद्दीन खिलजी ने इसी वर्ष भिलसा पर चढ़ाई की और वह बहुत सा लूट का माल ले गया। जलालुद्दीन खिलजी को अलाउद्दीन ने वि० सं० १३५२ में मार डाला और वह स्वतः बादशाह हो गया। इसने मालवा पर अपना दृढ़ अधिकार करके दक्षिण पर भी चढ़ाई की और महाराष्ट्र देश के यादव वंश के राजा रामदेव से एलिचपुर ले लिया। इसने वि० सं० १३६० में चित्तौड़ पर चढ़ाई की। यद्यपि राजपूतों ने बड़ी वीरता से अपना बचाव किया परंतु हार गए। इस समय भी भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों के शासकों ने मिलकर मुसलमानों का सामना करने का कभी निश्चय न किया। यादव राजा रामचंद्र को अलाउद्दीन की सेना ने दूसरी बार के आक्रमण में हरा दिया और उसे कैद कर लिया। अलाउद्दीन के बुढ़ापे में मंत्रियों में झगड़ा हो गया। इसी समय चित्तौड़ के राजपूतों को हम्मीर ने स्वतंत्र कर दिया और दक्षिण के यादवों ने मुसलमानों को मार भगाया। ऐसे ही गुजरात भी स्वतंत्र हो गया। अलाउद्दीन को उसके मंत्री मलिक काफूर ने संवत् १३७३ में मरवा डाला और उसके लड़के खिजरखाँ और शादी खाँ की आँखें निकलवा डालीं। यह मुबारक को भी मारना चाहता था, इससे सिपाहियों ने इसी को मार डाला और मुबारक को बादशाह बना दिया। इसे वजीर खुशरू ने वि० सं० १३७७ में मार डाला और वह स्वतः बादशाह हो गया। यह सिर्फ चार ही महीने राज्य कर पाया था कि इसे गाजी मलिक तुगलक ने मार डाला। फिर यही गाजी मलिक तुगलक

गयासुद्दीन तुगलक का नाम धारण कर वि० सं० १३७८ में बादशाह हो गया।

१४—दमोह जिले के बटियागढ़ नामक स्थान के किले के महल में एक शिलालेख मिला है। यह वि० सं० १३८१ का है। इसमें गयासुद्दीन का नाम आया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी तरफ से यहाँ पर कोई सूबेदार रहा होगा और उसी ने यह महल बनवाया होगा। वि० सं० १३८२ में जौनखाँ ने अपने पिता गयासुद्दीन को मार डाला और मुहम्मद तुगलक नाम धारण कर बादशाह हो गया। किसी किसी ने इसका नाम महमूद भी लिखा है।

१५—मुहम्मद तुगलक एक पागल बादशाह था। इसके मन में जो आता था वही कर डालता था। यह अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरि और देवगिरि से दिल्ली ले गया। इस राजधानी-परिवर्तन का कारण ऐसा बतलाते हैं कि इसका एक सरदार बागी होकर सागर के राजा के पास भाग आया। जब इसकी फौज ने सागर पर आक्रमण किया तब राजा देवगिरि भाग गया। इसे सर करने के लिये देवगिरि पर बादशाह ने स्वतः चढ़ाई की और इसकी प्राकृतिक शोभा देख इसे राजधानी बनाया और उसका नाम दौलताबाद रखा। यह बड़ा निर्दय भी था। इसी के समय में दक्षिण में विजयनगरम् और बह्मनी नाम के दो नये राज्य स्थापित हो गए।

१६—दमोह जिले के बटियागढ़ नामक स्थान में वि० सं० १३८५ का एक शिलालेख मिला है। इसमें मुहम्मद तुगलक का जिक्र है। इस समय इसकी ओर से जुलचीखाँ नाम का सूबेदार चंदेरी में रहता था और इस सूबेदार का नायक बटियागढ़ में रहता था। उस समय इसे बटिहाड़िम (बड़िहारिन) भी कहते थे और दिल्ली जोगनीपुर कहाती थी। मुहम्मद तुगलक के

बाप गयासुद्दीन के समय का भी एक लेख यहीं पर मिला है। ऐसे ही सुरोर नामक ग्राम में, जो जुकोही स्टेशन से १४ मील है, मुइनुद्दीन महमूद के समय का एक शिलालेख वि० सं० १३८५ जेठ सुदी ११ का मिला है। यह भी एक सतीचौरा है।

१७—मुहम्मद तुगलक के पश्चात् वि० सं० १४०७ में फीरोज तुगलक बादशाह हुआ। वि० सं० १४१३ में सागर जिले के दुलचीपुर ग्राम में एक सती हो गई थी। उसी के स्मारक पत्थर पर सुल्तान फीरोजशाह के राज्य का उल्लेख है। यह ९० वर्ष का होकर वि० सं० १४४५ में परलोक को सिधारा। इसके मरने पर इसके नाती फतेहखाँ का लड़का गयासुद्दीन, और जफरखाँ का लड़का अबूबकर क्रमानुसार बादशाह हुए, किंतु मार डाले गए। इनके पश्चात् नसीरुद्दीन महमूद वि० सं० १४४७ में बादशाह हुआ। इसके राज्य में अराजकता सी फैल गई। कहीं पर मुसलमान सूबेदार और कहीं हिंदू राजा स्वतंत्र बन बैठे। मालवा का सूबेदार दिलावरखाँ गोरी स्वतंत्र हो गया। इसने चंदेरी पर चढ़ाई की और बुंदेलखंड का दक्षिणी और पश्चिमी भाग भी अपने अधीन कर लिया। इससे बुंदेलखंड के अधिकांश भाग पर से दिल्ली का आधिपत्य फिर भी उठ गया। ग्वालियर में नरसिंहराय राजा बन बैठा। यह कटेहर का राजा था।

१८—तुगलक घराने के शासकों के समय में बुंदेलखंड के पश्चिम का भाग, जो धसान नदी के पश्चिम में है, पहले दिल्ली के शासकों के हाथ में चला गया था। इसके पश्चात् सागर और दमोह के जिले भी इन्हीं के अधीन हो गए। परंतु अजयगढ़ और कालिंजर तथा इनके आस-पास का प्रदेश चंदेलों के ही हाथ में रहा। जब मालवा का शासक दिलावरखाँ गोरी तुगलक वंश के बादशाह नसीरुद्दीन मुहम्मद के राजत्व-काल में दिल्ली के बादशाह

से स्वतंत्र हो गया तब जो प्रदेश दिल्ली के अधिकार में था वह सब मालवा के अधिकार में चला गया।

७—कालपी और महोबे का प्रांत पहले मालवा प्रांत में न था। यहाँ पर दिल्ली की ओर से मुहम्मदखाँ नाम का सूबेदार था। जब तुगलक वंश की शक्ति क्षीण हो गई तब यह मुहम्मदखाँ स्वतंत्र बन बैठा। जौनपुर का शासक ख्वाजाजहाँ उर्फ शाह शर्की भी इसी प्रकार स्वतंत्र हो गया। इसके मरने पर मालिक वासिल मुबारिक-शाह और इसके पश्चात् इबराहिमशाह राजा हुए। पर मालवा के शासक हुशंगशाह गोरी के सामने इसकी (मुहम्मदखाँ) एक भी न चली और हुशंगशाह ने कालपी पर आक्रमण कर उसे ले लिया। इससे कालपी और इसके निकट का प्रांत भी मालवा के अधिकार में चला गया।

८—इसी गड़बड़ के समय वि० सं० १४५५ में भारतवर्ष पर तैमूर का आक्रमण हुआ। इस आक्रमण से गड़बड़ी और भी बढ़ गई। फिरोजशाह तुगलक के पश्चात् का बादशाह महमूद (दूसरा) दक्षिण की ओर भाग गया और तैमूर लूट मार करके वापस चला गया। इस समय सारे देश में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत ही सिद्ध हो रही थी। राज्य-व्यवस्था के नियमों को हिंदू लोग भूल गए थे और मुसलमान लोग उन्हें जानते ही न थे। एक के बाद दूसरी मुसलमानी सेना उत्तर भारतवर्ष में लूट-मार करने आती थी। पहले हिंदू शासक थे, इससे उनका राज्य लूटा जाता था। अब मुसलमानों का लूटा जाने लगा। चंगेजखाँ और तैमूर इन दोनों ने तो मुसलमानी राज्य ही लूटे थे, क्योंकि इस समय यहाँ कोई बड़ा हिंदू राज्य रह ही न गया था। अलबत्ता कालिं-जर और अजयगढ़ में अब तक चंदेलों का ही राज्य चला आ रहा था। इसके सिवाय ग्वालियर में १४५९ में नरसिंहराय का लड़का ब्रह्मदेव

राज्य करता था। इसके पूर्व नरसिंहराय कटेहर का राजा था। इसने भी तैमूर की चढ़ाई के समय ग्वालियर अपने अधिकार में कर लिया था, परंतु ग्वालियर में प्राप्त शिलालेखों में वि० सं० १४५९ में वीरमदेव का नाम मिलता है। वीरमदेव के पश्चात् उधरनदेव और धैालसाप के नाम मिलते हैं। वीरमदेव संभवत: वीरसिंहदेव का लड़का हो। इस पर मुल्लयकबालखाँ ने चढ़ाई की। तैमूर के जाने के बाद यह दिल्ली का बादशाह हो गया था और महमूद दूसरे के नाम से बादशाहत करता था। ग्वालियर का किला बहुत ही मजबूत था। इससे वह आसपास के इलाके को लूट-पाटकर दिल्ली चला गया और वहाँ से फिर भी सेना लेकर आया, पर अंत में हारकर वापस चला गया।

९—वि० सं० १४६१ में ग्वालियर, झलवार और श्रीनगर के राजाओं की सम्मिलित सेना ने मुल्लयकबालखाँ पर चढ़ाई की। पर ये लोग इटावा के पास हार गए और एक बड़ी सी रकम देकर इन्होंने अपना पिंड छुड़ाया। महमूद वि० सं० १४६९ में मरा। इसके मरने पर दौलतखाँ लोधी बादशाह बन गया। इसने कटेहर के राजा नरसिंह पर चढ़ाई की। इस समय नरसिंहराय आदि जमींदारों ने इसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसी समय इबराहिमशाह शर्की ने कालपी के नवाब कादरखाँ पर चढ़ाई की। यह मुहम्मदखाँ का लड़का था। पर दौलतखाँ के पास अधिक सेना न थी, इससे यह सेना लाने के लिये दिल्ली चला गया। इस बीच खिजरखाँ सैयद ने अपनी पूर्ण तैयारी कर ली थी। इससे यह भी दिल्ली की ओर आया और इसने दौलतखाँ को वि० सं० १५७३ में (४ जून सन् १४१६) कैद कर लिया। यह मुलतान का सूबेदार था। खिजरखाँ सैयद ने वि० सं० १४७८ में कोटले पर चढ़ाई की। यहाँ से वह ग्वालियर की ओर आया। यहाँ के राजा गनपतदेव से कर

वसूल कर दिल्ली चला गया। वहाँ जाकर वह परलोक को सिधारा। इस वंश में सैयद मुबारिक, सैयद महमूद और सैयद अलाउद्दीन नाम के बादशाह हुए हैं। अंतिम बादशाह अलाउद्दीन को लाहोर के सूबेदार बहलूल लोधी ने वि० सं० १५०८ में गद्दी से उतार दिया और उससे बादशाहत छीन ली।

१०—बहलूल लोधी ने जौनपुर के शासक से संधि कर ली, पर पीछे से उसने इसके इलाके पर धावा कर दिया। इस प्रकार कभी तो जौनपुर का शासक दिल्ली पर चढ़ाई करता था और कभी बहलूल उसके राज्य पर आक्रमण कर बैठता था। अंत में वि० सं० १५३५ में हुसेनशाह शर्की ग्वालियर के राजा कीर्तिसिंह के पास आया। इसने जौनपुर के राजा की अच्छी सहायता की। इसने उसे कई लाख रुपए, हाथी, घोड़े और लड़ाई के सामान दिए तथा वह कालपी तक पहुँचाने के वास्ते भी आया। इधर बहलूल लोधी भी हुसेनशाह शर्की के भाई इबराहिम शर्की से इटावा लेकर कालपी की ओर आया। यहाँ पर कटेहर के राजा राय तिलोकचंद ने बहलूल को नदी के एक ऐसे घाट से उतार दिया कि शाह शर्की को इसकी खबर तक न लगी। इससे बहलूल ने जौनपुर के शासक को बात की बात में हरा दिया। इस समय कालपी के समीप का बुंदेलखंड का भाग मालवा के अधिकार में न था, वरन् जौनपुर के अधिकार में चला गया था। यही भाग अब बहलूल के अधिकार में चला आया।

११—मालवा का अधिकांश भाग हुशंगशाह के अधिकार में था। यह दिलावरखाँ का लड़का था। दिलावरखाँ पहले दिल्ली का सूबेदार था, पर वि० सं० १४५८ में दिल्ली से स्वतंत्र हो गया। हुशंग-शाह ने कालपी पर अधिकार कर लिया था, पर यह पीछे से जौनपुर के अधिकार में और जौनपुर से वि० सं० १५३५ में बहलूल के

अधिकार में चला गया। हुशंगशाह वि० सं० १४९३ में मरा। इसके दो वर्ष बाद मालवा खिलजियों के अधिकार में चला गया। इस वंश का पहला राजा महमूदशाह था। फरिश्ता से ऐसा पता लगता है कि महमूदशाह ने चंदेरी को अपने अधिकार में कर लिया था। इसके लड़के का नाम गयासशाह (गयासुद्दीन) खिलजी था। इसके राजत्व-काल का एक फारसी शिलालेख दमोह जिले के बटियागढ़ ग्राम में मिला है। उसमें लिखा है कि गयासशाह ने दमोह के किले की दीवार हिजरी सन् ८८५, अर्थात् वि० सं० १५३७, में बनवाई। यह वि० सं० १५३२ में तख्त पर बैठा और सं० १५५७ तक राज्य करता रहा। उस समय के कई सतीचौरों में इसका नाम उत्कीर्ण है। गयासशाह के लड़के का नाम नासिरशाह (नसीरुद्दीन) था और उसका लड़का महमूदशाह (दूसरा) था। इसके समय का भी एक शिलालेख दमोह में मिला है। इसके मुसलमान सरदारों ने जब इसे तख्त से उतारना चाहा तब मेदिनीराय ने इसकी बड़ी सहायता की, पर पीछे से इसने उन्हीं सरदारों के कहने से मेदिनीराय पर घात लगाया। इससे वह साथ छोड़कर चला गया। पीछे से गुजरात के बहादुरशाह ने इसे तख्त से उतारकर मरवा डाला और मालवा को गुजरात में मिला लिया। इस तरह वि० सं० १५८१ में खिलजी घराने से मालवा प्रदेश निकल गया।

१२—फीरोज तुगलक ने फर्हतुल्मुल्क को गुजरात का सूबेदार बनाया था, पर वह नसीरुद्दीन महमूद तुगलक के समय बागी हो गया। इससे मुजफ्फरखाँ सूबेदार नियत किया गया, परंतु यह तैमूरलंग की चढ़ाई के समय स्वतंत्र हो गया। इसके १३० वर्ष बाद बहादुरशाह तख्त पर बैठा। इसने वि० सं० १५९१ में मालवा पर चढ़ाई की और उसे अपने राज्य में मिला लिया। इस समय रायसिन में लोकमानसिंह राज्य करता था। इसके भाई का नाम

सिलहदी (शिलादित्य) और भतीजे का नाम भूपत था। जिस समय बहादुरशाह ने रायसिन पर चढ़ाई की उस समय शिलादित्य की रानी दुर्गावती (यह चित्तौर के राना साँगा की कन्या थी) सात सौ स्त्रियों सहित चिता में जल मरी और राजा लोकमानसिंह भी अपने अन्य राजपूतों के साथ खेत रहे। बहादुरशाह ने कालपी के सूबेदार आलमखाँ को रायसेन, भिलसा और चंदेरी का भी सूबेदार बना दिया। यह बहादुरशाह के साथ आया था।

१३—सैयद अलाउद्दीन के समय बहलूल लोधी सरहिंद का सूबेदार था। जब राज्य-व्यवस्था बिगड़ गई और बादशाहत की अवनति होने लगी तब हमीदखाँ वजीर ने बहलूल को सरहिंद से बुलाया। यह आते ही गद्दी पर बैठा। इसके ९ लड़के थे। अपनी वृद्धावस्था के समय इसने अपनी रियासत अपने पुत्रों में बाँट दी। बारबिक को जौनपुर, कड़ा और मानिकपुर, आलमखाँ को बहराइच, अपने भतीजे शेखजादा मुहम्मद को लखनऊ और कालपी, आजम हुमायूँ (बयाजीद का लड़का) और शाहजादा निजामखाँ को दुआब के कई जिले दे दिए और इसी को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

१४—बहलूल ने अपने लड़के बारबिक को जौनपुर दिया था। पर उस समय यहाँ पर हुसेनशाह शर्की राजा था। इसकी परवरिश के वास्ते सिर्फ ५ लाख रुपए सालाना आमदनी का इलाका हमेशा के वास्ते दे दिया गया। यहाँ से बहलूल कालपी की ओर आया। इसे अपने अधिकार में करके अजीम हुमायूँ को दे दिया। पीछे से इसने ग्वालियर पर भी चढ़ाई की पर राजा से बहुत सा रुपया नजराना लेकर वह चला गया। इस समय राजा मानसिंह तोमर ग्वालियर में राज्य करता था।

१५—बहलूल के मरने पर सिकंदर बादशाह हुआ। इसने अपने भतीजे अजीम हुमायूँ से कालपी ले ली और उसे मुहम्मदखाँ

लोधी को दे दिया। यहाँ से यह ग्वालियर की ओर वि० सं० १५४७ में आया। इस समय भी मानसिंह तोमर का राज्य था। इसने वि० सं० १५५८ में धौलपुर के विनायकदेव पर चढ़ाई की, पर राजा भागकर ग्वालियर चला आया। इससे सिकंदर ने ग्वालियर पर दुबारा चढ़ाई की। अंत में राजा ने संधि कर ली और राजा विनायक-देव को धौलपुर दे दिया गया। इसके पाँच लड़के थे। इबराहीम और जलालखाँ में इसके मरने पर गद्दी के लिये झगड़े हुए। इस समय अजीम हुमायूँ कालिंजर जीतने में लगा हुआ था। जलालखाँ ने अपने लड़के-बच्चों को कालपी के किले में रख दिया और आप जौनपुर का राजा हो गया। वि० सं० १५७५ में इबराहीम ने इसे परास्त करने के लिये सेना भेजी, पर यह ग्वालियर की ओर भाग गया। इस समय यहाँ पर मानसिंह का लड़का विक्रमाजीत राज्य करता था। शाही सेना से सामना होने पर राजा की हार हो गई। जलालखाँ गढ़ाकोटा जा रहा था, पर रास्ते में गोंड़ों ने पकड़कर इसे बादशाह के पास भेज दिया। वहाँ यह मरवा डाला गया। इसके पश्चात् इसने अजीम हुमायूँ शेरवानी को, जो ग्वालि-यर की चढ़ाई में भेजा गया था, वापस बुलाकर मरवा डाला। इस प्रकार उसने अफसरों को तंग कर डाला। अंत में दौलतखाँ ने बाबर बादशाह को इससे लड़ने को बुलवाया।

१६—बाबर ने वि० सं० १५८३ में इबराहीम लोधी को पानीपत के मैदान में हराकर दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया, परंतु चित्तौड़ के राजा राना साँगा को दिल्ली की बादशाहत पर बाबर का अधिकार हो जाना अच्छा न लगा। इससे इसने एक बड़ी राजपूत सेना साथ लेकर बाबर पर चढ़ाई कर दी। पर राजपूत हार गए। यह युद्ध भी इसी साल हुआ। इस युद्ध में ग्वालियर के राजा विक्रमाजीत, रायसेन के शिलादित्य, चंदेरी के मेदिनीराय

और गागरौन तथा कालपी के राजा भी गए थे। कहते हैं कि शिलादित्य राणा से विश्वासघात कर बाबर से मिल गया था। यह राना की सेना का हरावल था। (टॉड-राजस्थान)

१७—बाबर ने वि० सं० १५८७ में चंदेरी के राजा मेदिनीराय पर चढ़ाई की। राजा ने जौहर व्रत किया। इससे सूना किला और टूटी-फूटी मसजिदें ही बाबर के हाथ लगीं। यही हाल रायसेन, सारंगपुर और भिलसे का भी हुआ। अंत में यह मालवा का राज्य अहमदशाह को देकर ग्वालियर चला आया। यहाँ पर उसने किला, मानसिंह के बनवाए महल और बगीचा देखा। इसके बाद उसने शमसुद्दीन अलतमश की बनवाई, पर बे-मरम्मत टूटी-फूटी, मसजिदें देखीं और यहीं पर नमाज पढ़ी।

१८—मुसलमान शासकों ने हिंदुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाना आरंभ कर दिया था, परंतु बुंदेलखंड में इसका अधिक जोर न रहा। ब्राह्मणों ने हिंदू समाज को मुसलमानों के संसर्ग से बचाने के लिये बड़े बड़े नियम बनाए। कबीर, रामानंद, नानक और चैतन्य इत्यादि धर्मगुरु इसी समय हुए। कविवर विद्यापति ठाकुर और चंडीदास भी इसी काल के हैं। पठानों का सब शासन बादशाह के ही हाथ में रहता था। उसके सामने किसी भी मंत्री की कुछ न चलती थी। वह सदा अपने इच्छानुसार ही कार्य किया करता था।

अध्याय १०

मुगलों का राज्य

१—पानीपत और सिकरी के युद्ध के अनंतर बाबर दिल्ली का बादशाह हो गया। परंतु वह अधिक दिन तक राज्य न कर सका और विक्रम संवत् १५८७ में उसकी मृत्यु हो गई। बाबर के पश्चात्

उसका बड़ा लड़का हुमायूँ दिल्ली के तख्त पर बैठा। हुमायूँ के कामराँ, हिंदाल और अस्करी—ये तीन भाई थे। इन्हें बाबर के मरने पर हुमायूँ ने अपने राज्य का भाग दिया। परंतु इनमें झगड़े हो गए और प्रांतीय शासक इस समय में स्वतंत्र बनने लगे। इस समय गुजरात का शासक बहादुरशाह था। यह स्वतंत्र हो गया था और इसने मालवा अपने अधिकार में कर लिया था, पर हुमायूँ ने इसे हराकर मालवा अपने अधिकार में कर लिया। इसके साथ बुंदेलखंड का पश्चिमी भाग भी, जो बहादुरशाह के अधिकार में था, अब हुमायूँ के अधिकार में आ गया। इसने कालिंजर पर भी चढ़ाई की थी, किंतु किला फतह करने के पूर्व ही इसे चला आना पड़ा। हुमायूँ को फिर बिहार की ओर अपनी सेना लेकर जाना पड़ा, क्योंकि बिहार का शासक शेरखाँ (जिसे शेरशाह भी कहते हैं) वहाँ पर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर चुका था इसकी राजधानी बिहार के सहसराम नामक स्थान में थी। जब हुमायूँ अपनी सेना लेकर बिहार की तरफ गया तब गुजरात के बहादुरशाह ने फिर अपना पुराना राज्य हुमायूँ के हाथ से ले लिया और वह स्वतंत्र बन गया। शेरशाह ने संवत् १५९६ में बक्सर की लड़ाई में हुमायूँ को हरा दिया। इससे उसे वहाँ से भागना पड़ा। शेरशाह ने भी अपनी फौज लेकर हुमायूँ का पीछा किया और उसे कन्नौज की लड़ाई में फिर भी हराया। फिर दिल्ली आकर वह तख्त पर बैठा। यह सूर जाति का था। इससे इसे शेरशाह सूर भी कहते हैं।

२—हुमायूँ ने कालिंजर पर आक्रमण किया था। उस समय कालिंजर के चंदेल राजा ने हुमायूँ की अधीनता स्वीकार कर ली थी, इससे हुमायूँ ने फिर किले को नहीं घेरा।

३—संवत् १५९९ में शेरशाह ने मालवा पर अधिकार कर लिया। इससे वह सब प्रदेश, जो गुजरात के शासक के पास था,

शेरशाह के अधिकार में आ गया। इसके बाद संवत् १६०० में उसने राजसीन (रायसेन) पर भी चढ़ाई की। यह इसके अधिकार में तो आ गया पर इसने किले के भीतर के सिपाहियों को मरवा डाला। मालवा लेने के पश्चात् शेरशाह ने चित्तौड़गढ़ को अपने अधिकार में किया। फिर विक्रम संवत् १६०० में शेरशाह ने कालिंजर पर धावा किया। राजसीन (रायसेन) का किला तो शेरशाह के अधिकार में आसानी से आ गया था, क्योंकि किले के अधिपति ने शेरशाह की बड़ी फौज से सामना करना ठीक न समझ उसे किले का अधिकार दे दिया और शेरशाह ने किले के सिपाहियों के साथ अच्छा व्यवहार करने का वचन दिया। परंतु जब शेरशाह किले के भीतर घुसा तब उसने अपना वचन न निबाहा और विश्वासघात करके सब सिपाहियों को अचानक मरवा डाला था। इसी कारण बुंदेलों ने कालिंजर के आक्रमण के समय शेरशाह से शक्ति भर लड़ने का निश्चय कर लिया। मुसलमानी इतिहासकार अहमद यादगार लिखता है कि शेरशाह ने कालिंजर पर आक्रमण इसलिये किया था कि कालिंजर में वीरसिंह नामक बुंदेला छिपा था। वह शेरशाह का दुश्मन था। कालिंजर के लिये बुंदेलों ने खूब लड़ाई की, परंतु शेरशाह ने कालिंजर ले ही लिया और मधुकरशाह हार गया। अहमद यादगार का लिखना असत्य है, क्योंकि वीरसिंहदेव राजा मधुकरशाह के पुत्र थे। ये वि० सं० १६६२ में अपने पिता के बाद गद्दी पर बैठे थे। यह भी लिखा मिलता है कि कालिंजर में इस समय कीर्तिसिंह चंदेले का राज्य था; पर यह ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि अबुलफजल ने लिखा है कि रानी दुर्गावती राठ के राजा शालिवाहन की लड़की थी। कालिंजर का किला शेरशाह के मरने के पूर्व ही मुसलमानों के अधिकार में आ गया। बारूद के थैलों में आग लग जाने से शेरशाह और उसके कई सरदार झुलस गए थे।

४—शेरशाह के मरने पर उसका लड़का इस्लामशाह बादशाह हुआ। कालिंजर के युद्ध में यह भी अपने पिता के साथ था। वि० सं० १६०२ में यह अपने पिता का धन चुनार से ग्वालियर लाया और कुतुब आदि लोगों को, राजविद्रोह के अपराध में, पकड़कर इसने इसी किले में कैद किया। वि० सं० १६०२ में यह फिर यहाँ आया था। इसी के सामने आटेमसखाँ (?) ने अपने पिता का वैर निकालने के लिये मालवा के शुजाअतखाँ को कटार मार दी थी। यह वि० सं० १६१० में मरा। इस समय उसका पुत्र बहुत छोटा था। इसे मुहम्मद आदिलशाह ने मार डाला। यह इस्लामशाह का भाई था। पश्चात् मुहम्मद आदिलशाह बादशाह हो गया। इसके समय में बादशाहत का सब काम हेमचंद्र सरदार करता था। यह जाति का भार्गव था। परंतु राजघराने में इस समय झगड़े हो गए और इब्राहीम सूर बादशाह बन गया। इब्राहीम सूर को सिकंदर सूर ने गद्दी से उतार दिया। इसी समय हुमायूँ फारस के बादशाह से सहायता लेकर भारतवर्ष में आया और सिकंदर सूर को सरहिंद की लड़ाई में हराकर फिर दिल्ली का बादशाह विक्रम संवत् १६१२ में बन गया। हुमायूँ के मरने पर उसका लड़का अकबर बादशाह हुआ। इस समय यह १४ वर्ष का था।

५—मुहम्मद आदिलशाह के दीवान हेमचंद्र के पास बहुत सी सेना थी। उसी के सहारे इसने बंगाल और बिहार पर अधिकार कर लिया और हुमायूँ के मरने पर उसने दिल्ली पर भी चढ़ाई की।

६—इस समय दिल्ली में हुमायूँ का लड़का अकबर बादशाह बना दिया गया था। अकबर का एक बड़ा मददगार बहराम नाम का सरदार था। अकबर ने बहराम को साथ लेकर पानीपत में हेमचंद्र का सामना किया। पानीपत का युद्ध विक्रम संवत् १६०३

में हुआ। अचानक हेमचंद्र की आँख में एक तीर लग गया जिससे उसको बड़ी चोट आई और उसकी सेना तितर-बितर हो गई। इस युद्ध में हेमचंद्र कैद कर लिया गया।

७—पानीपत के युद्ध के पश्चात् अकबर मुगल बादशाहत का मालिक हो गया। बहराम राज-काज में बहुत हस्तक्षेप करता था। इससे अकबर ने उसके हाथ से राज्य का सब काम ले लिया और जब बहराम ने बलवा किया तब उसे हरा दिया। आदिलशाह का लड़का शेरशाह (दूसरा) जौनपुर पर अधिकार किए बैठा था। अकबर ने उसे हराकर जौनपुर पर भी कब्जा कर लिया। मालवा में उस समय बाजबहादुर नाम का एक मुसलमान शासक था। वह स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहा था। परंतु अकबर ने उसे वि० सं० १६१८ में हराकर मालवा भी अपने अधिकार में कर लिया। ऊपर कहा जा चुका है कि इस समय मालवा में बुंदेलखंड का पश्चिमी भाग भी सम्मिलित समझा जाता था। इससे यह भी मालवा के साथ अकबर के राज्य में चला गया।

८—वि० सं० १६२४ में अकबर गागरौन आया। इसके आने का हाल सुनते ही सुलतान मुहम्मद मिरजा के लड़के, जो मांडो के किले में रहते थे, डरकर भाग गए। इससे अकबर शहाबुद्दीन अहमद निशापुरी को सूबेदारी पर रख चित्तौड़ चला गया।

९—इस समय बुंदेलखंड के पूर्व में बघेलों का राज्य बढ़ रहा था। इनके इतिहास से जाना जाता है कि ये लोग वि० सं० १२९० के लगभग कालिंजर के समीप मड़फा नामक ग्राम में पश्चिम से आकर बसे थे। यह ग्राम कालिंजर के ईशान में १८ मील पर है। कालिंजर के निकट बघेलबाड़ी और बघेलन नाम के दो ग्राम हैं। ये दोनों नाम संभवत: बघेलों के नाम पर से ही पड़े हैं। ऐसा कहा

जाता है कि ये लोग गुजरात से आए थे और इनके आदि-पुरुष का नाम व्याघ्रदेव[1] था।

---

(१) बघेल शब्द की व्युत्पत्ति व्याघ्रदेव से ही हुई है ऐसा लोगों का कथन है, पर रीवाँ स्टेट गजेटियर और टॉड-राजस्थान में लिखा है कि ये लोग अनहिलवाड़ा पाटन के चालुक्य या सोलंकी क्षत्रिय राजाओं की एक शाखा हैं। इनकी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई जाती है कि उत्तरीय गुजरात में चावड़ क्षत्रिय राज्य करते थे। इन्हें कल्यान के भुवाड़ राजा ने वि० सं० ७६६ के लगभग मार भगाया। इससे राजा की गर्भवती रानी भी, अपने भाई के साथ, जंगल की ओर भाग गई। वहाँ उसे पुत्र हुआ। रानी ने इसका नाम वनराज रखा। इसी वनराज ने अनहिलवाड़ा बसाया और इसी से चावड़ वंश चला। इस वंश में वि० सं० ९९८ तक राज्य रहा। पीछे से चालुक्य लोगों ने इन्हें मार भगाया।

चावड़ वंश के अंतिम राजा का नाम सामंतसिंह था। इसकी बहिन चालुक्यराज को ब्याही थी। इसके लड़के का नाम मूलराज था। इसने अपने चचा को मारकर स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। इस वंश में वि० सं० १२९९ तक राज्य रहा। चालुक्य राजा कुमारपाल के राजत्व-काल में इसकी मौसी का पुत्र अरुनोराज हुआ। इसे राजा कुमारपाल ने सामंत की पदवी से विभूषित किया और व्याघ्रपल्ली या बघेला जागीर में दिया। इसी ग्राम में बसने के कारण अरुनोराज का वंश बघेल कहलाया। इसके पिता का नाम धवल था।

अरुनोराज के लड़के का नाम लवनप्रसाद था। यह गुजरात के राजा अजयपाल के समय भेलसा और उदयपुर का सूबेदार था। यह वि० सं० १२२९ से १२३३ तक इस पद पर रहा। पर पीछे से यह भीम दूसरे का मंत्री हो गया। इसे धवलगढ़ जागीर में मिला था। यह ग्राम बघेल से ३० मील नैऋर्त्य में है।

लवनप्रसाद का विवाह मदनरजनी से हुआ था। इससे वीर धवल नाम का पुत्र हुआ। इसने सुलतान मुइज्जुद्दीन मुहम्मद गोरी से युद्ध किया था। इसके बीरम, वीसलदेव और प्रतापमल्ल नाम के तीन पुत्र हुए। यह वि० सं० १२७६ से १२९५ तक रहा। इसके मरने पर इन लड़कों में वि० सं० १२९५ में युद्ध हो गया। इसमें वीसलदेव की जीत हुई। किंतु इससे

१०—व्याघ्रदेव[1] वि० सं० १२९० में कालिंजर के पास मड़फा में आया। इसका विवाह मकुंददेव चंद्रावत की कन्या सिंधुरमती से हुआ था। इससे इसके ५ लड़के हुए। ज्येष्ठ पुत्र कर्णदेव ने तोंस (तमसा) नदी के आस-पास का प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। इसका विवाह रतनपुर के राजा सोमदत्त की कन्या पद्म-कुँवरि से हुआ था। इसे बाँधोगढ़ दहेज में मिला था।

११—बघेल राजा वीरसिंहदेव का विवाह मोहनसिंह कछवाहे की कन्या के साथ हुआ था। इससे और सिकंदर लोधी से बहुत बनती थी। यह प्राय: उसके दरबार में जाया करता था। इसने राजगोंड़ राजा अमानदास उर्फ संग्रामशाह को अपने यहाँ आश्रय दिया था। वीरसिंहदेव इसे बहुत चाहता था।

१२—बघेल राजा वीरभानदेव हुमायूँ का समकालीन है। इसका विवाह गोपालपुर के राव सुल्तानसिंह कछवाहे की कन्या के साथ हुआ था। जब शेरशाह ने हुमायूँ को भगाया तब बघेल राजा वीरभानदेव ने हुमायूँ की स्त्री आदि को अपने यहाँ रखा था,

---

और भीम दूसरे के उत्तराधिकारी त्रिभुवनपाल से वैमनस्य हो गया। इससे वीसलदेव उसे गद्दी से उतार स्वयं राजा हो गया। इसके पश्चात् अर्जुनदेव, सारंगदेव और कर्णदेव राजा हुए। कर्णदेव ने वि० सं० १३५४ तक नाम मात्र के लिये राज्य किया। इसे वि० सं० १३५५ में सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के भाई उलगखाँ ने युद्ध में हरा दिया। इससे कर्णदेव देवगिरि के राजा रामदेव के यहाँ चला गया और वहाँ रहने लगा। यह वि० सं० १३६१ में परलोक को सिधारा।

(१) बघेलों का कथन है कि वीर धवल के लड़के का नाम व्याघ्रदेव था, पर इतिहास में बीरम मिलता है। यह वीर धवल का ज्येष्ठ पुत्र है। यह वीसलदेव से युद्ध में हारकर आया होगा।

टॉड साहब का कथन है कि व्याघ्रदेव वि० सं० १२०७ में आया था। इससे यह कलचुरि राजा नरसिंहदेव का समकालीन होता है, पर यह इतिहासों से सिद्ध नहीं होता।

पर किसी भी मुसलमान इतिहासकार ने यह बात नहीं लिखी। जब शेरशाह मरा तब रीवाँ, जो बघेलखंड की राजधानी है, जलाल-खाँ नाम के एक शासक के अधीन था। किंतु कालिंजर और बाँधोगढ़ दोनों बघेल राजा रामचंद्र के ही अधिकार में थे। कालिंजर को राजा रामचंद्र ने शेरशाह के दामाद अलीखाँ से लिया था। कोई कोई इसे बिजलीखाँ भी कहते हैं। अलीखाँ कालिंजर का सूबेदार था। बघेल राजा रामचंद्र वीरभान का पुत्र है। यह वि० सं० १६१२ में गद्दी पर बैठा था। इसके गद्दी पर बैठते ही इब-राहीम सूर ने चढ़ाई की, पर वह युद्ध में हार गया। किंतु बघेल राजा रामचंद्र ने इसके साथ बहुत ही अच्छा व्यवहार किया और इसे अतिथि के समान अपने यहाँ रखा। इसने वि० सं० १६२६ में कालिंजर और उसके आस-पास का बहुत सा प्रदेश अकबर को दे दिया। यह किला इसके वंशजों में लगभग १२० वर्ष तक रहा।

१३—जब दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के राजत्व-काल में वि० सं० १६९१ में ओड़छे के राजा जुझारसिंह ने विद्रोह किया उस समय उसे दबाने के लिये खानेदौरान के साथ औरंगजेब भी भेजा गया था। इस समय शाही फौज को मदद देने के लिये चंदेरी का राजा देवीसिंह और रीवाँ का राजा अमरसिंह भी आया था। यह वि० सं० १६८१ में गद्दी पर बैठा था। इसे रतनपुर के राजा प्रतापसिंह की कन्या ब्याही थी। अमरसिंह वि० सं० १६९७ में मरा और अनूपसिंह राजा हुआ। इसका विवाह मिरजा-पुर के पास अंगोरी में मोहनसिंह चंदेल राजा की कन्या के साथ हुआ था। इस पर ओड़छे के राजा पहाड़सिंह ने वि० सं० १७०७ में चढ़ाई की, पर राजा अपनी निर्बलता के कारण युद्ध न कर भाग गया और एक पहाड़ी में जा छिपा। इससे पहाड़सिंह ने राजधानी को मनमाना लूटा। इस लूट में से इसने वि० सं० १७०९ में एक

हाथी और ३ हथिनियाँ दिल्ली के तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ को भेंट कीं। ऊपर लिखा जा चुका है कि कालिंजर का किला लगभग १२० वर्षों तक मुगलों के हाथ में रहा। अंत में इसे राजा छत्र-साल ने औरंगजेब से छीन लिया। इस समय कालिंजर में औरंग-जेब की तरफ से तहौवरखाँ रहता था। यह युद्ध में हार गया। वीरगढ़वालों ने भी तहौवरखाँ की मदद की थी, पर छत्रसाल को ही विजय-लक्ष्मी प्राप्त हुई।

१४—रामचंद्र से कालिंजर का किला लेने पर बुंदेलखंड का अधि-कांश भाग अकबर के अधिकार में चला गया। इस समय मुगलों के पास पूर्व में कालिंजर, पश्चिम में धसान नदी के पश्चिम का भाग और उत्तर की ओर कालपी के आस-पास का बहुत सा प्रदेश था। ओड़छा इस समय बुंदेलों के हाथ में था, परंतु विक्रम संवत् १६५९ में वीरसिंहदेव ने अबुलफजल को मार डाला इससे ओड़छा भी मुगलों ने अपने अधिकार में कर लिया।

१५—मुगलों ने गोंडवाना और बुंदेलखंड के कुछ भाग को लेने का अधिक प्रयत्न नहीं किया। इन सब प्रदेशों को, जिन पर मुगलों का अधिकार न था, मुगल लोग गोंडवाना कहते थे। गोंडवाने का विस्तार आईन अकबरी के अनुसार इस प्रकार है—पूर्व में रतनपुर का राज्य, पश्चिम में मालवा, उत्तर में पन्ना और दक्षिण में दक्खन। इसमें दमोह और शेष बुंदेलखंड का कुछ भाग शामिल था। अकबर ने गोंडवाने की रानी दुर्गावती के युद्ध के पश्चात् इस ओर अधिक लक्ष्य न किया। रानी दुर्गावती का हाल आगे के अध्याय में लिखा जायगा।

१६—अकबर ने राजपूताने के राजपूतों को भी अपने अधिकार में कर लिया था, परंतु चित्तौड़ के राना ने अकबर की अधीनता स्वीकार न की। जब अकबर ने चित्तौड़ ले लिया तब भी वहाँ के

राना ने परतंत्रता स्वीकार न की और वह चित्तौड़ छोड़कर उदयपुर नामक स्थान बसाकर वहाँ रहने लगा। इस राना का नाम उदयसिंह था। उदयसिंह के पुत्र प्रतापसिंह ने अंत में मुगलों के हाथ से चित्तौड़गढ़ ले लिया। ये जेठ सुदी ३ रविवार वि० संवत् १५९७ तदनुसार ता० ९-५-१५४० को पैदा हुए थे।

१७—अकबर के पहले के बादशाहों ने हिंदुओं पर जजिया नाम का कर लगाया था। उन लोगों ने हिंदुओं को हर प्रकार से तंग किया और जबरदस्ती उन्हें मुसलमान बनाने की चेष्टाएँ की थीं। इसी कारण हिंदू लोग सदा उनसे नाराज रहे और उनका राज्य न जमने पाया। अकबर ने हिंदू और मुसलमानों से बराबरी का बर्ताव किया और उसी सबब से मुगल राज्य की नींव भारतवर्ष में जम गई। अकबर के समय में राज्य का प्रबंध बहुत अच्छा रहा था।

१८—अकबर के मरने पर उसका लड़का जहाँगीर संवत् १६६२ में तख्त पर बैठा। इसने शेर अफगन को मरवाकर उसकी स्त्री नूरजहाँ के साथ संवत् १६६८ में ब्याह किया। नूरजहाँ ने जहाँगीर के लड़कों में लड़ाई करा दी। इसमें शाहजहाँ सफल हुआ और वह जहाँगीर के पश्चात् संवत् १६८४ में बादशाह हुआ। जहाँगीर के समय में अँगरेज, डच, पुर्तगाली और फरासीसी व्यापारी भारतवर्ष में आए। इन लोगों ने अपने व्यापार के स्थान नियत किए और यहाँ पर किले बनवाने के लिये बादशाहों से समय समय पर सनदें लीं।

१९—शाहजहाँ ने दक्षिण के राज्यों पर अधिकार दृढ़ कर लिया था, परंतु उसकी बादशाहत के अंत के समय फिर उसके लड़कों में झगड़े आरंभ हुए। शाहजहाँ के समय में ओड़छे में जुझारसिंह बुंदेले का राज्य था। इसने स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया, परंतु शाहजहाँ ने उसे हरा दिया। शाहजहाँ के लड़कों के युद्ध

में औरंगजेब सफल हुआ। इसी गड़बड़ के समय मराठों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और नर्मदा नदी के उत्तर के कई स्थानों पर आक्रमण किया। औरंगजेब के ही समय में बुंदेलखंड में बुंदेले और महाराष्ट्र में मराठे बढ़े। इन्होंने किस प्रकार धीरे-धीरे मुसलमानों से राज्य ले लिया, यह आगे के अध्यायों में लिखा जायगा।

अध्याय ११

गोंड़ (राजगोंड़) लोगों का राज्य (रानी दुर्गावती तक)

१—गोंड़ (राजगोंड़) लोगों का राज्य मुगलों के राज्य से बहुत पुराना है। मुसलमानों ने इनके प्रदेश का गोंड़वाना नाम लिखा है। इनके मतानुसार उड़ीसा और खानदेश के बीच का सब प्रदेश गोंड़वाना कहलाता था, किंतु आजकल जिस देश को गोंड़वाना कहते हैं वह नर्मदा के दक्षिण और ताप्ती तथा वर्धा नाम की नदियों के उत्तर में है। पूर्व-काल में गोंड़ लोगों का राज्य उत्तर में देवगढ़[1] और दुदाही तक पहुँच गया था। कविवर चंद के पृथ्वीराजरायसे में गौड़ (गोंड़) लोगों का नाम आया है। कन्नौज में जगनायक ने आल्हा से कहा था कि मैंने देवगढ़[2], चाँदा

---

(१) देवगढ़ और दुदाही झाँसी जिले की ललितपुर तहसील में है।

(२) यह मध्य प्रदेश के वर्तमान छिंदवाड़ा जिले में है। यह सूबे बरार में था। इसका खिराज यहाँ के राजा से वसूल होकर औरंगाबाद भेजा जाता था। किंतु सूबे बरार में जाने के पूर्व यह मालवा सूबे में शामिल था (राजगोंड़ महाराजा सफा १३८ पाराग्राफ १०८)। मुहम्मद तुगलक ने जिस शहर का नाम दौलताबाद रखा था उसी का नाम फरिश्ता की पुस्तक के पहले भाग के सफा ४१९–४२० में देवगिरि के बदले देवगढ़ लिखा है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज छत्रसाल नामक उपन्यास के लेखक ने उसे देवगढ़ मानकर ही उसके टूटने पर महाराज जयसिंह के सम्मुख

और सब गौड़ (गोंड़) देश को अपने अधिकार में कर लिया है। आल्हा के समय परमाल चंदेल राजा था, और परमाल के समय देवगढ़ चंदेल राज्य में था। फिर पृथ्वीराज ने परमाल का बहुत सा राज्य ले लिया। संभवत: कीर्तिवर्मा चंदेल की मृत्यु के पश्चात् गोंड़ लोगों ने यहाँ अधिकार किया हो, पर पीछे से जगनायक ने देवगढ़ फिर से वापिस ले लिया हो। पृथ्वीराज के मंत्री ने परमाल के गढ़ पर चढ़ाई करने का हाल पृथ्वीराज से कहा था। पृथ्वीराजरायसे में जो गौड़ देश लिखा है उसका अर्थ इसी राजगोंड़ राज्य से है।

२—गोंड़ लोगों का प्रसिद्ध स्थान गढ़ा (मंडला) था। यहाँ के मोतीमहल में एक शिलालेख मिला है जिसमें गोंड़ राजाओं की वंशावली दी है। इस वंशावली और प्रचलित कथाओं से गोंड़ राजाओं के नाम और उनके राज्यकाल का पता लग गया है। रामनगर के महल में भी एक वंशावली दी है। यह वंशावली पं० जयगोविंद वाजपेयी राजमंत्री और पुरोहित के संग्रह पर से तैयार की गई थी। इन राजाओं ने सबसे पहले अपना राज्य गढ़ा नामक स्थान में जमाया था। प्राचीन गोंड़ राज्य की यही राजधानी थी। गढ़ा के पहले गोंड़ राजा की लड़की का नाम रत्नावली था। इसका ब्याह यादवराय क्षत्रिय के साथ हुआ था। यही यादवराय

छत्रसाल से नीचे लिखे वाक्य कहलवाए हैं। "(छत्रसाल ने उद्वेग से कहा।) विजय प्राप्त हो किसी दूसरे को और आनंद मनावे कोई और ? आज तो दिल्लीपति की जीत हुई है। मैं उसके लिये क्यों आनंद मनाने लगा ? मैंने तो केवल अपना कटु कर्तव्य समझकर युद्ध किया था। देवगढ़ पहले भी पराधीन था और अब भी पराधीन है। उस पर आदिलशाही अधिकार रहा तो क्या और औरंगजेब का अधिकार हुआ तो क्या ? उस पर शिया मुसलमानों का झंडा फहराया तो क्या और सुन्नी मुसलमानों का निशान गड़ा तो क्या ? छत्रसाल के लिये दोनों बराबर हैं।" (छत्रसाल सफा २१६)

अपने ससुर के मरने पर गढ़ा राज्य का मालिक हुआ। कहा जाता है कि यादवराय विक्रम संवत् ४१५ में सिंहासन पर बैठा। परंतु कई विद्वानों का कथन है कि ४१५ विक्रम संवत् नहीं, चेदि संवत् है। इस दृष्टि से यादवराय का राज्यकाल विक्रम संवत् ७२१ से आरंभ होता है। यादवराय के पश्चात् जिन राजाओं ने राज्य किया उनके नाम उपर्युक्त वंशावली से प्राप्त हुए हैं। ये यादवराय पड़िहार, लांजी के कलचुरी राजा के यहाँ नौकर थे।

३—यादवराय के पश्चात् लगातार एक राजा के बाद उसका पुत्र राजगद्दी पर बैठता आया। इन राजाओं[1] के नामों के सिवाय उनके राज्य-समय की उल्लेखनीय घटनाओं का कुछ पता नहीं चलता और न राज्य के विस्तार का ही पूरा पता मिलता है। इन राजाओं में राजा संग्रामशाह विशेष प्रतापी हो गया है।

४—संग्रामशाह को अमानदास भी कहते थे। बाल्यकाल में यह बड़ा ही अन्यायी और क्रूर था। कहते हैं कि अपनी क्रूरता के कारण इसने अपने बाप को भी मार डाला। इस अत्याचार का बदला लेने के लिये रीवाँ के बघेल राजा रामचंद्र ने इस पर चढ़ाई की। यह वि० सं० १५७२ से १५८५ के मध्य गद्दी पर बैठा था[2]। राज्य प्राप्त करने पर यह बड़ा ही प्रतापी और शूर

---

(१) माधवसिंह, जगन्नाथ, रघुनाथ, रुद्रदेव, बिहारीसिंह, नरसिंहदेव सूरजभान, वासुदेव, गोपालशाह, भूपालशाह, गोपीनाथ, रामचंद्र, सुलतान सिंह, हरिहरदेव, कृष्णदेव, जगतसिंह, महासिंह, दुरजनमल, यशकर्ण, प्रतापादित्य, यशचंद्र, मनोहरसिंह, गोविंदसिंह, रामचंद्र, करन, रतनसिंह, कमलनयन, वीरसिंह, नरसिंह, त्रिभुवनराय, पृथ्वीराज, भारतीचंद, मदनसिंह, उग्रसेन, रामसिंह, ताराचंद, उदयसिंह, भानुमित्र, (भानुसिंह) भवानीदास, शिवसिंह, हरिनारायण, सबलसिंह, राजसिंह, दादीराय, गोरखदास, अर्जुनदास और संग्रामशाह।

(२) दमोह जिले के बेहड़िया ग्राम में मिले हुए सती चौरे पर दिए

निकला। इसने गुजरात के बादशाह बहादुरशाह को रायसेन की चढ़ाई के समय बड़ी सहायता पहुँचाई थी। कहा जाता है कि इसी ने इसका नाम संग्रामशाह रखा था। संग्रामशाह के पिता के समय राजगोंड़ राजाओं के पास बहुत थोड़े किले थे। परंतु इसने अपने बाहुबल से आसपास के राजाओं को जीतकर उनका राज्य अपने राज्य में मिला लिया। इस तरह से इसके पास ५२ किले (गढ़)[1] हो गए और इसका राज्य भी जबलपुर से भोपाल तक फैल गया। इसके राज्य में सागर, दमोह, भोपाल और जबलपुर जिले भी शामिल थे। संग्रामशाह ने यह विस्तृत राज्य किस प्रकार बढ़ाया, इसका पूर्ण इतिहास नहीं मिलता। इसने ५० वर्ष राज्य किया और अपने नाम के सोने और चाँदी के सिक्के भी ढलवाए। दमोह जिले का संग्रामपुर नामक ग्राम भी इसी का बसाया हुआ है।

हुए वि० सं० १५७० के आधार पर संग्रामशाह का राज्यारोहण-काल वि० सं० १५७० से १५८५ के मध्य माना है। (राजगोंड़ महाराजा सफा ४१ पाराग्राफ ४३) पर इसी पुस्तक के सफा ११२ में इसका मृत्यु-संवत् १५८७ और राज्यकाल ५० वर्ष लिखा है, किंतु सही मृत्यु-संवत् १५९८ है। इस हिसाब से राज्यारोहण-काल १५४८ सिद्ध होता है। इसकी मुहर और सती चौरे पर जो संवत् दिए हुए हैं वे राज्यारोहण-काल के पश्चात् के भी हो सकते हैं।

(१) संग्रामशाह के गढ़ों के ग्रामों की संख्या कोष्ठक में लिखी है। १ गढ़ा (७५०), २ मारूगढ़ (७५०) मंडला के आस-पास था, ३ पचेलगढ़ जबलपुर जिले में कुंभी के आस-पास था (७५०), ४ सिंगोरगढ़ दमोह जिले में (३५०), ५ आमोदा, जबलपुर या सिवनी जिले का आमोदा हो (७६०), ६ कनोजा-बिल्हरी के आस-पास था (७५०), ७ बगमार वीरान है (७५०), ८ टीपागढ़ (७५०), ९ रामगढ़ वीरान (७५०), १० परतापगढ़ (७५०), ११ अमरगढ़ (७५०), १२ देवहार (३५०) ये तीनों रामगढ़ के राजा के राज्य में थे, १३ पाटनगढ़ जबलपुर के पश्चिम (३६०),

५—संग्रामशाह का देहांत विक्रम संवत् १५८७ (सं० १५९८ में) के लगभग हुआ। उसके पश्चात् उसका लड़का दलपतिशाह गद्दी पर बैठा। संग्रामशाह जबलपुर के पास के मदन-महल में रहता था और गढ़ा से राज्य करता था। परंतु उसके पुत्र दलपतिशाह ने दमोह जिले के सिंगोरगढ़ में रहना पसंद किया। इसने सिंगोरगढ़ के किले को बढ़ाया और उसे और भी मजबूत किया। दलपतिशाह का विवाह राठ (हमीरपुर जिले) के चंदेल राजा की रूपवती कन्या दुर्गावती से हुआ था। इससे जान पड़ता

---

१४ फतेहपुर हुशंगाबाद जिले के पूर्व में (७५०), १५ निभुवांगढ़-नरसिंहपुर जिले के पश्चिम में (७५०), १६ भँवरगढ़ गाड़रवाड़ा के वायव्य नरसिंहपुर जिले में (३६०), १७ बरगी जबलपुर के दक्षिण में (७५०), १८ घुनसौर सिवनी जिले में (७५०), १९ चौराई छिंदवाड़े में (३६०), २० डोंगरताल नागपुर में (७५०), २१ करवागढ़ (७५०), २२ झंझनगढ़ (७५०), २३ लांकागढ़ (७५०), २४ सांतागढ़ (३५०), २५ दियागढ़ (३५०), २६ वंकागढ़ (७५०) नं० २१ से २६ तक के गढ़ों का ठीक ठीक पता नहीं लगता; लांका संभवतः विलासपुर जिले का लांका हो। २७ पवई करही वीरान (७५०), २८ शाहनगर बुंदेलखंड की सीमा पर (७५०), २९ धामौनी—सागर में (७५०), ३० हटा (७५०), ३१ मड़ियादो (३६०), दोनों दमोह जिले में हैं। ३२ गढ़ाकोटा (३६०), ३३ शाहगढ़ (७५०), ३४ गढ़-पहरा (३६०), ये तीनों सागर जिले में हैं। ३५ दमोह (७५०), ३६ रेहली (३६०), ३७ इटावा (३६०), ३८ खिमलासा (७५०), ये तीनों सागर जिले में हैं, ३९ गनोर (७५०), ४० बाड़ी (७५०), ४१ चौकीगढ़ (३६०), ये तीनों भोपाल रियासत में हैं, ४२ राहतगढ़ सागर में (३६०), ४३ मकरही (७५०), ४४ कारोबाग (७५०), दोनों वीरान हैं, ४५ कुरवाई (७५०), ४६ रायसेन (३६०), ४७ भँवरसो—वीरान (७५०), ४८ भोपाल (३६०), ४९ उपदगढ़ (३५०), ५० पनागढ़ (७५०), दोनों वीरान हैं, ५१ देवरी (७५०), ५२ गौरझामर (७५०), ये दोनों सागर जिले में हैं। यह नामावली ज० ए० सो० बंगाल सन् १८३७ के सफों ६४५ से ६४६ तक दी है। (देखो—राजगोंड़ महाराजा नामक पुस्तक)

है कि ये गोंड़ लोग राजपूतों की एक शाखा थे। ब्याह के चार वर्ष पश्चात् दलपतिशाह का देहांत हो गया। इसने ७ वर्ष राज्य किया था। जब दलपतिशाह का देहांत हुआ तब उसके पुत्र वीरनारायण की अवस्था तीन वर्ष की थी। इस कारण अपने अल्प-वयस्क पुत्र की ओर से राज्य का काम रानी दुर्गावती सँभालने लगी। दलपतिशाह की मृत्यु के पश्चात् चौदह वर्ष तक रानी दुर्गावती ने अपने पुत्र की ओर से राज-कार्य बुद्धिमानी से चलाया। इसने राज्य-प्रबंध बहुत अच्छा किया और राजकोष की खूब वृद्धि की। इसकी प्रजा इससे बहुत प्रसन्न रहती थी। इसका राज्य-विस्तार भी बहुत था। इस समय राज्य का प्रधान नगर चौरागढ़ था। यहाँ का किला संग्रामशाह ने बनवाया था। अकबरनामा का लेखक कहता है कि रानी दुर्गावती के राज्य में असंख्य धन और सत्तर हजार समृद्धिशाली गाँव थे। इस राज्य की संपत्ति और विभूति मुगलों से न देखी गई और उन्होंने गोंड़वाने पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

६—इस समय दिल्ली में मुगल बादशाह अकबर राज्य करता था। कालिंजर, कड़ा मानिकपुर और बुंदेलखंड का कुछ उत्त-रीयतथा कुछ पश्चिमी भाग भी मुगलों के अधिकार में था। कड़ा मानिकपुर और उसके आस-पास के शासन का कार्य मुगलों की ओर से ख्वाजा अब्दुल मजीद नाम का एक सूबेदार करता था। अब्दुल मजीद के कार्य से मुगल बादशाह अकबर बहुत प्रसन्न हो गया था, इससे उसे आसफ खाँ की पदवी मिली थी। विक्रम संवत् १६१० में आसफ खाँ ने गोंड़वाने की अतुल संपत्ति लूटने के उद्देश्य से उस पर चढ़ाई की। उस समय रानी दुर्गावती की फौज सिंगोरगढ़ नामक किले में थी। अपनी फौज लेकर रानी लड़ने आई। इसकी और आसफ खाँ की फौजों का सामना संग्रामपुर

नामक स्थान में हुआ। संग्रामपुर सिंगोरगढ़ से दो कोस की दूरी पर है। युद्ध बहुत देर तक होता रहा। अंत में रानी की फौज को हटना पड़ा और वह गढ़े की ओर चली। रानी ने अपनी फौज गढ़ा से १२ मील की दूरी पर मंडला की तरफ की एक पहाड़ी के पास एकत्र की। यहाँ पर आसफ खाँ की फौज को हार खानी पड़ी। परंतु इसी समय आसफ खाँ की सहायता के लिये उसकी और भी फौज आ पहुँची और दूसरे दिन फिर युद्ध हुआ। इस समय भी रानी दुर्गावती वीरता से लड़ती रही। दुर्भाग्यवश एक तीर उसकी आँख में ऐसा लगा, जिसे वह निकाल न सकी और निकालते ही तीर टूटकर आँख में रह गया। उसकी यह हालत देखकर उसकी फौज ने हिम्मत छोड़ दी और रानी दुर्गावती को मंडला की ओर भागना पड़ा। इसी समय रानी दुर्गावती के गले पर दूसरा तीर लगा जिससे उसके जीने की आशा करना कठिन हो गया। अपने जीने की आशा छोड़ और अपने शरीर को मुसलमानों के हाथ से बचाने के उद्देश्य से रानी दुर्गावती अपने हाथ से अपने पेट में कटार मारकर मर गई। जहाँ पर वह मरी वहाँ पर अभी तक उसका स्मारक बना हुआ है।

७—जब रानी दुर्गावती को विवश होकर भागना पड़ा तब सैनिक लोग उसके पुत्र वीरनारायण को रणभूमि से अलग ले गए और उसे चौरागढ़ में रखा। यहाँ पर उस समय राज्य का खजाना रहता था। आसफ खाँ को यह बात मालूम थी और वह रानी दुर्गावती को हराने के पश्चात् चौरागढ़ गया और उस को उसने घेर लिया। गढ़ में सेना बहुत न थी। सैनिक लोग लड़े और उन्होंने युद्ध में प्राण दिए। । वीरनारायण भी इसी युद्ध में मारा गया। गढ़ की रानियाँ, अपने शरीरों को यवनों के हाथ से बचाने के लिये, आग में जल गईं।

८—इस किले से आसफ खाँ को इतना धन मिला कि वह उसके दसवें भाग का भी हिसाब न लगा सका कि वह कितना था। उसे बहुमूल्य रत्न, सोने और चाँदी के गहने, मूर्तियाँ और घड़े मिले थे। इस किले में उसे बहुत से पुराने सिक्के भी मिले। एक हजार हाथी भी आसफ खाँ के अधिकार में आए। इस धन-दौलत में से आसफ खाँ ने केवल तीन सौ हाथी बादशाह को दिए और बाकी सब अपने पास रख लिया।

९—इस युद्ध के विषय में कुछ दंतकथाएँ भी प्रचलित हैं। कहते हैं कि अकबर ने रानी दुर्गावती को सोने का रँहटा इस अर्थ से नजर किया था कि स्त्रियों का काम रँहटा कातने का है, राज्य करने का नहीं। इसके उत्तर में रानी ने एक सोने का पींजन बनवाकर भेजा, मानो यह कहला भेजा कि यदि मेरा काम रँहटा कातने का है तो तुम्हारा काम पींजन से रुई धुनकने का है। इस पर बादशाह अकबर बहुत नाराज हुआ। कुछ लोग कहते हैं कि रानी दुर्गावती के पास एक श्वेत हाथी था। अकबर बादशाह ने उसे अपने लिये माँगा। रानी ने इनकार किया। इस बात पर अकबर नाराज हो गया और उसने आसफ खाँ को चढ़ाई का हुक्म दिया, परंतु ये कथाएँ बनावटी जान पड़ती हैं और चढ़ाई का मूल कारण तो गोंड़वाने के खजाने का लूट लेना ही था।

१०—गढ़ा-मंडला के शिलालेख में रानी दुर्गावती की बड़ी प्रशंसा की गई है जो सब उचित जान पड़ती है। रानी दुर्गावती के उत्तम राज्य के कारण सारी भूमि हीरों और जवाहिरों से भर गई थी और उसमें बहुत सुंदर और मस्त हाथी थे। वह गज, भूमि और धन का दान सदा ही किया करती थी और उसके राज्य में किसी को कुछ कमी न थी। अपनी प्रजा की रक्षा के लिये वह स्वयं अपने हाथी पर सवार होकर तलवार हाथ में

लेकर लड़ने जाया करती थी। गढ़ा के निकट रानीताल इसी ने बनवाया है।

११—आसफ खाँ असंख्य धन पाकर और इस विशाल राज्य को जीतकर स्वतंत्र बनने की इच्छा करने लगा। इसके लिये वह गढ़ा में कुछ दिन रहा, परंतु उसका कुछ सिलसिला ठीक न जमा। फिर इस अपराध की क्षमा उसने अकबर से माँग ली और अकबर ने उसे क्षमा कर दिया। इसके बाद यहाँ और भी कई सूबेदार आए। इनमें से राय सुजनसिंह हाड़ा की विशेष ख्याति है। यह बाड़ी में रहता था। इसके प्रबंध से प्रसन्न हो अकबर ने इसकी जागीर चुनार में और भी जिले बढ़ा दिए। यह यहाँ २५ वर्ष रहा और वि० सं० १६३२ में चुनार चला गया। इसके पश्चात् सादिक खाँ सूबेदार नियत किया गया। इसने वि० सं० १६३४ में अबुल-फजल के घातक वीरसिंहदेव बुंदेला पर चढ़ाई की थी। इसके पश्चात् बाकी खाँ और अजीज खाँ के नाम मिलते हैं। अंत में उसने राज्य के उत्तराधिकारी से मुगल राज्य के अधीन रहना मंजूर करा लिया। दलपतिशाह का पुत्र वीरनारायण चौरागढ़ के युद्ध में मारा गया था। इस कारण गोंड़ सेनापतियों ने चंद्रशाह को राजा बनाया और अकबर ने भी चंद्रशाह से १० गढ़ लेकर उसे राजा मान लिया[1]। ये गढ़ भोपाल की ओर थे जिनमें सागर जिले का राहतगढ़ भी शामिल था। इस प्रकार भोपाल के निकट का भाग तो मुगलों के हाथ में गया और सागर, दमोह और जबलपुर जिले गोंड़ों के अधिकार में रह गए।

(१) इस समय चूड़ामन वाजपेयी मंत्री थे। ये बादशाह अकबर के पास गए थे।

अध्याय १२

गोंड़ों का राज्य (रानी दुर्गावती के पश्चात्)

१—रानी दुर्गावती के पश्चात् राजा चंद्रशाह ने भी अच्छा राज्य-प्रबंध किया। इसके समय में राज्य-संपत्ति फिर से बढ़ने लगी। चंद्रशाह का राज्य बहुत दिन नहीं रहा। चंद्रशाह के पश्चात् उसका लड़का मधुकरशाह गद्दी पर बैठा। मधुकरशाह चंद्रशाह का बड़ा लड़का न था। इसने धोखा देकर अपने बड़े भाई को मरवा डाला और खुद गद्दी पर बैठा। परंतु मधुकरशाह को इस पाप का इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने एक खोखले पीपल के पेड़ में अपने को बंद करके आग लगवाकर अपने प्राण दे दिए। यह घटना वि० सं० १६४७ की प्रतीत होती है क्योंकि यह इसी साल मरा था। जहाँगीर बादशाह से मिलने के लिये यह स्वतः दिल्ली गया था। इसके लड़के का नाम प्रेमशाह या प्रेमनारायण था।

२—मधुकरशाह की मृत्यु के समय प्रेमनारायण दिल्ली में था। दिल्ली से वापस आने पर प्रेमशाह गद्दी पर बैठाया गया। जहाँगीरनामा से पता चलता है कि जहाँगीर की १२ वीं वर्ष-गाँठ के समय इसने ७ हाथी और १ हथिनी भी भेंट की थी। इससे बादशाह ने खुश होकर इसे एक हजार का मनसब और कुछ जागीर दी थी, पर यह मालवा के अधिकार में ही बना रहा। अमोदा के शिलालेख से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मालवा की सूबेदारी से अलग कर दिया गया था। इससे अब यह राजा हो गया था और इसे महाराजा कहते थे।

३—पिता की मृत्यु का हाल सुनकर प्रेमनारायण दिल्ली से वापस चला आया। इसके आने के समय वीरसिंहदेव बुंदेला

दिल्ली ही में थे। यह उनसे न मिल सका। इसे वीरसिंहदेव ने अपना अपमान समझा और वह मरने के समय जुझारसिंह से इसका बदला लेने के लिये चढ़ाई करने की वसीयत कर गया। इसी कारण जुझारसिंह ने गोंड़वाने पर चढ़ाई कर दी। पर चढ़ाई करने का यह कोई कारण न था। अलबत्ता गोंड़वाने में उस समय गाय और बैल दोनों हल में जोते जाते थे। जुझारसिंह ने लड़ने का यही बहाना सोचकर लड़ाई ठानी और संवत् १६९१ में प्रेमनारायण के राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में प्रेमनारायण मारा गया और जुझारसिंह ने चौरागढ़ का किला ले लिया। जिस समय यह युद्ध हुआ उस समय प्रेमनारायण का पुत्र हृदयशाह दिल्ली में था। उसे इस युद्ध की खबर और अपने पिता की मृत्यु का हाल वहीं मिला। हृदयशाह ने बादशाह शाहजहाँ से इस बात की शिकायत की। उसने इसे सहायता देने का वचन दिया।

४—शाहजहाँ ने इस आशय का एक पत्र जुझारसिंह के पास भेजा कि वह चौरागढ़ का किला राजा हृदयशाह को वापस दे दे और इस अनधिकार-चेष्टा के बदले १० लाख रुपए जुर्माने के देवे। जुझारसिंह ने ऐसा करने से इनकार किया और लड़ने की तैयारी की। तब बादशाह ने औरंगजेब के सेनापतित्व में २० हजार सिपाही जुझारसिंह को पकड़ने के लिये भेजे। इनके साथ में अब्दुल्लाखाँ बहादुर, फीरोजजंग और खानदौरान भी गए थे। इनके सिवाय रीवाँ का बघेल राजा अमरसिंह और चंदेरी का देवीसिंह भी था। जुझारसिंह ने भी ५०० सवार और १०००० पैदल सिपाहियों की सेना तैयार कर रखी थी। इन्होंने शाही फौज को रोकना चाहा, पर वह बढ़ती ही आई। इसने अपनी हार देखकर अपने खजाने और परिवार के मनुष्यों को धामौनी भेज दिया। *पीछे से थोड़ी सी सेना ओड़छे की रक्षा के लिये रखकर खुद भी धामौनी

चला आया। शाही फौज ने ओड़छे का किला तोड़ डाला और उसे देवीसिंह चंदेरीवाले के अधिकार में कर दिया। फिर इसने जुझारसिंह का पीछा किया। जब यह धामौनी के निकट आई तब वह यहाँ से चौरागढ़ की ओर भाग गया। शाही फौज ने धामौनी पहुँचते ही गोले बरसाना शुरू कर दिया। किले के तोप-खाने में चिनगारी गिरने से आग भभक उठी और सब बारूद जल गई, जिससे किले की ८० गज लंबी दीवार उड़ गई। इस अग्नि से ३०० मनुष्य और २०० घोड़े जल गए। धामौनी का खजाना कुओं में फेंक दिया गया था। इसे ढूँढ़ने पर मुगल सेना को केवल दो लाख रुपए का माल मिला। इसकी देख-रेख करने के लिये सर-दार खाँ यहाँ रखा गया और यह इलाका रानगिर में मिला दिया गया।

५—यहाँ से शाही फौज चौरागढ़ की ओर बढ़ी। जुझार-सिंह ने फौज को आते देख किले की तोपें तुड़वा दीं और आप प्रेम-नारायण का खजाना ले दक्षिण की ओर रवाना हुआ, परंतु बाद-शाही फौज ने उसका पीछा न छोड़ा। यह गढ़ा और लांजी होती हुई चाँदा की ओर बढ़ी। चाँदा में जुझारसिंह और बादशाही सेना से घनघोर युद्ध हुआ। उसके पास तो अधिक सेना थी नहीं, इससे वह हार गया और जंगल की ओर भाग गया। यहाँ पर गोंड़ों ने राजा जुझारसिंह और उसके लड़के विक्रमाजीत को पकड़कर मार डाला। पीछे से खानेदौरान ने इनका सिर काटकर दिल्ली भेज दिया। यह घटना वि० सं० १६९० में हुई।

६—जुझारसिंह के मरने पर हृदयशाह को अपने बाप का राज्य मिल तो गया पर पीछे से शाहजहाँ ने इससे "वायाँवाँ" की सरकार बदले में माँगी और इनकार करने पर अपने मनसबदार ओड़छे के राजा पहाड़सिंह को वि० सं० १७०८ में आक्रमण करने को भेजा। पहाड़सिंह ने हृदयशाह से चौरागढ़ का किला ले लिया।

इस तरह १८ वर्ष राज्य करने के बाद यह अपनी प्राचीन राजधानी चौरागढ़ से अलग कर दिया गया। अब यह मंडला (रामनगर) चला आया। यह घटना वि० सं० १७२४ की है। इस बीच में यह कहाँ-कहाँ रहा, इसका पूरा पूरा इतिहास नहीं मिलता। ऐसा पता चलता है कि यह चौरागढ़ से भागकर बांधोगढ़ के राजा अनूपसिंह के पास चला गया था, पर पहाड़सिंह ने यहाँ भी उसका पीछा न छोड़ा। इससे राजा अनूपसिंह को भी हानि उठानी पड़ी।

७—हृदयशाह ने रामनगर की प्राकृतिक शोभा पर मोहित हो यहाँ पर एक किला और कई महल बनवाए थे। इसकी स्त्री का नाम सुंदरी था। इस रानी ने भी कई मंदिर बनवाए थे। इसी राज-वंश के लेखों से ऐसा भी पता चलता है कि इसका विवाह बघेल राजकन्या के साथ हुआ था। इसके छत्रशाह और हरीसिंह नाम के दो लड़के थे। हृदयशाह ७० वर्ष राज्य कर वि० सं० १७३५ में परलोक को सिधारा।

८—छत्रशाह अपने पिता के मरने पर गद्दी पर बैठा। इस समय हरीसिंह ने भी गद्दी के लिये दावा किया, पर सफल न हुआ। अंत में उसने अपनी जागीर पर ही संतोष किया। छत्रशाह ७ वर्ष राज्य कर मर गया। इसके बाद केसरीसिंह राजा हुआ, यह छत्रशाह का लड़का था। इसके समय में घर में फूट उत्पन्न हो गई जिससे आपस में कलह होने लगी। इसके चचा हरीसिंह ने इसे मार भगाया। अंत में औरंगजेब ने हरीसिंह को भी अन्यान्य जागीरदारों के समान वि० सं० १६४१ में अधिकार दे दिए। पर इससे प्रजा खुश न थी, इससे यह अधिक दिन राज्य न कर सका। लोगों ने इसे ७ वर्ष के पश्चात् मार डाला। तब केसरीसिंह राजा हुआ और इसके बाद नरिंदसिंह ने गद्दी पाई। पर हरीसिंह के लड़के

पहाड़सिंह ने औरंगजेब से सहायता माँगी। औरंगजेब ने पहाड़सिंह की सहायता को अपनी सेना दी और पहाड़सिंह ने नरिंदशाह को हरा दिया, परंतु प्रजा ने पहाड़सिंह को न चाहा और उसे वापस जाना पड़ा। इसी समय दिल्ली के बादशाह ने पहाड़सिंह को और भी सहायता दी। पहाड़सिंह इसी युद्ध में मारा गया। उसके दो लड़के थे। वे औरंगजेब को प्रसन्न करने के लिये मुसलमान हो गए। ये दोनों लड़के भी युद्ध में मारे गए और नरिंदशाह अब निश्चिंत हो गया।

९—इन सब लड़ाई-झगड़ों से नरिंदशाह का राज्य क्षीण हो गया। मुगल सेना से युद्ध करने के लिये उसे कई राजाओं से मदद लेनी पड़ी थी। इस सहायता के बदले में उन राजाओं को देश का बहुत सा भाग देना पड़ा। पाँच गढ़ बुंदेलखंड के राजा छत्रसाल को देने पड़े। इन पाँच गढ़ों में चार गढ़ सागर जिले के थे और एक दमोह जिले का था। उसे मुगलों से सुलह कर लेनी पड़ी। इस सुलह के अनुसार मुगलों ने नरिंदशाह को गद्दी पर कायम रखना स्वीकार किया और पाँच गढ़ गोंड़वाने के इससे ले लिए। इन पाँच गढ़ों में से तीन गढ़ तो सागर जिले के थे और शेष दो गढ़ हटा और मड़ियादो नाम के दमोह जिले के। इस प्रकार सागर और दमोह जिले गोंड़ राज्य से निकल गए। इसके पूर्व १० गढ़ अकबर ने चंद्रशाह से और चौरागढ़ आदि शाहजहाँ ने हृदयशाह से ले लिए थे।

१०—नरिंदशाह ३७ वर्ष राज्य कर के वि० सं० १७८९ में परलोक को सिधारा। इसके पश्चात् इसका लड़का महाराजसिंह[1]

(१) संवत् १९८२ आश्विन कृष्ण के पूर के समय मंडला में अनेक बाट निकले हैं। उनमें से एक पर मोटे मोटे अक्षरों में "महाराजशाह" लिखा है। संभवतः यह इसी का बनवाया हो। ऐसे ही यदि इसने महाराजपुर भी बसाया हो तो आश्चर्य्य नहीं।

गद्दी पर बैठा। इस समय इस राजवंश में सिर्फ २९ ही गढ़ बाकी रह गए थे। ये सब जबलपुर और मंडला के ही आस-पास रहे होंगे। महाराजशाह मुगल बादशाह के अधीन था। पर महाराष्ट्र के पेशवा इस समय मुसलमानों से स्वतंत्र थे और ये लोग अन्य हिंदू राजाओं को भी स्वतंत्र होने के लिये मदद देते थे। पेशवाओं ने गढ़ा मंडला के राजा महाराजशाह से मुगल बादशाहत से संबंध तोड़कर पेशवाओं की अधीनता स्वीकार करने के लिये कहा। महाराजशाह ने यह स्वीकार न किया। इस पर पेशवा ने संवत् १८०० में मंडला पर चढ़ाई कर दी। महाराजशाह युद्ध में मारा गया। इसके शिवराजशाह और निजामशाह नाम के दो लड़के थे। शिवराजशाह ने मराठों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इससे गोंड़ राज्य से प्रतिवर्ष चार लाख रुपए महाराष्ट्र को चौथ के रूप में जाने लगे। नागपुर के भोंसले यहाँ की चौथ उगाहा करते थे। इसी बहाने से जब गोंड़वाने से चौथ शर्तों के अनुसार न पट सकी, तब गोंड़ राज्य से चौथ के बदले में ६ किले भोंसलों को दिए गए।

११—शिवराजशाह ७ वर्ष राज्य कर विक्रम संवत् १८०७ में मरा। उसके बाद उसका लड़का दुर्जनशाह गद्दी पर बैठा। यह बड़ा क्रूर था और प्रजा इससे बहुत असंतुष्ट थी। राज्य-प्रबंध भी इसके समय में बहुत खराब रहा। यह सिर्फ छः महीने ही राज्य कर पाया था कि इसके चाचा निजामशाह ने दुर्जनशाह को मरवा डाला और वि० सं० १८०६ में वह स्वयं गद्दी पर बैठा। यह योग्य शासक था। निजामशाह ने राज्य की उन्नति का बहुत प्रयत्न किया, परंतु राज्य की दशा बहुत ही बुरी हो गई थी। इससे यह उसकी यथोचित उन्नति न कर सका। यह २७ वर्ष राज्य कर परलोक को सिधारा। इसके मरने पर राज्य में गद्दी के लिये फिर झगड़े आरंभ हुए और मराठों ने हस्तक्षेप किया। लोगों ने

निजामशाह के भतीजे नरहरशाह को सहायता दी। इससे इसी को राज्य-गद्दी मिली। परंतु इससे मराठे प्रसन्न न रहे। तीन वर्ष बाद मराठों ने नरहरशाह को राज्यगद्दी से उतार दिया और सुमेरशाह को राजा बनाया। यह काम सागरवालों का था। पीछे से इन्होंने सुमेरशाह को पकड़कर गोरझामर के किले में कैद कर दिया। यह सिर्फ ६ महीने ही राज्य कर पाया था। पीछे से इन लोगों ने नरहरशाह को गद्दी पर बैठा दिया। इससे यह सागर-वालों के अधीन हो गया, पर ये उसके हर एक कार्य में हस्तक्षेप करने लगे। जब नरहरशाह ने मोराजी की सेना का वि० सं० १८३७ में विरोध किया तब वह भी खुरई में कैद कर दिया गया और गढ़ा राज्य पर मराठों ने अपना अधिकार कर लिया। नरहरशाह वि० सं० १८४६ में परलोक को सिधारा।

१२—सुमेरशाह पहले से ही कैद था। वह भी वि० सं० १८६१ में मर गया। यहीं से गोंड़ राज्य का अंत हो गया, परंतु मराठों ने सुमेरशाह के लड़के शंकरशाह को नाम मात्र के लिये राज्य दे दिया। इसने वि० सं० १९१३ तक राज्य किया। पर संवत् १९१४ में यह और इसका भाई रघुनाथशाह दोनों राज-विद्रोहियों से मिल गए। अंत में पकड़कर इन्हें गोली मार दी गई। अब इस राजवंश की संतति दमोह जिले के सिलापरी ग्राम में रहती है और उसे ब्रिटिश राज्य की ओर से सिर्फ ५०) माहवार मिलते हैं।

१३—ऊपर कह चुके हैं कि गोंड़ राज्य भूपाल (भोपाल), सागर, दमोह और जबलपुर में फैल गया था। यह राज्य धीरे-धीरे चंदेलों के शक्तिहीन होने से और मालवा में से मुसलमानों का अधिकार निकल जाने से बढ़ा। जबलपुर के उत्तर में गोंड़ लोगों के पहले पड़िहार (या परिहार) लोग राज्य करते थे। कहा जाता है कि बिलहरी में पहले लक्ष्मणसेन पड़िहार का राज्य था। लक्ष्मणसेन

की लड़की का ब्याह एक गोंड़ राजा के साथ हुआ और इसी गोंड़ राजा को बिलहरी और उसके आस-पास का भाग मिल गया। इस ओर पड़िहार लोगों का राज्य बहुत प्राचीन काल में था। चंदेलों ने पड़िहारों से राज्य लिया था। उचेहरा पहले तो पड़िहारों के हाथ में था, पश्चात् वह चंदेलों के हाथ में आया। पड़िहारों का राज्य चंदेलों और गोंड़ लोगों के अधिकार में आने के पश्चात् पड़िहार लोग चंदेलों और गोंड़ लोगों के राज्य के कहीं कहीं सूबेदार रहे। चंदेलों के राज्य का आरंभ और गोंड़ों के राज्य की नींव संभवत: समकालीन ही हो, पर प्रमाणाभाव के कारण निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। चंदेले पहले बढ़े और पहले ही गिरे। गोंड़ लोगों का राज्य रानी दुर्गावती के राज्यकाल में उन्नति के शिखर पर पहुँचा। परंतु रानी दुर्गावती के मरने के बाद अवनति आरंभ हुई। अकबर ने रानी दुर्गावती को हराने के पश्चात् भोपाल का प्रदेश ले लिया। सागर और दमोह के जिले नरिंदशाह के हाथ से निकल गए और उनका भाग कुछ मुगलों के और कुछ बुंदेलों के अधिकार में चला गया। जो कुछ शेष बचा वह मराठों ने नष्ट कर दिया।

१४—गोंड़ राजा हिंदू और जाति के संभवत: क्षत्रिय होंगे। ऐसा कहते हैं कि एक गोंड़ राजा का विवाह लक्ष्मणसेन पड़िहार की कन्या के साथ हुआ था। रानी दुर्गावती भी चंदेल राजा की कन्या थी। ऐसे ही हृदयशाह का विवाह भी बघेल राजवंश में हुआ था। ये ही उपर्युक्त कथन के प्रमाण हैं।

अध्याय १२

बुंदेलों की उत्पत्ति

१—जिस प्रदेश का इतिहास लिखा जा रहा है उसे आजकल बुंदेलखंड कहते हैं, परंतु पूर्व में इसे जेजाभुक्ति और जझोती कहते थे। इसका "बुंदेलखंड" नाम पड़ने का यही कारण है कि यहाँ पर बहुत काल से बुंदेले ठाकुरों का राज्य रह आया है। इनकी उत्पत्ति के विषय में भी कई दंतकथाएँ[1] प्रचलित हैं। परंतु उनकी

---

(१) कुछ बुंदेले अपनी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाते हैं कि महाराज रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र लव के वंश में कुछ समय के उपरांत गगनसेन और कनकसेन राजा हुए। कनकसेन ने वि० सं० २०१ में गुजरात में बल्लभीपुरा बसाया और वहीं रहने लगे, किंतु गगनसेन वि० सं० २३९ में पूर्व की ओर चले आए। कर्तृराज के पूर्व गगनसेन के वंशजों का सिर्फ इतना ही पता लगता है कि गंगा ऋषि ने गयाजी में एक मंदिर बनवाया था और प्रद्युम्न ऋषि ने प्रयागराज में अक्षयवट लगवाया था। ऐसे ही इंद्रद्युम्न ने पुरी में जगन्नाथजी का मंदिर और इंद्रदमन नामक तालाब खुदवाया था। इनके सिवाय ओड़छे के भाटों से यह भी पता लगता है कि कर्तृराज के पूर्व छठा राजा काशी में रहने लगा था। इसका नाम अनिरुद्ध था। यह और इसके वंशज शनि राजपूत राजाओं के अधीन राज्य करते थे।

कर्तृराज संवत् ७३१ में काशी गया। वहाँ पहुँचते ही इसने दिवोदास नामक शनि राजपूत राजा को गद्दी से उतारने का प्रयत्न किया। पश्चात् वहाँ के राजा माघ की कन्या "वरा" का पाणिग्रहण किया। इस समय इस राज्य की दशा अच्छी न थी। इससे कर्तृराज ने पंडितों की सलाह से अशुभ ग्रहों की शांति करवाई जिससे ये ग्रहनिवार कहाए। इसका अपभ्रंश गहरवार हो गया। कर्तृराज (सं० ७३१) से लेकर सं० ११०९ तक बीस राजा (कर्तृराज, महिराज, मूर्धराज, उदयराज, गरुड़सेन, समरसेन, आनंदसेन, करनसेन, कुमारसेन, मोहनसेन, राजसेन, काशीराज, श्यामदेव, प्रह्लाददेव, हमीरदेव, आसकरन, अभयकरन, जैतकरन, सोहनपाल और करनपाल)

प्रामाणिकता में संदेह है। अलबत्ता ऐसा हो सकता है कि इनके पूर्व-पुरुषों ने विंध्यवासिनी देवी की उपासना की हो। इसी से "बुंदेला" नाम विंध्य से बहुत कुछ संबंध रखता है। अब इस नामकरण की दंतकथाओं की उलझन में न पड़ ऐतिहासिक बातों का उल्लेख करना ठीक होगा।

२—चंदेल राजा परमर्दिदेव के समय गढ़ कुंडार एक क़िला था। यहाँ पर राजा परमर्दिदेव की ओर से शिवा नाम का एक पर-मार क्षत्रिय किलेदार था और वही यहाँ की सेना का अधिनायक भी था। इसकी अधीनस्थ सेना में खूबसिंह नाम का एक खंगार था। यह सदा स्वतंत्रता का स्वप्न देखा करता था। जब वि० सं० १२३९ में पृथ्वीराज चौहान से परमर्दिदेव हार गया और शिवा भी लड़ाई में मारा गया तब ख़ूबसिंह स्वतंत्र हो गया और इसी युद्ध से गोंड़ लोग भी पूर्वी-पश्चिमी भाग के मालिक बन बैठे। राजा पृथ्वीराज चौहान वि० सं० १२४९ में शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी से युद्ध में हारा और कैद किया गया। तब उसके सरदार लोग भी, जो धसान नदी के पश्चिमी भाग में सूबेदार थे, स्वतंत्र हो गए; किंतु कुतुबुद्दीन ऐबक की चढ़ाई के पश्चात् ये सब उसके अधीन हो गए और जगमनपुर में एक अफगान सूबेदार नियत किया गया।

३—इसी समय बुंदेले भी अपना राज्य स्थापित करने लगे। झाँसी के आस-पास खंगारों का राज्य बहुत दिनों तक बना रहा, वरन् मुसलमानों के आने के पश्चात् भी ये लोग कुछ भाग पर राज्य करते रहे। इससे बुंदेलों ने राज्य के लिये पहले खंगारों से ही

हुए हैं। पर सिवाय नामावली के उनके राजत्वकाल की घटनाओं का कुछ भी पता नहीं लगता। करनपाल को कनदपाल भी कहते थे। इसके वीर, हेमकरन. अरिब्रह्म (अरिवर्म्मा) नाम के तीन पुत्र हुए थे।

मुठभेड़ की। इनसे लड़कर राज्य लेनेवाले बुंदेल राजा का नाम सोहनपाल है।

४—इसमें संदेह नहीं है कि बुंदेलों की उत्पत्ति काशी के गहरवार राजघराने से है। पूर्वकाल में इनका राज्य बुंदेलखंड की पश्चिमी सीमा तक फैला हुआ था। परंतु यह कब और कैसे निकल गया इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। जिस भाग पर गहरवारों का राज्य था उसे अब भी गहोरा कहते हैं। इसके अधिकांश भाग पर फिर चेदि देश के राजाओं ने अधिकार कर लिया था। इसी प्राचीन गहरवार राजवंश से बुंदेलों की उत्पत्ति हुई है।

५—ऊपर लिखा जा चुका है कि करनपाल के वीर, हेमकरन और अरिब्रह्म नाम के तीन लड़के थे। हेमकरन था तो छोटा पर बड़ा बुद्धिमान् था। इससे पिता का इस पर विशेष प्रेम था, जिससे पिता ने इसे राजगद्दी और दूसरों को जागीरें दीं। पिता के मरते ही वीर और अरिवर्म्मा ने हेमकरन से राज्य छीन लिया। इससे उदास होकर इसने काशी के शनि राजा के पुरोहित गजाधर पंडित की सम्मति से विंध्यवासिनी देवी की आराधना की और वैशाख सुदी १४ संवत् ११०५ को वरदान[1] पाया। परंतु युद्ध में यह भाइयों से हार गया। इसलिये इसने फिर भगवती की पूजा की जिससे भगवती ने इसे श्रावण सुदी ५ गुरुवार[2] सं० १११२ को प्रसन्न होकर "विजयी हो" ऐसा वरदान दिया।

६—इस समय बुंदेलखंड में चंदेलों के राज्य का ह्रास होना आरंभ हो चुका था। बुंदेलखंड का पश्चिमी भाग मुसलमानों के

(१) सं० ११०५ की वैशाख सुदी १४ को ता० २६-४-१०४८ शुक्रवार था।

(२) सं० १११२ की श्रावण सुदी ५ को ता० ३१-७-१०५५ सोमवार था। इस वर्ष श्रावण अधिक मास था।

हाथ में था और उत्तरीय भाग का अधिकांश भी मुसलमानों के अधिकार में आ गया था। दक्षिणी भाग में गोंड़ लोग अपना राज्य जमाने के प्रयत्न में लगे हुए थे। जो राज्य इस समय थे वे सब शक्ति के सहारे ही चल रहे थे। जो शक्तिमान् होता था वही अपनी सेना के जोर से स्वतंत्र शासक बन सकता था। दिल्ली के मुसलमान शासक अपने राज्य में सूबेदार नियत कर दूरस्थ प्रदेशों का शासन करते थे। पर ये ही लोग केंद्रस्थ राज्य की शक्ति-हीनता से लाभ उठाकर स्वतंत्र बन जाते थे। बुंदेलखंड में मुसलमानों का राज्य पक्की तौर से बिलकुल ही न जम पाया। थोड़े दिनों तक इनका राज्य यदि कहीं रहा भी तो बुंदेले इनकी ओर से सूबेदार रहे, और वे ही फिर स्वतंत्र बन बैठे। अलबत्ता अकबर के समय में बुंदेलखंड में मुसलमानों का जोर रहा, पर वह भी बहुत दिनों तक न ठहर सका। बुंदेले इसे और इसके वंशजों को भी सदा तंग करते रहे।

७—देश की ऐसी अनिश्चित दशा में हेमकरन को अपने पराक्रम द्वारा राज्य स्थापित करने का अच्छा मौका हाथ लगा। यह पराक्रमी और शूर तो था ही, थोड़ी-बहुत सेना इकट्ठी कर इसने अपना स्वतंत्र राज्य कायम कर लिया। परंतु इसने कितना देश जीता था, इसका पता लगना कठिन है। अलबत्ता ऐसा मालूम होता है कि इसने मिरजापुर के पास गहरवारपुरा (गौर) नाम का एक गाँव बसाया था। इसे पंचम भी कहते थे। यह लगभग १६ वर्ष राज्य कर वि० सं० ११२८ में परलोक को सिधारा। इसके लड़के का नाम वीरभद्र था। छत्रप्रकाश में इसे वीर लिखा है।[1]

(१) वैवस्वत मन्वन्तर के आदि में नारायण की नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा, इनसे मरीचि, मरीचि से कश्यप, कश्यप की अदिति नाम्नी भार्या से सूर्य और सूर्य के वंश में रघु हुए। इस वंश में राजा दशरथ,

८—वीर (वीरभद्र) अपने पिता के मरने पर, वि० सं० ११२८ में, गद्दी का अधिकारी हुआ। इसके ५ विवाह हुए थे। पहला विवाह डौंडियाखेरे के बैस क्षत्रिय रामसिंह की कन्या से हुआ। दूसरा रामपुर के बघेल राजा की पुत्री से, तीसरा छिनपरसोंदा के बैस राजा प्रेमचंद की कन्या से, चौथा मानपुर के चौहान राजा छत्रसाल की पुत्री से और पाँचवाँ विवाह पाटन के प्रतापपाल तोमर की कन्या से हुआ था। वीर भी अपने पिता के समान उद्योगी और पराक्रमी था। इसने सारे बुंदेलखंड से मुसलमानों को निकाल देने का निश्चय किया। सबसे पहले इसने भदौरिया राजपूतों से युद्ध कर अंटेर ले लिया। फिर अफगान सरदार तातार खाँ के साथ जगमनपुर में युद्ध किया। इस युद्ध में तातार खाँ और उसके सब साथी सरदार हार गए, जिससे उसके अधिकार का वह सब प्रदेश जो काल्पी के आस-पास था वीर ने ले लिया। ऐसा कहते हैं कि इस समय तातार खाँ के अधीन छोटे-बड़े ७२ सरदार थे। किसी किसी का ऐसा भी मत है कि वीर ने कलचुरियों से कालिंजर का किला भी ले लिया था।

९—इस प्रकार इसने बुंदेलखंड के अधिकांश पर अपनी राज-सत्ता स्थापित कर ली और महोनी अपनी राजधानी बनाई। वीर ने

दशरथ के राम और रामचंद्र के लव और कुश ये दो लड़के पैदा हुए। पश्चात् कुश के हरिब्रह्म, इनके महिपाल, भुवनपाल, कमलचंद्र, चित्रपाल, बुद्धिपाल, और विहंगराज। ये सातों अयोध्या ही में रहे पर विहंगराज का लड़का काशी-राज काशी चला आया। इससे इस वंश में क्रमानुसार गहिरदेव, विमलचंद, नानकचंद, गोपचंद्र, गोविंदचंद्र, टिहनपाल, विंध्यराज, शौनकदेव, बीभत्स-देव और अर्जुनदेव हुए। इसके लड़के का नाम वीरभद्र था। इसके लड़के का नाम पंचम या हेमकरन था।) ओड़छा स्टेट गजेटियर और छत्रप्रकाश की वंशावली में भिन्नता है। गजेटियर में हेमकरन पिता और वीरभद्र पुत्र लिखा है, पर छत्रप्रकाश में वीरभद्र पिता और हेमकरन पुत्र लिखा है।)

अपनी तलवार के जोर से बहुत सा प्रदेश हस्तगत कर लिया, इससे इसका नाम लोहधार पड़ गया। इसकी दूसरी रानी से रणधीर, तीसरी से करनपाल और पाँचवीं से हीराशाह, हंसराज और कल्यानशाह नाम के पुत्र हुए। यह १६ वर्ष राज्य कर वि० सं० ११४४ में परलोक को सिधारा। इसका ज्येष्ठ पुत्र रणधीर छोटी ही उम्र में मर गया था इससे करनपाल राजगद्दी पर बैठा। यह भी अपने पिता के समान पराक्रमी था। इसके चार विवाह हुए थे। पहला विवाह हिरदेशाह पड़िहार की कन्या से हुआ था। इसके कन्नरशाह, उदयशाह और जामशाह नाम के तीन लड़के हुए थे। दूसरा विवाह मोरी के अमरशाह चौहान की कन्या से हुआ था। इससे शौनकदेव और नौनकदेव नाम के दो लड़के हुए थे। तीसरा विवाह जसवंतसिंह राठौर की कन्या से और चौथा कान्हपुर के राठौर खुमानसिंह की कन्या से हुआ था। इससे वीरसिंह नाम का पुत्र हुआ था। इन्होंने बनारस के मानसिंह घाट का जीर्णो-द्धार करवाया था। इसे अब मणिकर्णिका घाट कहते हैं। ये बड़े ही दानी थे।

१०—करनपाल की मृत्यु के पश्चात् वि० सं० ११६९ में कन्नर-शाह राजा हुआ। यह १८ वर्ष राज्य कर निस्संतान मर गया। इसके पीछे इसका भाई शौनकदेव वि० सं० ११८७ में गद्दी पर बैठा। इसका विवाह पृथ्वीपुर के मजबूतसिंह राठौर की कन्या से हुआ था, पर कोई संतान नहीं हुई। यह २२ वर्ष राज्य कर स्वर्गवासी हुआ। इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका भाई नौनकदेव वि० सं० १२०९ में गद्दी पर बैठा। इसका विवाह इंदुरखा के बल्लारशाह गौड़ की कन्या से हुआ था, पर कोई संतान नहीं हुई। यह वि० सं० १२२६ में परलोक को सिधारा, परंतु इसने अपनी मृत्यु के पूर्व ही अपने भतीजे वीरसिंह के पुत्र मोहनपति को

वि० सं० १२१९ में गोद लेकर उत्तराधिकारी नियत कर दिया था। इससे यही गद्दी पर बैठा। पर इसके भी कोई संतान न हुई इससे यह उदास हो राजगद्दी अपने भाई अभय भूपति को दे तप करने चला गया। अभय भूपति वि० सं० १२५४ में राजा हुआ था, और इसने १८ वर्ष राज्य किया था। इसके समय में राज्य की वृद्धि नहीं हुई। इसके दो विवाह हुए थे। पहला विवाह नीमरान के जगशाह चौहान की कन्या से और दूसरा अंटेर के गौड़ राजपूत तेजसिंह की कन्या से हुआ था। ज्येष्ठ राजमहिषी से अर्जुनपाल और महेशपाल नाम के दो पुत्र हुए थे। यह वि० सं० १२७२ में अपने पुत्र अर्जुनपाल को राज्य दे काशीवास के लिये चला गया।

११—अर्जुनपाल महोनी से ही राज्य करते रहे। इनके तीन विवाह हुए थे। पहला शाहाबाद के मुकुटमणि चौहान की कन्या से और दूसरा हीरासिंह तोमर की कन्या से हुआ था। इसके सोहनपाल नाम का पुत्र हुआ था। इसका तीसरा विवाह बीरम के धंधेरे ठाकुर ईश्वरीसिंह की कन्या से हुआ था। इससे वीरपाल और दयापाल नाम के दो लड़के हुए थे। वीरपाल के वंशज आज-कल कोंच के पास बीओना, विशदा, कुरार और देवगाँव में रहते हैं। अर्जुनपाल वि० संवत् १२८८ में स्वर्गवासी हुए। इनके मरने पर क्या-क्या हुआ यह तो पूर्ण रूप से नहीं मालूम होता, पर ऐसा पता लगता है कि वीरपाल अपने भाई सोहनपाल को गद्दी से उतार स्वयं राजा हो गया। इसने सोहनपाल के भरण-पोषण के लिये कुछ जागीर दे दी पर यह बात उसे बहुत ही बुरी लगी। इससे वह जागीर छोड़ उदास हो घर से निकल गया। वह कुछ दिनों तक इधर-उधर घूमता रहा पर अंत में गढ़ कुंडार आया। यहाँ पर खूबसिंह खंगार का वंशज हुरमतसिंह राज्य करता था। सोहन-

पाल ने इससे महोनी निकालने के लिये सहायता माँगी। परंतु हुरमतसिंह ने सहायता देना स्वीकार न किया। सोहनपाल हिम्मत न हारा और अपने उद्योग में लगा रहा। इस समय राजपूत लोग मुसलमानों के आक्रमणों से बहुत ही निर्बल हो रहे थे। इससे मुसलमानों ने इनके साथ वैवाहिक संबंध करने का उद्योग किया; पर राजपूतों ने इसे स्वीकार न किया, यद्यपि ये लोग इसे रोक भी न सके।

१२—सोहनपाल बड़ा ही साहसी और दृढ़प्रतिज्ञ था। इसने अपना स्वतंत्र राज्य कायम करने की ठान ली थी। इससे यह धीरे धीरे लोगों को अपनी ओर मिलाने लगा और राजपूत भी दिल से सहायता देने लगे। अंत में इसके पास एक बड़ी सेना हो गई। इसने पहले हुरमतसिंह से सहायता माँगी थी पर उसने न दी थी, इससे सोहनपाल ने उससे बदला लेना चाहा और अपनी सेना लेकर बेतवा के किनारे डेरा डाल दिया। यहाँ से इसने अपने पुत्र सहजेंद्र को, अपने पुरोहित और धरि नामक प्रधान के साथ, गढ़ कुंडार के राजा हुरमतसिंह के पास दुबारा भेजा। इस समय इसने अपने साहूकार विष्णु पाँड़े के कहने पर सहायता देना तो स्वीकार कर लिया, परंतु अपनी लड़की का विवाह राजकुमार के साथ करने का वचन लेना चाहा। इसे सुन सोहनपाल बहुत दुःखित हुआ और उसने वि० सं० १३१४ में इस पर चढ़ाई कर दी। इस समय इसे सिर्फ परमार और धंधेरों ने ही सहायता दी और चौहान, कछवाहे, शिलिंगा तथा तोमरों ने सहायता देने से मुँह मोड़ लिया। हुरमतसिंह लड़ाई में हार गया। इससे सोहनपाल ने गढ़ कुंडार पर अधिकार कर लिया।

१३—इस समय कछवाहे आदि क्षत्रियों ने सोहनपाल को मदद न दी थी इससे इसने इन सब क्षत्रियों के साथ वैवाहिक संबंध बंद करा दिया। इसका विवाह भवानी के रघुनाथसिंह धंधेरे की

कन्या से हुआ था। उससे इसके सहजेंद्र और रामसिंह नाम के दो पुत्र हुए थे। इसकी धर्मकुँवरि नाम की कन्या का विवाह पवायाँ (ग्वालियर) के परमार राजा पुण्यपाल के साथ हुआ था, जो ग्वालियर के तोमर राजा वीरपाल का भांजा था और दूसरी मुकुटमणि धंधेरे को ब्याही थी। इन संबंधों से परमारों और धंधेरों के साथ इसकी घनिष्ठ मित्रता हो गई, परंतु कई बुंदेले इससे नाराज हो गए। अन्य कई लोगों ने इससे खान-पान भी बंद कर दिया। इस समय सोहनपाल ने गढ़ कुंडार अपनी राजधानी बनाई। पीछे से उसने जैतपुर भी जीत लिया। यह ८ वर्ष राज्य कर वि० सं० १३१६ में परलोक को सिधारा।

१४—अपने पिता के पश्चात् सहजेंद्र राजगद्दी पर बैठा। इसने अपना राज्य कालपी और चैरागढ़ तक बढ़ा लिया था। यह २३ वर्ष राज्य कर वि० सं० १३४० में मरा। इसके पश्चात् इसका पुत्र नौनकदेव गद्दी पर बैठा। इसका विवाह देवपुर के धंधेरे ठाकुर मकुंदसिंह की कन्या से हुआ था। इसके पृथ्वीराज और इंद्रराज नाम के दो लड़के हुए थे। नौनकदेव २४ वर्ष राज्य कर वि० सं० १२६४ में स्वर्गवासी हुआ। इसकी मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराज राजा हुआ। यह बड़ा ही योग्य शासक था। यह हिंदूधर्म की रक्षा करना अपना धर्म मानता था। इस समय मुसलमान लोग हिंदुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाना और हिंदू मंदिरों को अपवित्र करना ही अपना धर्म मानते थे। इस कारण इनसे और हिंदुओं से सदा वैमनस्य रहा आता था। बुंदेले शासक लोग हिंदुओं की सदा सहायता किया करते थे। पृथ्वीराज जैसा प्रतापी और प्रजापालक था वैसा ही वह धर्म-रक्षक भी था। इसे यज्ञ-यागादि कर्मों से बड़ा प्रेम था। इसके समय में धर्म-संबंधी कामों में बड़ी उन्नति हुई। इससे और चंदेल राजा शशांक भूप से

युद्ध हुआ था। यह उसी युद्ध में घायल होकर वि० सं० १३९६ में परलोक को सिधारा।

१५—रामसिंह वि० सं० १३९६ में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् राजा हुआ। यह ३६ वर्ष राज्य कर वि० सं० १४३२ में परलोकवासी हुआ। इसका विवाह हरपुरा (टीकमगढ़ के पास) के मकुंदसिंह धंधेरे की कन्या से हुआ था। इससे रामचंद्र और मेदनीमल नाम के दो लड़के हुए थे। इसकी मृत्यु के पश्चात् रामचंद्र राजा हुआ। यह १९ वर्ष राज्य कर निस्संतान मरा। इसके पश्चात् मेदनीमल वि० सं० १४५१ में गद्दी पर बैठा। कोई कोई इसे मदनपाल भी कहते थे। इसने सिंहुड़ा और महोबा भी अपने राज्य में मिला लिए थे। इसका विवाह करैया के धंधेरे ठाकुर राजसिंह की कन्या से हुआ था। इससे अर्जुनदेव नाम का पुत्र हुआ। यह ४३ वर्ष राज्य कर वि० सं० १४९४ में परलोक सिधारा। अब अर्जुनदेव राजा हुआ।

१६—अर्जुनदेव का विवाह वरेछा (बेरछा) के नवलसिंह परमार की कन्या से हुआ था। इसके मलखानसिंह नाम का पुत्र हुआ था। यह ३१ वर्ष राज्य कर अपने पुत्र कुँवर मलखानसिंह को राज्य दे वि० सं० १५२५ में काशीवास के लिये चला गया। इसके दो विवाह हुए थे। पहला शाहाबाद के दीवान प्रेमचंद्र की कन्या से और दूसरा वरेछा (बेरछा) के परमारों के यहाँ हुआ था। वि० संवत् १५३५ में बहलूल ने ग्वालियर के राजा कीरतसिंह तोमर पर चढ़ाई की और उससे ८० लाख रुपए दंड के लेकर इसलिये चला गया कि राजा कीरतसिंह ने जौनपुर के हुसेनशाह शर्की की सहायता की थी। इसी समय राजा मलखानसिंह ने भी राजा कीरतसिंह की मदद की, इससे इन्हें भी बहलूल के साथ युद्ध करना पड़ा। यह युद्ध वि० सं० १५३५ में हुआ था[1]। यहाँ से बहलूल

(१) फरिश्ता में इस युद्ध का हाल नहीं लिखा है।

इटावा होते हुए दिल्ली गया था। रास्ते में इसने राजा संगतसिंह को हराया था।

१७—अब तक राजधानी गढ़कुंडार ही में थी, पर किसी किसी का मत है कि ये ही राजधानी गढ़कुंडार से ओड़छा लाए थे। इनके छः पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र रुद्रप्रताप गद्दी पर बैठा था। शेष खड्गसिंह, जोगजीतसिंह, सिंघजैतसिंह (जैतसिंह), शाह दीवान, (मित्रसैन) और देवीसिंह थे। इन सब को अलग अलग जागीरें दी गई थीं। इससे जो जहाँ रहे उनकी संतति अब उसी नाम से पुकारी जाती है। खड्गसिंह को बरेठी मिली। जोगजीतसिंह खाली में बसे। जैतसिंह ने तलेहटा पाया। शाह दीवान को असाटी मिली और देवीसिंह ने नेवारी पाई। मलखानसिंह ३२ वर्ष राज्य कर परलोक को सिधारा।

१८—महाराज मलखानसिंह के पश्चात् ज्येष्ठ कुमार रुद्रप्रताप राजगद्दी पर बैठे। इन्होंने ओड़छे की बहुत उन्नति की। ऐसा कहते हैं कि पूर्व-काल में यहाँ पड़िहारों का राज्य था और ओड़छा उनकी राजधानी थी। चंदेलों से परास्त होने पर पड़िहारों का राज्य तो नष्ट ही हो गया था पर राजधानी ओड़छा उनकी स्मृति दिलाता हुआ बच रहा था। किंतु मुसलमानों और खंगारों के राजत्व-काल में यह भी श्रीहीन हो गया था। इसे महाराज रुद्रप्रताप ने एक वैभवशाली नगर बनाया। इसी से ये इसके बसानेवाले[1] माने जाते हैं। महाराज रुद्रप्रताप ने ओड़छे का किला बनवाने की नींव डाली थी और यह वि० सं० १५९६ में बनकर तैयार हुआ था। यदि शहर की नींव के साथ ही साथ किले का भी आरंभ हुआ हो तो इसके बनने में ८ वर्ष लग गए थे।

(१) महाराज रुद्रप्रताप ने वि० सं० १५८८ वैशाख सुदी पूर्णिमा सोमवार, ता० ३ अप्रेल सन् १५३१ ई०, को ओड़छा बसाया था।

१९—महाराज रुद्रप्रताप के दो विवाह हुए थे। प्रथम विवाह करेरावाले परमार गंगादास की कन्या से और दूसरा सहरावाले दीवान मानसिंह धंधेरे की कन्या से हुआ था। करेरावाली महारानी के गर्भ से ३ और छोटी रानी से ९ पुत्र हुए थे। इनमें से भारतीचंद और मधुकरशाह को राजगद्दी दी गई थी। राव उदयाजीत आदि ७ लड़कों को जागीरें दी गई थीं और तीन बाल्यकाल ही में मर गए थे[1]। ये सब बड़े ही पराक्रमी, वीर और विद्वान् भी थे। महाराज रुद्रप्रताप के राजत्व-काल के समय बाबर की चढ़ाइयों का जोर था। इससे इन्होंने अपने बाहुबल से बहुत सा इलाका जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इन्हें अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने को सिकंदर और इब्राहीम लोदी से समय समय पर युद्ध करने पड़े थे। ये बड़े ही धार्मिक थे। गो-रक्षा करना तो इन्होंने अपना मुख्य धर्म मान रखा था।

२०—ऐसा कहते हैं कि ये एक समय अपने पुत्र भारतीचंद को राज्यभार सौंप गढ़ कुंडार की ओर जा रहे थे। इतने में इन्हें जंगल से एक कराहती हुई गाय की आवाज सुनाई दी। फिर क्या था, इन्होंने आन की आन में गाय के पास पहुँच शेर को मार डाला। परंतु क्रोध में आ शेर ने भी महाराजा को घायल कर दिया। ऐसा कहना अनुचित न होगा कि पूर्वकाल में क्षत्रिय लोग गो-रक्षा करना अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय समझते थे। महाराज

(१) भारतीचंद, मधुकरशाह, उदयाजीत, कीरतशाह, भूपतशाह, अमानदास, चंदनदास, दुर्गादास, घनश्यामदास, प्रयागदास, भैरोदास और खाँड़ेराय। उदयाजीत को महेवा, अमानदास को पँड़रा, प्रयागदास को इरसापुर। दुर्गादास को दुर्गापुर, चंदनदास (चंद्रहास) को करेरा, घन-श्यामदास को मैगवाँ और भूपतशाह को कुंड़ुरा दिया गया था।

रुद्रप्रताप गो-रक्षा करने के समय शेर से घायल हो गए थे। वे इसी घाव से वि० सं० १५८८ में परलोक को सिधारे।

२१—महाराज रुद्रप्रताप का देहावसान होने पर भारतीचंद्र राजा हुआ। इसके समय में, वि० सं० १६०२ में, शेरशाह सूर ने कालिंजर पर चढ़ाई की थी। उस समय उसका आक्रमण रोकने के लिये राजा भारतीचंद्र ने अपने भाई मधुकरशाह को भेजा था, पर कुछ भी लाभ न हुआ। किला मुसलमानों के हाथ में चला ही गया। शेर-शाह के मरने पर भारतीचंद्र ने इस्लामाबाद (जतारा) पर चढ़ाई की। इसके समय में ओड़छे के महल और किला वि० सं० १५९६ में बन-कर तैयार हुए। इसी साल राजधानी भी गढ़ कुंडार से पूर्ण रूप से ओड़छे में लाई गई। यह २३ वर्ष राज्य कर वि० सं० १६११ में परलोक को सिधारा, और इसका छोटा भाई मधुकरशाह गद्दी पर बैठा।

२२—जिस समय मधुकरशाह गद्दी पर बैठा उस समय मुसल-मानों का जोर था। ये लोग हर तरह से हिंदुओं को सताया करते थे। ये कभी उन पर आक्रमण करते और कभी उनके धार्मिक चिह्नों को नष्ट-भ्रष्ट करते। ऐसे कठिन समय में महाराज मधुकर-शाह के सदृश धार्मिक राजा का स्वतंत्रतापूर्वक राज्य करना अकबर को बहुत खटकता था। कहते हैं कि अकबर ने एक बार हुक्म दिया कि कोई सरदार शाही दरबार में तिलक लगाकर और माला पहनकर न आए, पर मधुकरशाह बड़े ही कट्टर धार्मिक राजा थे। ये ऐसी बातों को कब माननेवाले थे। उस दिन और भी अधिक तिलक-मुद्रा लगाकर ये शाही दरबार में गए। यह देख अकबर जाहिर में तो बहुत खुश हुआ पर दिल में बहुत कुढ़ा। उसे मधुकरशाह की यह चाल बहुत बुरी लगी। मधुकरशाह नृसिंह के उपासक थे। एक दिन अकबर ने इन्हें भी आखेट में चलने के लिये कहा, पर महाराज

मधुकरशाह ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया कि मैं अपने इष्ट को मारने नहीं जा सकता। यह सुन बादशाह चुप रह गया। इस तरह धीरे धीरे इन दोनों में वैमनस्य बढ़ता गया। अंत में अकबर ने इसे वश में लाने के लिये दो बार सेना भेजी। पहली बार न्यामतकुली खाँ और अलीकुली खाँ आए और दूसरी बार जामकुली खाँ और सैयदकुली खाँ आए थे, पर दोनों बार शाही फौज को ही नीचा देखना पड़ा। अंत में अकबर ने वि० सं० १६३४ में मुहम्मद सादिक खाँ के सेनापतित्व में सेना भेजी। ग्वालियर के राजा आसकरन तोमर भी साथ आए थे। इन्होंने संधि करने की बहुत कुछ कोशिश की, पर राजा ने सुलह करना मंजूर न किया। इससे युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में राजकुमार होरलदेव खेत रहे और रामशाह जख्मी हो रणक्षेत्र से चले आए। इसलिये दोनों में सुलह हो गई पर यह बहुत दिन न चली। वि० सं० १६४५ में फिर अकबर ने आसकरन और अब्दुल्ला खाँ को ओड़छे पर आक्रमण करने को भेजा। इस बार ओड़छे का बहुत सा भाग मुगलों के हाथ लगा। किंतु राजा मधुकरशाह ने न माना। इससे अकबर ने मुराद के सेनापतित्व में वि० सं० १६४८ में सेना भेजी। राजा हार गया। इस समय ओड़छे पर अकबर का अधिकार हो गया। इसके कुछ दिनों के पीछे वि० सं० १६४९ में राजा मधुकरशाह का देहांत हो गया। इनके छः विवाह हुए थे। इन सब में महारानी गणेशकुँवरि प्रथम थीं। ये भी राजा मधुकरशाह के समान भगवद्भक्ति-परायणा थीं। इन्हें श्रीरामजी का इष्ट था। श्रीरामराजा की मूर्ति अयोध्या से ये ही लाई थीं। इनके आठ लड़के थे।

२३—ज्येष्ठ कुमार रामसिंह (रामशाह) अपने पिता के पश्चात् राजा हुआ। शेष सात पुत्रों में से होरलदेव वि० सं० १६३४ के युद्ध में मारे गए थे। इन्हें पिछौर की जागीर मिली थी। तीसरे

पुत्र इंद्रजीत को कच्छौवा की जागीर मिली थी। यहाँ पर अब तक इनके महल के ध्वंसावशेष वर्तमान हैं। वीरसिंहदेव ने बड़ौनी पाई थी। ये बड़े ही रणकुशल, पराक्रमी और शूर थे। इन्होंने ही अकबर ऐसे प्रबल शत्रु पर अपना आतंक जमाया था। ऐसे ही हरिसिंहदेव को भासनेह (झाँसी जिले में), प्रतापराव को कुच-पहरिया, रतनसिंह को गौरझामर और रनसिंहदेव को शिवपुर (ग्वालियर की सिपरी) जागीर में दिए गए थे। इस प्रकार अब ओड़छा रियासत के आठ भाग हो गए। यद्यपि ये सब ओड़छा के अधीन कहाते थे पर यथार्थ में स्वतंत्र थे। रामशाह अपने अधीनस्थ जागीरदारों को दबा न सका। इससे एक के बाद दूसरे का हौसला बढ़ा और वे स्वतंत्र होते गए। अंत में ओड़छा रियासत में २२ जागीरें हो गईं। इनमें से ७ में तो इन्हीं के भाई-बंध थे; शेष १५ में परमार, कछवाहे और गोंड़ लोग थे। अकबर के मरने पर जब सलीम जहाँगीर के नाम से तख्त पर बैठा तब उसने वीरसिंह को ओड़छे की गद्दी दे दी और रामशाह को चंदेरी और बानपुर की जागीर दी। इस समय इसकी आमदनी १० लाख रुपए थी। यह वि० सं० १६६९ में मरा।

२४—महाराज रुद्रप्रताप के तीसरे पुत्र उदयाजीत थे। इन्हें महेबा ग्राम जागीर में मिला था। उदयाजीत के प्रेमचंद, हृदयनारायण, भारतीचंद, गंगादास, काशीदास और राघोदास ये ६ पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र प्रेमचंद बड़ा ही पराक्रमी और गुणवान् था। इसने कई स्थानों में मुसलमानों से लड़ाइयाँ लड़ीं और विजय प्राप्त की। प्रेमचंद के तीन बेटे थे। उनके नाम कुँवरसिंह, मानशाह और भगवानदास थे। समरोहा नामक ग्राम कुँवरसिंह का बसाया हुआ है। मानशाह ने अपना निवास शाहपुर में किया। भगवानदास इनमें बड़ा विद्वान् और पराक्रमी समझा जाता था। भगवानदास

के पुत्र का नाम कुलनंदन था। यह भी अपने पिता की भाँति बड़ा दयाशील, धार्मिक और सद्गुणी था। कुलनंदन के चार लड़के थे जिनके नाम खड़गराय, चंद, सुभानराय और चंपतराय थे। नियमानुसार जागीर के हिस्से सब पुत्रों में बाँटे जाते थे और इस प्रकार चंपतराय को जो जागीर मिली उसकी वार्षिक आय केवल ३५०) थी।

२५—सब राजवंशजों को जागीरें मिलीं, परंतु राज्य पहले भारतीचंद्र और फिर मधुकरशाह के पास रहा। राजा भारतीचंद्र ने २३ वर्ष और राजा मधुकरशाह ने ३६ वर्ष राज्य किया। राजा भारतीचंद्र की मृत्यु विक्रम संवत् १६११ में हुई। जिस समय मधुकरशाह राजगद्दी पर बैठे उस समय दिल्ली में अकबर बादशाह का राज्य था। अकबर बादशाह ने दूर दूर तक के प्रांत अपने वश में कर लिए थे। मालवा, भोपाल और दक्षिण बुंदेलखंड का कुछ भाग अकबर के राज्य में था। कड़ा मानिकपुर और उसके आस-पास का देश भी अकबर के अधिकार में था। दमोह और सागर जिले का कुछ भाग गोंड़ राज्य में था, पर ये गोंड़ लोग भी रानी दुर्गावती की मृत्यु के पश्चात् अकबर के अधीन हो गए थे।

अध्याय १४

वीरसिंहदेव और चंपतराय

१—राजा मधुकरशाह के पश्चात् रामशाह गद्दी पर बैठा। शेष भाइयों को जागीरें दी गई थीं। रामशाह राजा तो हो गया, पर यह अपने अधीनस्थ जागीरदारों को अपने वश में न रख सका। इससे इसके राज्य की दशा बहुत ही बिगड़ गई और केवल

इसी रियासत की छोटी-बड़ी २२ जागीरें हो गईं। महाराज मधुकरशाह ने वीरसिंहदेव को बड़ौन (बड़ौनी) की जागीर दी थी। इससे वे वहाँ गए। पर वहाँ के पुराने मनचहे लोगों से न पटी। अंत में महाराज ने इन्हें मार भगाया। पश्चात् पवायाँ सेना भेजी और इसे अपने अधीन कर लिया। तदनंतर तोमरु (तोमरगढ़) भी इनके हाथ लग गया। अब इनकी धाक चारों ओर जमने लगी। लोग इनसे भय खाने लगे। नरवर (नलपुरा) और केलारस के निवासियों ने भी इनसे भय खाया। पश्चात् इन्होंने मैना और जाटों को हराया, फिर वेरछा और करहरा ले हथनौरा पर आक्रमण किया और यहाँ के अधिकारी बावजंग जाँगड़ा को रणक्षेत्र में मार डाला। यह हाल देख भांडेर का मुगल सरदार हसनखाँ भाग गया और भांडेर बिना प्रयास ही इनके हाथ लग गया। पीछे से इन्होंने ईचीखाँ से एरछ भी छीन लिया। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में इन्होंने सूबा ग्वालियर को हिला दिया। यह देख अकबर ने, ओड़छे के राजा रामशाह और ग्वालियर के आसकरन के साथ सेना देकर, वीरसिंहदेव पर चढ़ाई कर दी। ये अपनी चतुरंगिणी सेना ले चाँदपुर आए। यहाँ पर जगमन भी शाही सेना के साथ मिल गया। इनके सिवाय हसनखाँ पठान, हरधौर पँवार और राजाराम पँवार भी साथ में थे। आसकरन ने मुगलसेना के पूर्व में राजाराम पँवार और हसनखाँ को रखा। उत्तर की ओर आसकरन और जगमन रहे। इस समय महाराज वीरसिंहदेव के पास इतनी सेना न थी कि वे खुले मैदान युद्ध करते। इससे वे आरंभ में इंद्रजीत और प्रतापराव को साथ ले दोनों ओर की सेनाओं पर छापे मार मारकर उसे तंग करने लगे। अंत में युद्ध ठन गया। इसमें रामशाह के पुरोहित मयाराम और उसका भाई खेत रहे। इससे रामशाह और आसकरन वापस आ गए।

२—वि० सं० १६५१ में आसकरन के वापस आने पर अकबर ने बहरामखाँ के पुत्र अबुलफजल को दक्षिण से वापस बुलाया था और इसके साथ में पंडित जगन्नाथ और दुर्गादास[1] को भेजा। रामशाह[2] भी शाही सेना के साथ आया। इनके सिवाय अकबर ने अब्दुल्लाखाँ को भी साथ भेजा। अबुलफजल ने इन सब सरदारों के साथ एक बड़ी फौज लेकर वीरसिंहदेव पर चढ़ाई की। अबुलफजल ने पवायाँ में डेरा डाला। यहाँ से रामशाह ने पंडित गोविंददास को वीरसिंहदेव के पास भेजा। इसने महाराज वीरसिंहदेव को बड़ौनी छोड़ देने की सलाह दी। परंतु महाराज ने नगर-निवासियों को तो अलग कर दिया और स्वयं युद्ध करने को तैयार हो गए। तब इन सबों ने मिलकर बड़ौनी घेर ली, पर ये निकल गए और शाही फौज पर छापा मारने लगे। इनसे तंग आकर खानखाना ने इन्हें बुलवाया। ये अब्दुल्लाखाँ से मिले। इसने इन्हें बादशाही मनसब दिलवाया और अपने साथ दक्षिण ले गया। उनके जाने पर बड़ौनी में शाही थाने बैठ गए। इस बात से वीरसिंहदेव को बहुत दुःख हुआ। इससे इन्होंने बरार के नजदीक पहुँचने पर अब्दुल्लाखाँ से बड़ौनी की जागीर वापस माँगी परंतु अब्दुल्लाखाँ ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए दक्षिण में जागीर देने का वचन दिया। इस समय यह दक्षिण में सूबेदारी पर जा रहा था। महाराज वीरसिंहदेव रामशाह के लड़के संग्रामशाह की सलाह से आखेट का बहाना कर वापस चले आए। इनके आते ही शाही थाने के लोग बड़ौनी से भाग गए। इधर संग्रामशाह ने भी मौका पाकर अब्दुल्लाखाँ से बड़ौनी माँग ली। यह घटना वि० सं० १६५१ की है।

(१) यह रामशाह का चाचा और मधुकरशाह का भाई था

(२) फिरश्ता में रामशाह को रामचंद्र लिखा है।

३—वि० सं० १६५६ में अकबर के पुत्र शाह मुराद का दक्षिण में देहांत हो गया। इस पर अकबर को बड़ा ही दुःख हुआ। इससे इसने दक्षिण जाने की तैयारी की। यह आगरे से धौलपुर होता हुआ ग्वालियर आया। यहाँ से इसने राजाराम कछवाहे को महाराज वीरसिंहदेव के पास बड़ौनी भेजा। इन्होंने इसका अच्छा आतिथ्य किया और सम्मति भी ली। अकबर भी राजाराम के जाने के पश्चात् माँड़ो जाने के लिये नरवर (नलपुरा) चला आया। यहाँ पर इसे राजाराम (रामशाह) बुंदेला मिला और राजाराम कछवाहा भी बड़ौनी से वापस आ गया। वि० सं० १६५७ में रामशाह के पुत्र संग्रामशाह को अब्दुल्लाखाँ ने बड़ौनी जागीर में दे दी थी, पर उस पर अधिकार करना तो दूर रहा, ये लोग उस ओर देख भी न सके। इससे इन्होंने यह मौका हाथ से न जाने दिया और बड़ौनी पर चढ़ाई करने के लिये अकबर से सहायता माँगी। अकबर तो यह चाहता ही था। इसने रामशाह के साथ राजसिंह को भी एक बड़ी सेना के साथ भेज दिया। यह सुन महाराज वीरसिंहदेव की सहायता के लिये राव प्रताप तो स्वयं आए और रतनशाह[१] (रतनसेन) के लड़के इंद्रजीत ने सेना भेजी। इस समय महाराज वीरसिंहदेव की भी अच्छी तैयारी हो गई थी। इससे राजसिंह ने संधि करने की सलाह की, पर महाराज ने संधि करना स्वीकार न किया। अंत में भाई हरवंश, अनंदी पुरोहित, देवा पायक इत्यादि के समझाने पर ईश्वर को बीच दे संधि कर ली और बड़ौनी छोड़ दी। परंतु राजसिंह ने अपना प्रण न निबाहा और इनके आते ही उस गाँव में आग लगवा दी। यह बात वीरसिंहदेव को बहुत बुरी लगी। उन्होंने अपने कुछ चुने हुए सामंत बकसराय

(१) यह अकबर की सेना के साथ गौड़ (बंगाले) की चढ़ाई में गया था। वहीं मारा गया।

प्रधान, केशोराय, चंपतराय, मुकुटगौड़, कृपाराम और बलवंत यादव को ले रातों-रात धावा कर दिया। इधर एक मैना ने इनके आने की खबर राजसिंह को दे दी। राजसिंह ने अपने लड़के के साथ एक बड़ी फौज भेजी और दामोदर को भी उसके साथ कर दिया। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। महाराज के चुने हुए सिपाहियों और सामंतों ने इनकी खूब खबर ली। यदि राजसिंह ग्वालियर न भाग आता तो मारा जाता।

४—अकबर के सलीम, मुराद और दानियाल—ये तीन लड़के थे। इनमें से मुराद की मृत्यु हो गई थी और सलीम को यह चाहता भी न था। इससे दोनों में वैमनस्य हो गया। इस पर सलीम वि० सं० १६५६ में आगरे से निकल भागा और इसने अवध और कड़ा मानिकपुर अपने अधिकार में कर लिए। इधर महाराज वीरसिंह-देव भी अकबर से लड़ते लड़ते तंग आ गए थे, इससे इन्होंने यादव गौड़ सेनापति की सलाह से भावी बादशाह से भेंट करने का विचार किया। ये प्रयाग को रवाना हुए। पहला मुकाम शहजादपुर में किया। दूसरे दिन यहाँ से रवाना हो कई मुकाम करने पर प्रयाग पहुँचे। ये जैसे शूर-वीर थे वैसे ही धार्मिक भी थे। इससे इन्होंने पहले गंगा-स्नान किया फिर शाहजादा सलीम से भेंट की। सलीम तो यह चाहता ही था। महाराज का यथोचित सत्कार कर उसने उन्हें अपने पक्ष में कर लिया। महाराज ने भी अपनी भावी उन्नति के विचार से अबुलफजल को मारने का वचन दे दिया। सलीम के राजविद्रोह करने पर अकबर ने इसे परास्त करने की इच्छा से अबुलफजल को वि० सं० १६५९ में दक्षिण से बुला भेजा। महाराज वीरसिंहदेव भी सैयद मुजफ्फर के साथ प्रयाग से बड़ौनी आ गए। यहाँ आने पर इन्हें अबुलफजल के आने और नरवर पहुँचने का हाल मालूम हुआ। अबुलफजल ने सिंधु पारकर

आँतरी के पास पराइछे नामक ग्राम में डेरा किया। दूसरे दिन प्रातःकाल कूच करते ही महाराज वीरसिंहदेव ने इसे आ घेरा। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। महाराज की बहुत सी सेना हताहत हुई, पर महाराज ने अबुलफजल का सिर काट लिया और उसे वे अपने साथ बड़ौनी ले आए। यहाँ से उसे चंपतराय की संरक्षकता में शाहजादा सलीम के पास प्रयाग भेज दिया। इसे देख वह फूला न समाया। इसके बाद उसने महाराज वीरसिंहदेव का राजतिलक करने के लिये चंपतराय के साथ अपना ब्राह्मण भेजा और साथ में एक रत्नजटित तलवार, छत्र, चँवर तथा डंका निशान भी भेजे। यह राजतिलक बड़ौनी में हुआ।

५—वि० सं० १६५६ में राजा वीरसिंहदेव ने अबुलफजल को मार डाला। जब इसकी खबर अकबर को मिली तब उसे इस बात का बहुत ही दुःख हुआ। उसने दो दिन तक भोजन न किया। उसे सांत्वना देने और सहानुभूति दिखाने के लिये खानआजम, राजा-राम कछवाहा, शेख फरीद, राजा भोजराय, दुर्गादास, जगन्नाथ इत्यादि दरबारी और उमराव गए। इन सब लोगों ने इसे बहुत धीरज बँधाया पर अकबर को धैर्य न हुआ। अंत में उसने वीर-सिंहदेव को पकड़ने के लिये सेना भेजी। इसके साथ राजसिंह, राजाराम और रामशाह भी साथ आए। ग्वालियर में इन्हें ओरछा के सुजानराय पँवार, प्रतापराय और सुजानशाह भी अपनी अपनी सेना के साथ आ मिले। यहाँ से ये सब आँतरी आए। यह देख शाहजादा सलीम ने राजा वीरसिंहदेव को युद्ध न करने की सलाह दी। इससे ये बड़ौनी छोड़ दतिया चले आए। यहाँ पर राजाराम, रामशाह और राजसिंह एक हो गए। इससे वीरसिंहदेव दतिया छोड़कर एरछ चले आए। पर शाही फौज ने उनका पीछा न छोड़ा और एरछ आते ही उन्हें घेर लिया। यहाँ पर

महाराज वीरसिंहदेव के लघु भ्राता हरसिंहदेव से विकट संग्राम हुआ। इस युद्ध में कई बड़े बड़े योद्धा खेत रहे और जमानखाँ का पुत्र जमालखाँ भी मारा गया। इसी बीच महाराज दूनी नाम के गाँव में चले गए। जब इस बात की खबर शाही फौज को लगी तब वह भी उनको पकड़ने के लिये दूनी पहुँची। इस तरह शाही फौज को तंग करते हुए ये दतिया चले आए। यहाँ पर सलीम शाहजादे से भेंट हुई। महाराज वीरसिंहदेव को देख यह बहुत ही खुश हुआ। इसके पश्चात् तरडी बेग इंद्रजीत को एरछ का किला दे कछौवा चला गया। अंत में अकबर हैरान हो गया और उसने शाहजादे सलीम को आगरे बुला भेजा। यह महाराज वीरसिंहदेव को दतिया में छोड़कर आगरे चला गया।

६—महाराज वीरसिंहदेव के इधर-उधर भागते रहने पर उन सब स्थानों पर शाही झंडा फहराने लगा था, पर शाहजादा सलीम के जाते ही शाही सेना वापस चली गई। फिर क्या था, महाराज वीरसिंहदेव ने इन्हें भेड़-बकरी की तरह काट डाला और उन सब स्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया। सबसे पहले संग्रामशाह ने भाँड़ेर पर अपना अधिकार जमाया, पीछे से हरिसिंहदेव ने भसनेह को अधीन करना चाहा। यहाँ खड्गराय से युद्ध हुआ और हरिसिंहदेव वीरतापूर्वक लड़कर खेत रहे। इसका वीरसिंहदेव को बड़ा दुःख हुआ। इसी समय संग्रामशाह और वीरसिंहदेव से मेल हो गया। इससे संग्रामशाह ने वीरसिंहदेव को भाँड़ेर दे दिया। इन्होंने इसके बदले में गढ़ देने की प्रतिज्ञा की। इसके पीछे वीरसिंहदेव इमलोटा गए। यहाँ पर खड्गराय से युद्ध हुआ। यह सपरिवार मारा गया। फिर लहचुरा ले उन्होंने संग्रामशाह को दे दिया। इसके पश्चात् वीरसिंहदेव ने खड्गराय का सिर शाहजादा सलीम के पास आगरे भेज दिया। इससे शाहजादा तो खुश हुआ,

पर अकबर बहुत क्रुद्ध हुआ यद्यपि उसने अपना क्रोध प्रकट न होने दिया। पीछे से उसने रामदास कछवाहे को बुलवाकर शाहजादा सलीम के पास भेजा, परंतु उसने वीरसिंहदेव का साथ छोड़ना स्वीकार न किया। इससे दोनों में फिर वैमनस्य बढ़ गया और शाहजादा सलीम आगरा छोड़ प्रयाग चला आया। खाँडेराय के मरने पर इनके छोटे भाई इंद्रजीत ने बादशाह से फरियाद की। रामदास कछवाहे के समझाने पर बादशाह ने कुछ शर्तों पर इन्हें ओड़छा देना मंजूर किया, पर इन्होंने ओड़छा लेना स्वीकार न किया।

७—वि० सं० १६६१ में सलीम की माता (जोधबाई) का स्वर्गवास हो गया। इस समय अकबर ने इसे बुलवाया। शाहजादा सलीम को अपनी माँ के मरने का बहुत दुःख हुआ। यह इसी रंज से कई दिन तक बाहर न निकला। अंत में लोगों के समझाने और महाराज वीरसिंहदेव के आग्रह करने पर आगरे गया। पर वहाँ पहुँचने पर अकबर ने उसे बहुत कष्ट दिया। इससे वह फिर वहाँ से निकल भागा। अकबर को खाँडेराय के मारे जाने का दुःख बना ही था, इससे उसने फिर भी वीरसिंहदेव को पकड़ने के लिये अब्दुल्लाखाँ के सेनापतित्व में सेना भेजी। परंतु महाराज वीरसिंहदेव सलीम से मिलने के लिये प्रयाग आ गए थे। यहाँ से जाने के बाद उन्होंने ओड़छे पर अधिकार कर लिया। इस समय संग्रामशाह ने इनका साथ दिया था। उधर अब्दुल्लाखाँ भी अपनी सेना के साथ खम्हरौली में आ पहुँचा। फिर क्या था, महाराज वीरसिंहदेव भी इंद्रजीत, संग्रामशाह, राव प्रताप, उग्रसेन, केशवदास इत्यादि सामंतों को साथ लिए हुए युद्ध के लिये निकले। दोनों सेनाओं का ओड़छे से आध कोस पर सामना हो गया और बात की बात में घमासान युद्ध छिड़ गया। इस समय राजा राजसिंह और अब्दुल्लाखाँ को प्राण बचाना कठिन हो गया। मुगल

सेना ने पीठ दिखाई और वीरसिंहदेव ने विजयलक्ष्मी पाई। इन्होंने शाही सेना से माही मरातब[1] छीन लिए। यह देख राजसिंह भी ओड़छा छोड़ कठौली चला गया। इस युद्ध की हार से अकबर को बड़ा दुःख हुआ। अतः उसने फिर सेना भेजने का प्रबंध किया। किंतु जरावस्था के कारण वह कमजोर हो गया था। इस पर भी दानियाल की मृत्यु हो गई। मुराद पहले ही मर चुका था। इन सब कारणों से वह बीमार हो गया और वि० सं० १६६२ में परलोक को सिधारा। अब सलीम जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा।

८—शाहजादे सलीम ने तख्त पर बैठते ही महाराज वीरसिंह-देव को बुला भेजा। ये बड़ी खुशी से आगरे गए और अपने साथ संग्रामशाह के पुत्र भारतशाह को भी लेते गए। एरछ में रामशाह से भी भेंट हो गई। यहाँ से इंद्रजीत को भी इन्होंने साथ ले लिया। आगरा पहुँचते ही सलीम ने महाराज को बड़े आदर से लिया और उत्साहपूर्वक भेंट की। पीछे से महाराज ने शाही दरबार में भारत-शाह और इंद्रजीत से भी भेंट करवाई। इसके पश्चात् उसने महा-राज को सारे बुंदेलखंड का राज्य दे दिया और बहुमूल्य पारितोषिक दे विदा किया। इस समय महाराज ने जतारा लेने से इनकार किया। पर जतारा में मुगलों का रहना अच्छा न होगा, यह समझकर उसने जतारा भी दे दिया। आगरे से विदा हो महाराज एरछ आए। यहाँ पर अन्यान्य कुटुंबियों के साथ रामशाह भी मिलने आए, पर बातों ही बातों में बिगाड़ हो गया। महाराज ने इन्हें बहुतेरा समझाया, पर ये पठारी वापस चले गए, और महाराज वीरसिंहदेव भी पिपरहट आ गए। यहाँ पर अब्दुल्लाखाँ और दरि-याखाँ भी मिलने के लिये आए। पीछे से रामशाह ने पठारी को

(१) झंडे के ऊपर की निशानी।

छोड़ दिया और वे बनगवाँ में रहने लगे। इससे पठारी में वीरसिंह-देव का अधिकार हो गया। इस तरह दोनों राजाओं के बीच में केवल आध कोस का अंतर रह गया।

९—वि० सं० १६८० में शाहजादा खुसरो और जहाँगीर में वैमनस्य हो गया। इससे वह आगरे से निकल भागा। बादशाह ने उसका पीछा किया, पर वह न मिला। इसी समय महाराज वीरसिंहदेव ने इंद्रजीत के साथ अपने पुत्र को राजा रामशाह के पास मिलने के लिये भेजा। इससे दोनों में फिर मेल हो गया। पीछे से राजा रामशाह ने अपने नाती संग्रामशाह के पुत्र भारतशाह को बरेठी भेजा। इस व्यवहार से दोनों में संधि हो गई। इससे रामशाह के मंत्रियों ने भारतशाह को महाराज के पास ही रहने दिया। महाराज वीरसिंहदेव और रामशाह से एका हो ही गया था। भारतशाह महाराज के पास था ही। अब इंद्रजीत के आने पर रामशाह ओड़छे चला आया। यहाँ से इसने अंगद, प्रेमा और केशवदास मिश्र को चिरस्थायी संधि करने के निमित्त भेजा, किंतु प्रेमा और अंगद ने संधि के बदले विग्रह करा दिया। इन दोनों ने राजा रामशाह और रानी कल्याणदेवी के कान भर दिए जिससे इन्होंने भारतशाह को बरेठी से बुला लिया। यहीं से कुल-नाश का अंकुर फूटा।

१०—वीरसिंहदेव भारतशाह के चले आने पर वि० सं० १६६३ में बरेठी से वीरगढ़ चले गए और उन्होंने बबीना पर अधिकार कर लिया। इधर भारतशाह के आ जाने पर रामशाह भी युद्ध की तैयारी करने लगा। यद्यपि केशवदास ने फिर भी समझाया, पर इसके मन में एक भी न भाया। महाराज वीरसिंहदेव भी अपनी सेना तैयार कर ओड़छे पर आक्रमण करने का विचार करने लगे। इतने में जहाँगीर बादशाह ने काल्पी के सूबेदार अब्दुल्ला-

खाँ को ओड़छे पर आक्रमण करने को भेज ही दिया। मुगल सेना के आते ही रामशाह ने इंद्रजीत और राव भूपाल को युद्धस्थल पर भेजा[1]। दोनों सेनाओं में तुमुल युद्ध हुआ। मुगल सेना भागने पर ही थी कि महाराज वीरसिंहदेव आ पहुँचे। इनके डंकों की आवाज सुनते ही राव भूपाल शंकित हो उठे और इंद्रजीत, जो पहले से ही घायल हो गए थे, मूर्च्छित हो गए। इससे इनके साथी इन्हें रणभूमि से उठा ले गए। फिर क्या था, मुगल सेना दूने उत्साह से लड़ने लगी जिससे राव भूपाल के भी पैर उखड़ गए। जब महाराज वीरसिंहदेव ने देखा कि कुल-नाश हुआ ही चाहता है तब इन्होंने अपने सामंत सुंदर प्रधान को संधि करने के लिये राजा रामशाह के पास भेजा। पर ये वीरसिंहदेव से न मिले, वरन् अब्दुल्लाखाँ के पास चले गए। उसने इन्हें आते ही कैद कर लिया और दिल्ली ले चला। इस बात का महाराज को बड़ा दुःख हुआ। अब इन्हें रामशाह की चिंता हुई। इससे इन्होंने हरि को तो ओड़छे के प्रबंध का भार दिया और राव भूपाल को बीहट, इंद्रजीत को गढ़ कुंडार और प्रतापराव को बंधा की जागीर देकर रामशाह को छुड़ाने के लिये आप आगरा चले गए। इनके जाते ही देवराय ने भारतशाह को साथ लेकर पठारी पर अधिकार कर लिया और बेतवा किनारे के कई गाँव जला डाले। इनके जाते ही जहाँगीर ने वीरसिंहदेव को मधुकरशाह का सारा राज्य दे दिया और रामशाह को चँदेरी और बानपुर का राज्य दे दोनों में मेल करा दिया। पीछे से महाराज को जब यहाँ की सब घटनाओं का हाल मालूम हुआ तब वे आगरे से चले आए। यहाँ आते ही शांति हो गई।

११—वि० सं० १६८२ में इन्होंने अपने पुत्र भगवंतराय को महावतखाँ की कैद से जहाँगीर को छुड़ाने के लिये भेजा। यद्यपि

(१) राव भूपाल और इंद्रजीत दोनों रतनशाह के पुत्र थे।

यह कुछ विलंब से पहुँचा तो भी बादशाह इन पर खुश हुआ। महाराज ने अपने बाहुबल से अपनी रियासत की आमदनी २ करोड़ रुपए कर ली थी। इसमें ८१ परगने और १२५००० ग्राम थे। इन्होंने ओड़छे को फिर से बसाया और इसका नाम जहाँगीरपुर रखा। पीछे से एक महल भी बनवाया। इसका नाम जहाँगीर महल रखा। इसके सिवाय एक फूल-बाग लगवाया और चतुर्भुज जी का मंदिर बनवाया। इन्होंने वीरपुर गाँव बसाया और वहाँ पर वीरसागर नाम का तालाब भी खुदवाया। ये जैसे शूर और प्रतापी थे वैसे ही दानी भी थे। कहते हैं कि इन्होंने मथुरा जी में ८१ मन सोने का तुलादान किया था, जिसकी तुला आज तक विश्रामघाट में सुरक्षित है। इनके दान की ऐसी ही ऐसी और भी अनेक कथाएँ हैं। तुलादान वि० सं० १६८१ में किया गया था।

१२—इनके तीन विवाह हुए थे। पहली शादी शाहाबाद के दीवान श्यामसिंह धंधेरे की कन्या अमृत कुँवरि से हुई थी। इससे इनके जुझारसिंह, पहाड़सिंह, नरहरिदास, तुलसीदास और बेनीदास ये पाँच पुत्र हुए। इनमें से जुझारसिंह और पहाड़सिंह तो राजा हुए और नरहरदास को धामौनी, तुलसीदास को गढ़ तथा बेनीदास को पहारी की जागीर दी गई थी। दूसरा विवाह खैरवान के प्रमारसिंह की कन्या गुमान कुँवरि के साथ हुआ था। इससे उनके चार पुत्र और एक कन्या हुई। इनमें से दीवान हरदौल को बड़गाँव, भगवंतराय को दतिया, चंद्रभान को जैतपुर और कोंच आदि परगने तथा किसुनसिंह को देवराहा मिला, तथा लड़की कुंज कुँवरि का विवाह वेरछा में हुआ। इनकी तीसरी रानी शहर शाहाबाद के धंधेरे की कन्या थी। इसका नाम पंचम कुँवरि था। इसके तीन लड़के हुए। बाघराज को रारौली, माधवसिंह को खरगापुर जागीर में दिया गया और परमानंद ओड़छे ही में रहे। किसी भी

राजा की कीर्ति उसके सलाहकारों से ही बढ़ती है। इस समय महाराज के सेनापति यादवराय गौड़ के सुयोग्य पुत्र कृपारामसिंह और कन्हरदास ब्राह्मण मंत्री थे।

१३—चंपतराय को महोबा की जागीर मिली थी। यह जागीर भी ओड़छे के राज्य में थी। परंतु चंपतराय अपनी शूर-वीरता के कारण बहुत विख्यात हो गए। इन्हें वीरसिंहदेव का मुगलों के अधीन रहना अच्छा न लगता था। इससे वीरसिंहदेव ने जहाँ-गीर के मरते ही शाहजहाँ को इनकी सलाह से कर देना बंद कर दिया और ओड़छे को स्वतंत्र कर लिया। यह बात शाहजहाँ को अच्छी न लगी। इससे उसने बाकीखाँ नामक सरदार को एक बड़ी सेना साथ में देकर बुंदेलों को वश में करने के लिये भेजा। इस समय चंपतराय, वीरसिंहदेव तथा अन्य बुंदेले एक हो गए। इससे बाकीखाँ की इस बड़ी सेना को हार खानी पड़ी। बाकीखाँ हार मानकर वापस चला गया और बुंदेलों की स्वतंत्रता कायम रही।

१४—इसी युद्ध के समय, जब कि बाकीखाँ अपनी फौज लेकर हारकर वापस जा रहा था, चंपतराय का बड़ा लड़का सारबाहन उसे मिला। एक इतिहासकार का कहना है कि वह वहाँ शिकार खेलने गया था। बाकीखाँ ने उस अकेले लड़के को, जिसके पास थोड़ी सी सेना थी, घेर लिया और उसे युद्ध में मार डाला। सार-बाहन था तो छोटा, पर उसने समरभूमि में मुगलों के छक्के छुड़ा दिए थे।

१५—शाहजहाँ को जब बाकीखाँ की हार का हाल मालूम हुआ तब उसे बहुत फिक्र हो गई। मुगल लोग भारतवर्ष में अपने बराबर बलवान् किसी को न समझते थे और कोई ऐसा राज्य भारत-वर्ष में न था जो मुगलों की सेना को हरा सके। परंतु बुंदेलखंड के राजा ने छोटे छोटे जागीरदारों की सहायता से बड़ी मुगल सेना

को हरा दिया। इसका कारण बुंदेलों की स्वातंत्र्यप्रियता और आत्म-विश्वास था। बुंदेले लोग उस समय भी मुगलों का सामना करने से न चूके जिस समय कि वे (बुंदेले) बहुत ही बलहीन थे। बुंदेलों की यह जीत देख शाहजहाँ से बिलकुल न रहा गया और वह स्वयं अपने बड़े सेनानायकों को साथ ले सारी सेना के साथ वि० सं० १६८५ में ओड़छे पर आक्रमण करने आया। ओड़छे को बचाने के लिये वही पुराने बुंदेले थे। उनमें आत्मविश्वास पूरा था। बादशाह की सेना ने भरपूर प्रयत्न किया, परंतु वह ओड़छे को न ले सकी। इस समय बुंदेलों का नायक चंपतराय था। उसकी विलक्षण बुद्धि और शौर्य ने ही बुंदेलों को विजय दिलाई। बादशाह शाहजहाँ, अपनी साठ हजार मनुष्यों की सेना समेत हारकर, दिल्ली वापस चला गया और बुंदेले अपनी स्वतंत्रता तथा विजय का डंका बजाते हुए बुंदेलखंड का राज्य करते रहे। बादशाह शाहजहाँ ने बुंदेल-खंड को अपने साम्राज्य में फिर से ले लेने का प्रयत्न न छोड़ा। वह चारों ओर से सेना इकट्ठी करने के प्रयत्न में लग गया।

१६—बादशाह शाहजहाँ ने अब भिन्न-भिन्न स्थानों के नामांकित सेनापति बुलवाए। आगरा से मुहब्बतखाँ, दक्षिण से खान-जहान और इलाहाबाद से अब्दुल्लाखाँ आए। सब लोगों ने एका-एकी बुंदेलखंड पर आक्रमण करने का विचार कर लिया। सारे मुगल साम्राज्य की शक्ति फिर से बुंदेलखंड पर आकर्षित हो गई। वीर बुंदेलों ने न तो बादशाह की इस असंख्य सेना का सामना एक खुले मैदान में करना ठीक समझा, न उन्होंने उससे संधि ही की। वरन् वे अपने शौर्य से स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के प्रण पर अड़े रहे। मुसलमान अपनी असंख्य सेना लेकर बुंदेलखंड के बड़े बड़े मैदानों में पड़े पड़े बुंदेलों की बाट देखते रहे और बुंदेले अपनी थोड़ी सेना में से कुछ तो गढ़ों के भीतर और कुछ मुगलों के मार्ग की

घाटियों में रखकर लड़ाई की बाट देखने लगे। कुछ दिन बिना युद्ध के ही बीत गए। मुगल लोग सीमा के प्रदेशों की सेना भी बुंदेलखंड में लाए थे। इस सेना को बहुत दिन तक मुगल लोग यहाँ पर न रख सके। मुगलों ने इस बड़ी सेना को तुच्छ बुंदेलों के युद्ध के लिये रखना अनावश्यक समझ सेना के अधिकांश को अपने अपने स्थान को वापस भेजने का हुक्म दे दिया। बुंदेलों से युद्ध के लिये जितनी सेना मुगलों ने काफी समझी उतनी रख ली। इस समय बुंदेलों का सेनापति वही वीर और बुद्धिमान् चंपतराय था। जब मुगल सेना थोड़ी रह गई तब बेतवा के किनारों की दरारों और विंध्य पर्वत के दुर्गम भागों में छिपी हुई बुंदेलों की सेना, चंपतराय के आदेशानुसार, धीरे धीरे बाहर निकली और अचानक चारों ओर से मुगल सेना पर आक्रमण करके उसे तितर-बितर करने लगी। इस युद्ध में मुगलों के प्रसिद्ध सेना-नायक शहबाजखाँ, बाकीखाँ और फतेहखाँ भूतलशायी हुए। इस प्रकार फिर से यवनों का पराभव हुआ और बुंदेलों की विजय हुई। इसी समय बुंदेलों ने सिरोंज के राजा को अपने अधिकार में कर लिया और भिलसा तथा उज्जैन लूटकर वे बहुत सा माल ले आए।

१७—बादशाह शाहजहाँ ने यह सुनकर फिर बुंदेलों पर वि० सं० १६८४ में चढ़ाई करने का निश्चय किया। अब की बार मुहम्मद सुभान, वली बहादुरखाँ, अब्दुल्लाखाँ और नौरोजखाँ सेना-पतियों को यह कार्य सौंपा गया। इन लोगों ने फिर से खूब तैयारी कर बुंदेलखंड पर आक्रमण किया। बुंदेलों ने फिर वीरता से सामना किया। शाहजहाँ ने अब बुंदेलों से लड़ना ठीक न समझा और संधि की बातचीत आरंभ कर दी। इस समय बुंदेलखंड की भी खराब हालत हो गई थी। बुंदेलों के पास इतना धन नहीं था कि वे बहुत दिनों तक लड़ सकते। इसी समय बुंदेलखंड में

एक बड़ा अकाल पड़ा और लोगों को अन्न का कष्ट होने लगा। इस कारण बुंदेलों ने भी सोचा कि संधि कर लेना अच्छा होगा। राजा वीरसिंहदेव का भी इसी समय देहांत हो गया। इस कारण शाहजहाँ ने वीरसिंहदेव के पुत्र जुझारसिंह को ओड़छे का राजा स्वीकार किया। वरन् अपने पक्ष में करने के लिये इसने चँदेरी के राजा भारतशाह, ओड़छे के राजा जुझारसिंह और इसके भाई पहाड़सिंह तथा धामौनी के राजा नरहरदास को चार हजारी मनसब दिए और जुझारसिंह के पुत्र विक्रमाजीत को एक हजारी मनसब दिया। ऐसे ही बुंदेलों की सेना के नेता चंपतराय की वीरता की प्रशंसा कर उसे कोंच का परगना दिया और उसकी गणना शाही दरबार के अमीरों में करना स्वीकार किया। इस प्रकार दिल्ली दरबार ने ओड़छे को स्वतंत्र राज्य माना और चंपतराय के शौर्य की प्रशंसा की।

अध्याय १५

महाराज वीरसिंहदेव के पश्चात् का हाल

१—ओड़छे के राजा वीरसिंहदेव बड़े योग्य शासक थे। प्रजा इनसे बहुत प्रसन्न थी। धामौनी, झाँसी और दतिया के किले इन्हीं के बनवाए हुए हैं। दतिया के किले के बनवाने में ८ वर्ष १० मास २६ दिन लगे थे और बत्तीस लाख नब्बे हजार नौ सौ अस्सी रुपए खर्च हुए थे। इनके पश्चात् इनके उत्तराधिकारी योग्य न निकले। इनके १२ लड़कों में से जुझारसिंह ज्येष्ठ था, यही राजा हुआ। पर यह बड़ा ही घमंडी और शकी था। वि० सं० १६८५ में यह अपने विमात्र हरदौल से किसी कारण अप्रसन्न हो

गया। इससे इसने अपनी रानी से कहकर उसका नेवता करवाया और उसी से उसको विष दिलवा दिया। रानी हरदौल को पुत्रवत् चाहती थी। इससे उसने सच्ची घटना हरदौल से कह दी तो भी हरदौल ने वह विष-मिश्रित भोजन कर ही लिया और मर गया। यह कथा बुंदेलखंड में बहुत प्रचलित है। हरदौल लाला के नाम के चबूतरे प्रत्येक स्थान में बने हुए हैं।

२—विष देने की खबर जब शाहजहाँ को मालूम हुई तब उसने महाबतखाँ के अधीन वि० सं० १६८५ में अपनी सेना भेजी। उसकी मदद के लिये नरवर का राजा रामदास, दतिया का भगवंत-राय, चंदेरी का भारतशाह, काल्पी का सूबेदार अब्दुल्लाखाँ और एरछ के जागीरदार पहाड़सिंह अपनी अपनी सेना लेकर आए। इनके अतिरिक्त खानेजहाँ भी अपनी सेना लेकर आया था। इस सेना को देखते ही जुझारसिंह ने संधि कर ली और महाबतखाँ के कहने पर शाहजहाँ ने भी उसे माफ कर दिया। पर इसके बदले इसका बहुत सा इलाका ले लिया गया और इसे महाबतखाँ के साथ दक्षिण की चढ़ाई पर भेज दिया गया। इस सहायता के उपलक्ष में पहाड़-सिंह को शाही डंका दिया गया।

३—वि० सं० १६८६ में खानेजहाँ ने बगावत की। तब इसे धौलपुर के सूबेदार अब्दुल्ला हसन ने युद्ध में हरा दिया। इससे यह चंबल पारकर ओड़छे की सीमा में घुस आया। इस समय जुझारसिंह तो दक्षिण में था। पर विक्रमाजीत ने, जो ओड़छे में था, कुछ ध्यान न दिया। इससे शाहजहाँ ने जुझारसिंह को दक्षिण से बुला भेजा और इसे तथा पहाड़सिंह, धामौनी के नरहरदास, जैत-पुर के चंद्रभान और भगवंतराय को उसके पकड़ने के लिये भेजा। राजौरी के पास इनसे भेंट हो गई और खानेजहाँ से युद्ध ठन गया। इसमें नरहरदास खेत रहा। खानेजहाँ का लड़का बहादुरखाँ भी

पहाड़सिंह के सरदार परसराम के हाथ से मारा गया, और खानेजहाँ दक्षिण को चला गया।

४—वि० सं० १६८७ में खानेजहाँ दक्षिण हैदराबाद से भागकर नर्मदा उतर धरमपुरी (मालवा) में ठहरा, परंतु यहाँ के सूबेदार अब्दुल्लाखाँ और मुजफ्फरखाँ ने इसे यहाँ से मार भगाया। विक्रमाजीत ने इसे उत्तर की ओर भागने को बाध्य किया। भांडेर के पास नीमी नाम के गाँव में लड़ाई हुई और यह हार गया, पर निकल भागा। अंत में कालिंजर के पास बरा में मारा गया। इसके बदले शाहजहाँ ने विक्रमाजीत को दो हजारी मनसब और युवराज की पदवी दी।

५—वि० सं० १६८९ में विक्रमाजीत ने दौलताबाद लेने के समय बड़ी शूरता दिखलाई थी। इससे शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर इसे और पहाड़सिंह तथा पहाड़ी के बेनीदास और चतुर्भुज को अच्छा पारितोषिक दिया।

६—वि० सं० १६९० में जुझारसिंह ने गोंड़ राजा प्रेमशाह और उसके मंत्री जयदेव वाजपेयी को मार डाला और उसका किला चौरागढ़ अपने राज्य में मिला लिया। इस पर प्रेमशाह के लड़के हृदयशाह का पक्ष लेकर शाहजहाँ ने वि० सं० १६९१ में ओड़छे पर चढ़ाई की। राजा जुझारसिंह यहाँ से धामौनी गया। परंतु शाही फौज ने उसका पीछा किया, जिससे चौरागढ़ होता हुआ यह चाँदा की ओर चला गया। यहाँ पर भी शाही फौज ने इसका पीछा न छोड़ा। अंत में यह अपने कुटुंबियों को दक्षिण की ओर भेजकर जंगल में जा छिपा। यहाँ पर गोंड़ों ने इसे और विक्रमाजीत को पकड़कर बड़ी निर्दयता से मार डाला, और खानेजहाँ ने दोनों के सिर काटकर शाहजहाँ के पास भेज दिए। इसके बाद जुझारसिंह का छोटा लड़का दुर्गभान और विक्रमाजीत का लड़का

दुर्जनसाल मुसलमान बनाए गए और इनके नाम इस्लामकुलीखाँ तथा अलीकुलीखाँ रखे गए। छोटा लड़का भी, जो गोलकुंडे में उदयभान और श्यामदौआ के पास था, मुसलमान बनाया गया और इस्लामकुलीखाँ के साथ पढ़ने को भेजा गया। उदयभान और श्यामदौआ, मुसलमान होने से इनकार करने पर, मारे गए। इस समय सेनापतित्व औरंगजेब को दिया गया था और उसकी मदद के लिये अब्दुल्लाखाँ बहादुर फीरोजजंग और खानदौरान के सिवाय चंदेरी के राजा देवीसिंह, रीवाँ के बघेल राजा अमरसिंह, एरछ के पहाड़सिंह और जैतपुर के चंद्रभान आए थे। जुझारसिंह की मृत्यु के पश्चात् वि० सं० १६९३ में धामौनी में सरदारखाँ किलेदार रखा गया था। पीछे से यह वि० सं० १७०१ में मालवा का सूबेदार बनाया गया। यह यहाँ पर सं० १७१० तक रहा।

७—उर्दू और अँगरेजी इतिहासों में जुझारसिंह की चढ़ाई का कारण नहीं बतलाया गया, पर ऐसी जनश्रुति है कि प्रेमशाह अपने पिता मधुकरशाह की मृत्यु का समाचार सुन वीरसिंहदेव से बिना मिले ही दिल्ली से चला आया था। उसी अपमान का बदला प्रेमशाह से वीरसिंहदेव के पुत्र जुझारसिंह ने लिया था। कुछ लोगों का कहना है कि गोंड़वाने में गाएँ भी जोती जाती थीं। इसकी और बुंदेला राजाओं की सीमा मिली हुई थी। ये लोग गोभक्त थे। इससे गायों का जोतना इन्हें बहुत ही बुरा लगता था, पर विरोध करना न चाहते थे। इतने में एक दिन एक भाट आया। उस समय पहाड़सिंह दातौन कर रहे थे। भाट ने पहाड़सिंह से गौओं का दुःख कहा[1], जिसे सुन वे उठ खड़े हुए और लड़ाई के

(१) पड़ी हैं पिशाचन बंध जोतत हैं आठो याम,
सुधहू न लेत पापी तृणहू के खाने की।

लिये जाने लगे। तब जुझारसिंह ने इन्हें रोककर स्वतः चढ़ाई की। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि पहाड़सिंह के राजत्व-काल ही में यह घटना घटी हो, जिससे पहाड़सिंह ने वि० सं० १७०८ में हिरदेशाह पर चढ़ाई की हो।

८—वि० सं० १६९१ में राजा देवीसिंह ने ओड़छे की चढ़ाई के समय शाही सेना का साथ दिया था। इससे शाहजहाँ ने जुझारसिंह के मारे जाने पर इसे ही ओड़छे का राजा बनाया, पर यह शांति स्थापित न कर सका। इससे दो वर्ष के बाद वि० सं० १६९३ में यह चंदेरी वापस कर दिया गया और जुझारसिंह के छोटे लड़के पृथ्वीराज को गद्दी दी गई, किंतु यह छोटा था। इससे ऐसे कठिन समय में—जब कि चंपतराय के समान योद्धा, जिसके आक्रमणों को मुगल सेना भी न रोक सकती थी, मुँह बाए ओड़छे को निगलना चाहता था—ऐसे छोटे बालक से प्रबंध होना कठिन था। और भी अराजकता छा गई। इससे यह वि० सं० १६९४ में कैद कर ग्वालियर भेज दिया गया। इसके कैद होते ही चंपत-राय ओड़छे की गद्दी पर आ बैठा और बादशाही सेना पर छापे मारने लगा। अंत में शाहजहाँ ने हार मानकर चंपतराय को दबाने के लिये शहबाजखाँ के सेनापतित्व में एक बड़ी सेना भेजी और उसकी सहायता के लिये फत्तेखाँ और बाकीखाँ भी आए, किंतु ऐसी बड़ी सेना भी चंपतराय के सामने न ठहर

> कान्ह जू की कामधेनु करती हैं बिलाप रोय,
> कपिला की जात कहूँ भाग नहीं जाने की॥
> रोज उठ करत अरज भोर भए भानु जू सों,
> फौज चढ़ आवै केशोराव के घराने की।
> वीरसिंह जू के वंश प्रबल पहाड़सिंह,
> तेरी बाट हेरती हैं गौएँ गोंड़वाने की॥

सकी और हार मानकर वापस चली गई। इसके जाते ही चंपतराय सिरौंज, भेलसा, धार, उज्जैन लूटते हुए धामौनी आए। इस समय यहाँ पर सरदारखाँ रहता था। इसे भी अपना प्राण बचाना कठिन हो गया। अंत में इन्होंने धामौनी को लूट लिया और ग्वालियर पर छापा मारा। इस तरह से इन्होंने नर्मदा से लेकर चंबल के हाते तक के देश लूट लिए। जब इनके आक्रमणों की खबर शाहजहाँ को मिली तब उसने खानेजहाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना फिर भी चंपतराय को दबाने के लिये भेजी। इसकी मदद के लिये सैयद मुहम्मद बहादुरखाँ और अब्दुल्लाखाँ भी आए थे। पर चंपतराय का कुछ न कर सके और हार मानकर वापस चले गए। इस तरह लगातार चार वर्ष तक तंग होने के पश्चात् शाहजहाँ ने वि० सं० १६९८ में पहाड़सिंह को ओड़छे की गद्दी दे दी।

९—शाहजहाँ ने वि० सं० १६९८ में पहाड़सिंह को ओड़छे की गद्दी दे दी थी। पश्चात् उसने इसे ५००० हजारी मनसब दिया और २००० सवार रखने की आज्ञा दे दी। इस समय चंपतराय उससे मिलने के लिये इस्लामाबाद (जतारा) आए। पहाड़सिंह ने उनका बड़ा स्वागत किया। इनका (पहाड़सिंह) एक बड़ा विश्वासी मंत्री नसीमुद्दौला नाम का मुसलमान था। बुंदेलों का यवनों के विरुद्ध आंदोलन इसे पसंद न था और चंदेरीवाले पहले ही से ओड़छे से असंतुष्ट थे। इतना ही नहीं किंतु इन्होंने मुसलमानों और गोंड़ लोगों को ओड़छे के विरुद्ध सहायता भी दी थी। परंतु ओड़छे के राजा और चंपतराय का मेल ही इस समय बुंदेलखंड की रक्षा कर रहा था। ओड़छे के मंत्री नसीमुद्दौला ने इसे भी नष्ट कर देना चाहा। चंपतराय पहाड़सिंह का बहुत मान करते थे और उनके नेतृत्व में रहना स्वीकार करते थे, परंतु चंपतराय की बहादुरी किसी से छिपी न थी। राज्य भर में जितना मान चंपत-

राय का था उतना किसी और का न था। इससे पहाड़सिंह को ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वजीर नसीमुद्दौला भी समय समय पर उनके कान भरा करता था। एक दिन उसने चंपतराय के मारने की सलाह दी। पहाड़सिंह उसके कहने में आ गया और निमंत्रण के बहाने चंपतराय को बुलाकर उसने भोजन में विष देने का विचार किया। चंपतराय को निमंत्रण भेजा गया। वे ओड़छे आए। इस समय पहाड़सिंह ने बड़ी खातिर की, परंतु भोजन के समय किसी कारण से इनके भाई भीम को संदेह हो गया। इससे उसने अपने पराक्रमी और वीर भाई चंपतराय की रक्षा के लिये जो थाल चंपतराय को दिया गया था उसे स्वयं ले लिया और अपना चंपतराय को दे दिया। इस विष-मिश्रित भोजन के करने के कुछ देर पश्चात् ही भीम के प्राण-पखेरू तो उड़ गए, पर पहाड़सिंह का अभीष्ट सिद्ध न हो पाया। जिस जगह चंपतराय आदि को भोजन करवाया गया था उस जगह ऐसा प्रबंध किया गया था कि यदि भीम चंपतराय से साफ साफ कहते तो दोनों की जान जाती, इससे भीम वहाँ कुछ न बोले और उन्होंने चंपतराय की बला अपने ऊपर ले बंधु-प्रेम की वेदी पर अपना बलिदान कर दिया। पहाड़सिंह के इस कुकृत्य से ओड़छा राज्य और चंपतराय में अनबन हो गई। अब पहाड़सिंह चंपतराय को हानि पहुँचाने के लिये तरह तरह के जघन्य उपाय करने लगे।

१०—वि० सं० १६९७ में कंदहार के अलीमर्दा ने ईरान के बादशाह से तंग आकर अपना इलाका शाहजहाँ बादशाह को दे दिया और उससे मदद लेकर ईरान पर चढ़ाई की, पर कुछ लाभ न हुआ। पहाड़सिंह को शाहजहाँ ने ओड़छे की गद्दी और पंचहजारी मनसब दिया था और इसने उसकी फरमाबरदारी कबूल कर ली थी। पर जब राजा जगतसिंह (कोटा का राजा) और मुराद

के सेनापतित्व में भेजी हुई सेनाएँ भी कंदहार से निष्फल फिरीं और वहाँ शांति स्थापित न कर सकीं तब शाहजहाँ ने औरंगजेब के सेनापतित्व में वि० सं० १७०२ में फिर भी फौज भेजी और इसकी सहायता के लिये ओड़छे के राजा पहाड़सिंह को भी साथ में भेज दिया। इसके पश्चात् वि० सं० १७०५ में फिर भी यह कंदहार भेजा गया।

११—जुझारसिंह की मृत्यु के पश्चात् सरदारखाँ धामौनी में रखा गया था। पीछे से यह मालवे का सूबेदार और चौरागढ़ का तमूलदार (खिराज वसूल करनेवाला) बनाया गया, पर इससे चौरागढ़ का प्रबंध न हो सका। इससे वि० सं० १७०८ में चौरागढ़ की जागीर पहाड़सिंह को दे दी गई। साथ ही उसका एकहजारी मनसब भी बढ़ाया गया। इससे पहाड़सिंह ने हृदयशाह पर चढ़ाई की पर वह भयभीत हो रीवाँ के बघेल राजा अनूपसिंह के पास चला आया। गोंड़वाने में गायें भी जोती जाती थीं। यह बात पहाड़सिंह को बहुत बुरी लगी। इससे ये दौलताबाद तक बढ़ते गए। यहाँ पर इन्होंने पहाड़सिंहपुरा नाम का एक गाँव बसाया जिसकी आमदनी अब भी ओड़छा राज्य को मिलती है। यहाँ से वापस आने पर पहाड़सिंह ने रीवाँ पर चढ़ाई की। राजा अनूपसिंह और हृदयशाह दोनों जंगल की ओर भाग गए। पहाड़सिंह ने रीवाँ को मनमाना लूटा। इतने में औरंगजेब के साथ जाने के लिये शाहजहाँ ने इसे बुलाया। यह लूट में से १ हाथी और ३ हथिनियाँ लेकर शाहजहाँ से मिला और वि० सं० १७०९ में फिर भी कंदहार की चढ़ाई पर गया।

१२—पहाड़सिंह विक्रम संवत् १७२० में परलोक को सिधारा। इसके सुजानसिंह और इंद्रमणि नाम के दो लड़के थे। इसकी रानी का नाम हीरादेवी था। पहाड़सिंह के मरने पर इसने भी

चंपतराय और छत्रसाल को हानि पहुँचाने में अपने पति से कुछ कम प्रयत्न न किए।

१३—भीम की मृत्यु के पश्चात् राजा पहाड़सिंह और चंपतराय में अनबन हो गई थी। इससे पहाड़सिंह हर समय चंपतराय को हानि पहुँचाने के षड्यंत्रों में लगा रहता था। अंत में इन्होंने शाहजहाँ से संधि करना ही उचित समझा। शाहजहाँ भी इनसे तंग आ गया था। इससे उसने भी इनके बुलवाने में विलंब न किया। ज्योंही महाराज चंपतराय शाही दरबार में पहुँचे, शाहजहाँ ने इनका बड़ा सत्कार किया और ५ हजारी मनसब दे संधि कर ली। उस समय शाहजहाँ कंदहार में शांति स्थापित करने में लगा हुआ था, पर कई बार सेना भेजने पर भी शांति स्थापित न कर सका था। इस समय वह अपने ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को कंदहार भेजने के प्रबंध में लगा था। शाहजहाँ को चंपतराय के पराक्रम और शूरता का पूर्ण परिचय था। इससे वि० सं० १७१० में उसने अपने पुत्र दाराशिकोह के साथ महाराज चंपतराय को भी कंदहार की चढ़ाई पर भेज दिया। वहाँ पहुँचते ही महाराज ने बड़ी शूरता दिखलाई और प्राणों की बाजी लगाकर विजय प्राप्त की। वहाँ से वापस आते ही शाहजहाँ ने इन्हें कोंच की जागीर दी और १२ हजारी मनसब दे इनकी वीरता की भूरि भूरि प्रशंसा की। इसे सुन दाराशिकोह मन ही मन क्रुद्ध उठा और उन्हें हानि पहुँचाने की चेष्टा करने लगा। ऐसा कहते हैं कि इस षड्यंत्र में पहाड़सिंह भी मिल गया और दोनों ने सलाह कर कोंच की जागीर निकाल लेने का मनसूबा बाँधा। इस समय राज्य-प्रबंध का बहुत सा काम दाराशिकोह ही किया करता था, इससे इसे मनमानी करने का मौका हाथ लगा। महाराज चंपतराय कोंच की जागीर से बादशाह को सिर्फ एक लाख रुपया देते थे।

१४—पहाड़सिंह के मरने पर इसका ज्येष्ठ पुत्र सुजानसिंह गद्दी पर बैठा। यह वि० सं० १७१४ में औरंगजेब के साथ बीजापुर की चढ़ाई पर गया था, किंतु वहाँ घायल हो गया और वापस चला आया था। जब शाहजहाँ की बीमारी के समय इसके बेटों में लड़ाई हुई तब इसने किसी का भो पक्ष न लिया वरन् उदासीन बना रहा। इसने अड़जार[1] नामक ग्राम में सुजानसागर नाम का एक बड़ा तालाब बँधवाया और इसकी माँ ने मऊ के पास रानीपुरा[2] नाम का गाँव बसाया। यह वि० सं० १७२६ में निस्संतान मरा और इसका छोटा भाई इंद्रमणि गद्दी पर बैठा। इसके समय में सुजानसिंह सेंगर ने ओड़छे पर चढ़ाई की, पर पीछे से वह वापस चला गया। इसने सिर्फ तीन वर्ष राज्य किया। वि० सं० १७२१ में जब राजा चंपतराय अपनी रुग्णावस्था के कारण बेरछा से जटवारा होते हुए अपने पूर्व-परिचित सहरा के राजा इंद्रमणि धंधेरे के यहाँ जा रहे थे, तब रानी हीरादेवी ने दलेलदौआ के साथ १६००० सवार और अपने पुत्र इंद्रमणि को भी चंपतराय का पोछा करने के लिये भेजा था। ये एक नाला फाँदते समय घोड़े से गिरकर सख्त घायल हो गए थे।

१५—इंद्रमणि के मरने पर उसका लड़का जसवंतसिंह वि० सं० १७३२ में राजा हुआ। इसके समय में मराठे लोग उत्तर की ओर अपना राज्य जमाने में लगे हुए थे और चंपतराय के मरने पर इनके पुत्र छत्रसाल भी लूट-मार करने में लगे थे। ये वि० सं० १७२८ तक पन्ना रियासत स्थापित करने में लगे रहे। इन्होंने १७३२ में पन्ना रियासत की राजधानी पन्ना नियत की। दतिया के राजा

(१–२) ये दोनों ग्राम जी० आई० पी० रेलवे की झाँसी-मॉनिकपुर शाखा के स्टेशन हैं।

शुभकरन भी महाराज छत्रसाल के समकालीन हैं। जसवंतसिंह ९ वर्ष राज्य कर वि॰ सं॰ १७४७ में मरा।

१६—भगवंतसिंह अपने पिता जसवंतसिंह के मरने पर गद्दी पर बैठा, पर यह बहुत ही छोटा था। इससे राजप्रबंध इसकी माँ करती रही, किंतु यह बाल्यकाल ही में मर गया। इससे रानी अमरकुँवरि ने हरदौल के प्रपौत्र उदोतसिंह[1] को गोद लेकर गद्दी पर बैठाया। यह बहुत ही कमजोर शासक था। इसके समय में उत्तर की ओर मरहठों का दौरदौरा रहा तो भी महारानी ने अपने जीते जी रियासत को किसी प्रकार क्षति न पहुँचने दी। उदोतसिंह की शासन-पद्धति अच्छी न थी, पर वह निर्भीक और शूर था। औरंगजेब के मरने पर बहादुरशाह गद्दी पर बैठा। ऐसा कहते हैं कि एक दिन उदोतसिंह बहादुरशाह के साथ आखेट को निःशस्त्र गया था। इतने में इसके पास से एक शेर निकला। यद्यपि उस समय इसके पास कोई शस्त्र न था तो भी इसने उसे मार डाला। तब बादशाह ने एक तलवार पारितोषिक में दी। वह अब तक रखी हुई है।

१७—इसके समय में औरंगजेब, बहादुरशाह, जहाँदारशाह, फर्रुखसियर और मुहम्मदशाह ये ५ मुगल बादशाह हुए। बहादुरशाह ने इसे वि॰ सं॰ १७६६ में पहाड़सिंहपुरा की सनद दी और सं॰ १७७१ में सिक्खों की बगावत दबाने के लिये पंजाब भेजा था। यह गुरुदासपुर के किले में कई महीने तक युद्ध करता रहा। अंत में सिक्ख सरदार वीर बंदा पकड़ा गया और बड़ी बेरहमी से मारा गया। फर्रुखसियर के पश्चात् मुहम्मदशाह बादशाह हुआ। इसने इसे १३ महलों की सनद दी। ओड़छे की रियासत घटते घटते इस समय बहुत ही छोटी हो गई थी, पर उसका मान पूर्ववत् ही था। जब कभी चंदेरी, दतिया इत्यादि

(१) हरदौल, विजयसिंह, प्रतापसिंह और उदोतसिंह।

बुंदेलों की रियासतों में गद्दी के हक के झगड़े होते थे तब ओड़छे के राजा की सम्मति से ही झगड़ों का निर्णय होता था। उदोतसिंह वि॰ सं॰ १७९३ में महोबे में मरा।

१८—उद्दोतसिंह के मरने पर उसके नाती अमरसिंह का लड़का पृथ्वीसिंह राजा हुआ। इसके समय वि॰ सं॰ १७९९ में मराठों ने झाँसी, (मऊ—रानीपुरा) और बरुआसागर के परगने निकाल लिए। इसके समय अहमदशाह अब्दाली की चढ़ाई, मुहम्मदशाह की मृत्यु और अहमदशाह का राज्यारोहण ये ही मुख्य घटनाएँ दिल्ली में हुई थीं। यह वि॰ सं॰ १८०९ में मरा। इसके लड़के गंधर्वसिंह का तो पहले ही देहांत हो गया था, इसलिये इसका पुत्र सामंतसिंह गद्दी पर बैठा। इसने वि॰ सं॰ १८१५ में बादशाह अलीगौहर (शाहआलम) का रीवाँ से दिल्ली वापस जाने के समय अच्छा सत्कार किया। इससे बादशाह ने खुश होकर इसे महेंद्र की पदवी से विभूषित किया। यह वि॰ सं॰ १८२२ में परलोक को सिधारा। इसके पश्चात् हेतसिंह, मानसिंह और भारतीचंद क्रमानुसार राजा हुए। इन तीनों ने मिलकर केवल ग्यारह वर्ष राज्य किया था।

अध्याय १९

औरंगजेब और चंपतराय

१—पहाड़सिंह ने चंपतराय के मारने का प्रयत्न किया, परंतु वह निष्फल हुआ। ऐसे समय में बुंदेलखंड को भाइयों की लड़ाई से बहुत हानि पहुँची। पहाड़सिंह ने चंपतराय को हानि पहुँचाने का एक प्रयत्न और भी किया। शाहजहाँ ने जब बुंदेलों से संधि

की तब कोंच की जागीर चंपतराय को दी थी। चंपतराय की महोबा की जागीर बहुत छोटी थी। कोंच की जागीर मिल जाने से उनके खर्च का प्रबंध अच्छा होने लगा था। पहाड़सिंह ने अब यह जागीर चंपतराय से ले लेने का प्रयत्न किया। उस समय शाहजहाँ के दरबार में दारा की बहुत चला करती थी। दारा शाहजहाँ बादशाह का बड़ा लड़का था और उसने राज्य का सब कार्यभार उसी के सुपुर्द कर दिया था। ओड़छे के राजा पहाड़सिंह ने दारा से बहुत नम्रता के साथ यह बिनती की कि चंपतराय की जागीर मुझे दे दी जाय। मैं तीन लाख रुपए जागीर से मुगल दरबार को दूँगा और चंपतराय से अच्छा प्रबंध करूँगा। इस समय चंपतराय केवल एक लाख रुपए उस जागीर से बादशाह को दिया करते थे। पहाड़सिंह ने तीन लाख देने का वचन देकर जागीर माँगी। दारा ने लालच में आकर पहाड़सिंह को यह जागीर दे दी। इस बात पर चंपतराय को बहुत बुरा लगा और उन्होंने मुगल दरबार में ही दारा के काम की निंदा की और मुगलों की अधीनता में न रहने का निश्चय कर लिया।

२—इस प्रकार चंपतराय से जागीर तो ले ली गई, परंतु जिस वीरता के लिये चंपतराय को यह जागीर मिली[1] थी वह गुण चंपतराय से कोई न ले सका। उन्हें भी दारा से बदला लेने का मौका मिल गया। औरंगजेब दारा से वैमनस्य रखता था। दरबार में दारा ही सब काम करता था और यह बात औरंगजेब को बहुत बुरी लगती थी। औरंगजेब चाहता था कि शाहजहाँ के पश्चात्

(१) वि० सं० १७१० में चंपतराय दाराशिकोह के साथ कंदहार फतह करने के लिये गए थे। वहाँ पर इन्होंने प्राणपण से युद्ध किया। अंत में विजय हो गई। इसी कारण उन्हें यह जागीर मिली थी।

मुझे बादशाहत मिले, परंतु शाहजहाँ अपने बड़े लड़के दारा को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था और उसके कई सरदार भी दारा की मदद करते थे। इस कारण औरंगजेब ने दारा के प्रभाव को घटाने का निश्चय किया। उस समय औरंगजेब दक्षिण का सूबेदार था। उसने दारा के विरुद्ध चंपतराय से सहायता माँगी। चंपतराय दारा से बदला लेना ही चाहते थे, इसलिये उन्होंने औरंगजेब की सहायता करना स्वीकार कर लिया।

३—वि० सं० १७१४ में शाहजहाँ के लड़कों में यह खबर फैल गई कि बादशाह बीमार हो गया है। यही कारण था कि उसके लड़कों ने इस आशा से कि उनका पिता शीघ्र ही मर जायगा राज्य के लिये लड़ना आरंभ कर दिया। चंपतराय का उद्देश्य औरंगजेब की सहायता करने में केवल इतना ही था कि वे दारा से बदला ले सकें और बुंदेलखंड को मुगलों से स्वतंत्र कर सकें। दारा के पास बादशाह की बहुत सी सेना थी। इसने अपने लड़के सुलेमान शिकोह को भेजकर बंगाल से आनेवाले शुजा को सबसे पहले हराया। फिर दारा ने औरंगजेब की सेना का सामना करने के लिये धौलपुर के पास चंबल नदी का घाट रोक लिया। मुराद शाहजहाँ का सबसे छोटा लड़का था। वह इस समय गुजरात में था। औरंगजेब बड़ा ही स्वार्थी, दगाबाज और चालबाज था। इसने मुराद से फकीर बनने का ढोंग किया और कह दिया कि मैं तुम्हीं को बादशाहत दूँगा। मुराद उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आगया और अपनी सारी सेना लेकर औरंगजेब के साथ मिल गया। औरंगजेब तो यह चाहता ही था, उसने सारी फौज लेकर अवंती (उज्जैन) पर चढ़ाई कर दी। यहाँ पर मुकुंदसिंह हाड़ा सूबेदार था। इसने भरसक रोकने का प्रयत्न किया, पर, वह युद्ध में हारा और मारा गया।

४—औरंगजेब उज्जैन होकर नरवर आया। यहाँ से उसने चंपतराय को बुलाने के लिये अब्दुल्लाखाँ को भेजा। वे भी अपने प्रतिज्ञानुसार औरंगजेब को सहायता देकर अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिये आ गये। दारा ने चंबल का मुख्य घाट तो रोक ही लिया था इससे इन्होंने दूसरे घाट से नदी पार की और सेना लेकर दारा की सेना का सामना आगरे के पास सामोगढ़ में वि० सं० १७१५ में किया। इस समय दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। दारा की सेना के सेनापति बूँदी-नरेश छत्रसाल हाड़ा थे। ये भी बड़े बुद्धिमान् और शूर थे, पर चंपतराय की बुद्धिमत्ता के सामने उनकी एक भी न चली। वे युद्ध में हार ही गए। युद्ध के पश्चात् औरंगजेब ने मुराद को शराब पिलाकर कैद कर लिया और उसे ग्वालियर के किले में बंदी कर दिया तथा वह स्वयं बादशाह हो गया*। दारा और अपने पूज्य पिता को भी औरंगजेब ने कैद कर लिया।

५—औरंगजेब विक्रम संवत् १७१५ में बादशाह हुआ। उसकी विजय का कारण चंपतराय की सहायता ही थी। इसलिये औरंगजेब ने बुंदेला वीर चंपतराय को ओड़छे से यमुना तक का देश

* औरंगजेब ने जिस प्रकार बादशाही पाई उसका वर्णन भूषण कवि ने इस प्रकार किया है—

> किबले के ठौर बाप बादसाह साहिजहाँ
> ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।
> बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै कैद कियो
> मेहरहु नाहिँ वाको जायो सगो भाई है॥
> बंधु तौ मुरादबक्स बादि चूक करिबे को
> बीच लै कुरान खुदा की कसम खाई है।
> भूषन सुकवि कहै सुनौ नवरंगजेब
> एते काम कीन्हे फेरि पादसाही पाई है॥

जागीर में दिया और चंपतराय को दिल्ली-दरबार का उमराव समझा। वे १२००० सवारों के मनसबदार भी कहलाए।

६—चंपतराय को दिल्ली दरबार से बहुत मान मिला। परंतु कुछ दिन के पश्चात् औरंगजेब और चंपतराय में फिर अनबन हो गई। इस अनबन के कई कारण हैं। दारा की लड़ाई के समय चंपतराय ने एक बहुत अच्छा घोड़ा पकड़ लिया था। यह घोड़ा बहादुरखाँ का था। उसे औरंगजेब ने चंपतराय से माँगा। चंपतराय ने देने से इनकार किया, क्योंकि वह उन्हें युद्ध के समय मिला था। औरंगजेब को यह बात बहुत बुरी लगी। इसी समय औरंगजेब का भाई शुजा फिर बड़ी फौज लेकर इलाहाबाद लड़ने आया। औरंगजेब ने चंपतराय को हुक्म दिया कि तुम इलाहाबाद शुजा से लड़ने जाओ। यह हुक्म चंपतराय को बहुत बुरा लगा और उन्होंने जाने से इनकार कर दिया। इन कारणों के सिवाय चंपतराय का औरंगजेब के साथ बिगाड़ होने का असली कारण चंपतराय की स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की इच्छा थी। उस समय औरंगजेब और शुजा का युद्ध खतम न हुआ था। चंपतराय ने यही मौका औरंगजेब से स्वतंत्र होकर अपना राज्य स्थापित करने का सोचा।

७—औरंगजेब सदा ही चंपतराय को तंग करने का प्रयत्न किया करता था, पर उसे एक हिंदू वीर का सम्मान विवश हो करना पड़ता था और वह भी अपने स्वार्थ के लिये। परंतु वह सदैव किसी बहाने से चंपतराय की जागीर वापस ले लेने के प्रयत्न में था। चंपतराय को औरंगजेब की यह नीयत अच्छी तरह से मालूम हो गई थी। इसी कारण चंपतराय ने औरंगजेब की दी हुई सनदें और अस्त्र वापस कर दिए और साफ तौर से औरंगजेब से उसकी अधीनता में रहने से इनकार कर दिया।

८—परतंत्रता को त्याग स्वतंत्रता का डंका बजाते हुए चंपतराय बुंदेलखंड आए। चंपतराय की वीरता का डंका सारे देश में बज चुका था। इनके वापस आते ही सेना सरलता से मिल गई। इस सेना के सहारे और अपनी अतुल वीरता के बल से राजा चंपतराय ने एक के पश्चात् दूसरा किला जीतना आरंभ कर दिया। औरंगजेब चंपतराय की चतुरता को जानता था। उसे मालूम था कि चंपतराय के सामने कोई मुसलमान सेनापति न टिक सकेगा। इस कारण औरंगजेब ने दतिया के राजा शुभकरण को, जो कि सूबे बुंदेलखंड का दिल्ली की बादशाहत की ओर से सूबेदार भी नियत किया गया था, सेना के सेनापतित्व के लिये चुना। शुभकरण बुंदेलखंड के प्रत्येक भाग से परिचित था और वह बुंदेलखंड में पहले लूट-मार भी किया करता था। बादशाह औरंगजेब ने एक बड़ी भारी सेना शुभकरण के सुपुर्द की और उसे चंपतराय का नाश करने का हुक्म दिया।

९—औरंगजेब के पास से आने के पश्चात् चंपतराय ने पहले तो भांडेर को लूटा, फिर एरछ का किला ले लिया और यहीं पर अपने ठहरने का स्थान बनाया। फिर इसी स्थान से बुंदेलखंड के स्वतंत्र करने का प्रयत्न आरंभ किया। इसी समय मुगलों का नौकर बनकर शुभकरण, अपने बुंदेलखंडी वीर के स्वतंत्र होने के प्रयत्न को निष्फल करने के लिये, बहुत सी मुगल सेना लेकर आ पहुँचा। शुभकरण की सेना और चंपतराय की सेना से कई युद्ध हुए। चंपतराय के नेतृत्व में सेना को विशेष सुख होता था। शुभ-करण चंपतराय को हरा न सका। औरंगजेब ने जब देखा कि शुभकरण से कुछ न बन सका तब वह स्वयं अपनी बड़ी सेना लेकर बुंदेलखंड पर चढ़ आया और चंपतराय को घेर लेने का प्रयत्न करने लगा। चंपतराय ने धैर्य्य न छोड़ा। वे लड़ने को

तैयार बने रहे। बुंदेलखंड में औरंगजेब की सेना बिना बुंदेलों की सहायता के कुछ भी न कर सकती थी। इसलिये औरंगजेब ने अपनी सेना में बहुत से बुंदेले भरती किए। इनकी और शुभकरण की सहायता से चंपतराय के ठहरने के सब मार्ग औरंगजेब को मालूम होते गए। औरंगजेब को चंपतराय से युद्ध करते समय इनकी ही सहायता ने बहुत काम दिया। औरंगजेब की बड़ी सेना होने पर भी चंपतराय और उनकी सेना ने धीरता और वीरता से लड़ाइयाँ लड़ीं। परंतु धीरे धीरे चंपतराय की सेना कम होती गई। इसी समय चंपतराय और पहाड़सिंह के पुराने वैर ने विघ्न डाला। पहाड़सिंह का देहांत हो गया था, परंतु पहाड़सिंह की पत्नी ने अपने पति के वैरी चंपतराय को हराने के हेतु चंपतराय के मित्र और सरदार सुजानराय को बेदपुर में धोखे से मरवा डाला।

[क्रमशः]

---

(११) राजस्थानी भाषा का एक प्राचीन प्रेम-गाथात्मक गीति-काव्य

[लेखक—श्री सूर्यकरण पारीक एम० ए०, पिलानी]

गीति-काव्यों (Ballads) के संबंध में स्काटिश कवि और आलोचक फ्लेचर (Fletcher) ने कहा है—

"Give me the making of the Ballads of a nation and I care not who has the making of the laws." यदि मैं किसी जाति के गीति-काव्यों को बना सकूँ, तो मुझे इस बात की चिंता नहीं कि उस जाति के कानून कौन बनाता है।

वास्तव में बात भी सत्य है। इँगलैंड, स्काटलैंड, आयरलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों के साहित्य का परिशीलन किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इन देशों ने अपने प्राचीन गाथा-साहित्य की प्राण-पण से रक्षा की है। यही उनकी जातीय शक्ति, सामूहिक एकता और राजनीतिक महत्ता का एक बड़ा कारण है। पाश्चात्य देशों को अपने Beowulf, Aurthurian legends और Border Ballads का; Luciads, Nebulungenlied और Kalewala का जितना गर्व है उतना साहित्य-क्षेत्र की अन्य किसी प्रकार की मध्यकालीन अथवा अर्वाचीन रचना का नहीं। परंतु भारतवर्ष को अपनी सदियों की अनिश्चित राजनीतिक परिस्थिति से ही फुरसत न मिली, फिर इस प्रकार के प्राचीन साहित्य की रक्षा का उपाय किसके ध्यान में आता।

भारतवर्ष में राजस्थानी डिंगल भाषा का साहित्य इस प्रकार के प्राचीन गीतों और गाथा-काव्यों से परिपूर्ण है, जिनमें से एक

का परिचय हम इस निबंध में देंगे। परंतु इससे पहले एक साहित्यिक अपवाद पर विचार कर लेना होगा, जो आए दिन हिंदी साहित्यज्ञों के मुख से सुना जाता है। कुछ लोगों का यह कथन है कि राजस्थान देश की प्राकृतिक परिस्थिति और राजस्थानी जनता की स्वाभाविक उग्रता और रूखेपन के अनुरूप ही राजस्थानी भाषा अथवा साहित्यिक डिंगल भाषा भी रूखी, उग्र, उद्दंड एवं वीररस-प्रधान है और उसमें हृदय के कोमल, कांत एवं स्निग्ध भावों को व्यक्त करने के लिये न तो उपयुक्त शब्दावली है और न भाव-प्रदर्शन की योग्यता ही है। यह एक बड़ा भारी भ्रम है। राजस्थानी के आलोचकों को भी हम सर्वथा दोषी नहीं समझते। कारण, अब तक जो कुछ थोड़ा सा राजस्थानी का साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसमें हिंदी पाठकों को अधिकांश में तलवारों की चमचमाहट, वीर हृदयों का सामरिक उत्साह, राजपूत प्रण-प्रतिज्ञा की दृढ़ता अथवा किसी भयंकर युद्ध की दिल को दहलानेवाली उद्दंडता का ही वर्णन मिलता है। परंतु हमारा कथन यह है कि राजस्थानी का साहित्य यहीं तक समाप्त नहीं हो जाता।

राजस्थान की पुण्यभूमि भारत के अतीत गौरव, पुण्यशील कीर्ति और शिखरारूढ़ सभ्यता का प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण केंद्र और स्तंभ रही है। कोई भी विचारशील पुरुष निष्पक्ष सत्यता के साथ यह नहीं कह सकता कि भारत के इतिहास में सदा से अग्रणी रहनेवाली इस भूमि का साहित्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण, सर्वांग-संपूर्ण, उतना ही उज्ज्वल आदर्शमय एवं उतना ही पथ-प्रदर्शक नहीं रहा होगा। परंतु यह सब होते हुए भी सत्य को प्रकाशित होने के लिये प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है। दुःख तो इस बात का है कि भारत के विद्वानों ने राजस्थान के साहित्य को अब तक उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। यही कारण

है कि राजस्थानी का साहित्यिक भांडार उत्तमोत्तम रत्नों से परिपूर्ण होते हुए भी उनकी झलक सूर्य के प्रकाश में बाह्य जगत् को अब तक नहीं मिली। कुछ-एक संस्थाओं यथा—काशी नागरीप्रचारिणी सभा, एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल—का तथा कुछ विद्वानों—यथा कर्नल जेम्स टॉड, डाक्टर टैसीटरी, महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा, पंडित रामकर्ण, मुंशी देवीप्रसाद इत्यादि—का हमको बड़ा उपकार मानना चाहिए कि जिन्होंने सर्वप्रथम साहित्य-जगत् को यह गंभीर सूचना दी कि इस भाषा में भी बहुमूल्य साहित्य-भांडार भरा पड़ा है। अब यदि आवश्यकता है तो उन परिश्रमशील साहित्य-वीर अन्वेषकों की, जिनके हृदय में राजस्थान के पूर्व गौरव के प्रति अक्षुण्ण श्रद्धा हो और जो दृढ़-प्रतिज्ञ महाराणा प्रताप और बाप्पा रावल, चक्रवर्त्ती दिल्लीपति महाराजा पृथ्वीराज, वीरश्रेष्ठ दुर्गादास, साहित्य-रथी महाराज जसवंतसिंह तथा राठौड़ महाराज पृथ्वीराज, भक्तशिरोमणि मीराबाई और कविश्रेष्ठ चंदबरदाई के उज्ज्वल यश और कृतियों को सुरक्षित करने का उद्योग करें।

इस बात को हिंदी के सभी ज्ञाता एवं विद्वान् जानते हैं कि राजस्थानी साहित्यिक भाषा (डिंगल) और हिंदी (पिंगल) का चोली दामन का साथ है। वास्तव में देखा जाय तो हिंदी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अपने राजस्थानी रूप में प्रकट हुआ। हिंदी साहित्य के इतिहास-निर्माण में राजस्थानी का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। चंदबरदाई हिंदी के आदिकवि हैं और वही राजस्थानी के श्रेष्ठ कवि भी। मीराबाई स्त्री-कवियों में हिंदी की श्रेष्ठ कवयित्री हैं और वह राजस्थानी काव्य की भी आत्मा हैं। इस नाते से राजस्थानी हिंदी की बड़ी बहिन हुई। अतएव राजस्थानी साहित्य का जितना उद्धार होगा, हिंदी-साहित्य की समृद्धि भी उतनी ही बढ़ेगी। हमारी तो यह धारणा है कि हिंदी-साहित्य यदि त्रिवेणी

का सुखद और महत्त्वपूर्ण संगम है, तो राजस्थानी उसकी पश्चिमी शाखा यमुना है और अवधी और पूर्वी हिंदी उसकी पूर्वीय शाखा सरस्वती है। इन दोनों के बीच में से व्रजभाषा-रूपी गंगा की पावन तरंगिणी अपने सरस काव्य-प्रवाह को लिए हुए उत्तर भारत के समस्त रसिक-समुदाय को आह्लादित करती हुई अनर्गल बह रही है। जब तक हिंदी हिंदी है, तब तक इन तीनों का साथ छूट नहीं सकता।

अब प्रश्न यह होता है कि गीति-काव्य (Ballad) की साहित्यिक विशेषताएँ क्या हैं। भारत के सुप्रसिद्ध वर्त्तमान ऐतिहासिक विद्वान् सर यदुनाथ सरकार ने इसकी व्याख्या करते हुए एक स्थान पर लिखा है—

"Rapidity of movement, simplicity of diction, primary emotions of universal appeal, action rather than subtle analysis, broad striking characterisation—"Thumb-nail sketches" of background and the sparest use (or rather complete avoidance) of literary artifices— these are the essential requisites of the true ballad."

[प्रबंध-गति की तीव्रता, शब्द-विन्यास की सादगी, प्राकृतिक और आदिम रागात्मक मनोभावों की व्यापक मर्मस्पर्शिता, विचार-विश्लेषण के बजाय कार्यशीलता, प्रभावोत्पादक स्थूल चरित्र-चित्रण, प्राकृतिक पृष्ठ-पट पर स्थूल अवयव-चित्र अंकित करना, साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनातिन्यून प्रयोग—सच्चे गीति-काव्य के यही आवश्यक लक्षण हैं।]

इस वक्तव्य द्वारा हम राजस्थानी साहित्य की रत्नगर्भा खान में से निकालकर एक ऐसे प्राचीन गाथा-काव्य का चित्र उपस्थित

करना चाहते हैं, जिसने पिछली ७।८ शताब्दियों से राजस्थानी जनता के हृदय में घर कर रखा है और जिसकी लोक-प्रियता का इससे बड़ा प्रमाण नहीं हो सकता कि राजस्थान प्रांत के घर घर में, गाँव गाँव में, इस प्रेम-कथा का किसी न किसी रूप में परिचय है। इसके संबंध में सबसे पहली जानने योग्य बात यह है कि यह एक प्राकृतिक गीति-काव्य है। इसकी कविता साहित्य की जटिल परिपाटी और रीति के बंधनों से सर्वथा निर्मुक्त है। इसमें अलंकार-शास्त्र की उधेड़बुन, शृंगाररस-संबंधी नखशिख-वर्णन और नायिका-भेद की बू तक नहीं है। इसकी कविता इतनी ही स्वच्छंद और उछलती-कूदती हुई है जितनी कि हिमालय के उत्तुंग शृंगों से निकली हुई स्वच्छंद-गामिनी किसी सरिता का प्रवाह।

इस प्रेमगाथात्मक गीति-काव्य का नाम "ढोला-मारूरा दूहा" प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह प्रेमगाथा बहुत पुरानी है और इसकी घटनाओं के संगठित होने का समय इसके निर्माण-काल से कुछ शताब्दी पूर्व का है। वर्त्तमान काव्य-रूप में इसका निर्माण विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में हुआ। इसकी भाषा के संबंध में बहुत मतभेद है। यद्यपि इसके कुछ अंशों की भाषा इतनी पुरानी है कि उसमें अपभ्रंश भाषा की स्पष्ट झलक दिखाई देती है, तथापि कुछ अंश ऐसे भी हैं जिनमें भाषा का बहुत नजदीक का वर्त्त-मान रूप दिखाई देता है। इस भाषा-वैभिन्न्य का कारण यही हो सकता है कि यह प्राचीन काल से चली आती हुई एक प्रेम-गाथा है जिसे लोग स्मृति द्वारा रक्षित रखते हुए और गान के रूप में गाते चले आ रहे हैं। उत्तरी भारतवर्ष में लिपि का प्रचार होने पर लोगों ने इस प्रेम-गाथा को अपने अंतिम रूप में लिख लिया और तभी से इसका स्थायित्व हो गया। परंतु अंतिम रूप में लिखे जाने से पहले असंख्य भाटों और चारणों के मुख

से, समय समय पर और शताब्दी के बाद शताब्दी में इसकी भाषा, भाव, वर्त्तनी एवं वर्णन-शैली में जो परिवर्त्तन हुए हैं, उनका सच्चा इतिहास कौन बता सकता है ? संसार के सभी प्राचीन साहित्यों में वीर-काव्यों, गीति-काव्यों एवं परंपरागत प्रेम-गाथाओं की यही दशा रही है। सच तो यह है कि सच्ची कविता, मानव-प्रकृति का सच्चा चित्र, प्रेम और घृणा, भय और आशंका, आश्चर्य और विस्मय, भक्ति और श्रद्धा--सभी भावनाओं का अभिनय हमें इन्ही पूर्व-ऐतिहासिक एवं प्रथा-विहीन (Pre-historic and anti-classical) लोकप्रिय काव्यों में मिलता है। जब से मनुष्य ने अपना आपा सँभाला है, जब से वह बुद्धिमत्ता का ढोंग रचने लगा है और बुद्धि-मत्ता की सनक में जब से उसने मस्तिष्क के सामने हृदय का तिरस्कार करना श्रेयस्कर समझा है, तभी से सच्ची, हृदयस्पर्शी, नैसर्गिक कविता का ह्रास होने लगा है और उसके स्थान में कृत्रिम तथा भावशून्य कविता का प्रादुर्भाव होने लगा है। विशाल गगन में स्वच्छंद परों को फटफटाती हुई और गाती हुई, यथेच्छ कड़वे, कसैले अथवा मधुर फलों के स्वाद को चखती हुई और वन्य सरिताओं का जलपान करती हुई वन वन में विचरण करनेवाली मनमौजी चिड़िया के संगीत में और सोने के पिंजड़े में जकड़ी हुई, अपनी इच्छा के विरुद्ध उत्तमोत्तम पदर्थों का भोग करती हुई, अपने स्वामी के रटाए हुए कुछ शब्दों को रटती हुई चिड़िया में जो अंतर है वही इस कविता और अर्वाचीन काल की प्रथा-बद्ध कविता में है।

यह काव्यरत्न प्रकृति-वाटिका का एक स्वच्छ अमृत-पुष्प है जो राजस्थानी भाषा और साहित्य का सदियों से गले का हार रहा है और राजस्थानी ग्राम्य-जनता की मानसिक कल्पनाओं को आकर्षित करता हुआ उसके हृदय-कानन को सदा सुरभित करता रहा है।

इस काव्य की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

एक समय पूगल देश (बीकानेर राज्य के एक भाग) में पिंगल राजा राज्य करता था और नरवर देश पर नल राजा राज्य करता था। पिंगल के एक कन्या हुई जिसका नाम मारुवणी था। नल के पुत्र का नाम ढोला (साल्हकुमार) था। एक वर्ष बरसात न होने के कारण पिंगल कुछ काल के लिये पुष्कर में जा रहा। उधर राजा नल भी तीर्थाटन करता हुआ वहाँ आ टिका। दोनों में मित्रता हो जाने पर एक की लड़की का विवाह दूसरे के लड़के के साथ हो गया। उस समय ढोला की उमर ३ वर्ष की और मारुवणी की १॥ वर्ष की थी। शरदागमन पर दोनों राजा अपने अपने कुटुंबों सहित अपने राज्यों को लौट गए। मारुवणी की अवस्था बहुत छोटी होने के कारण पिंगल ने उसे उस समय ससुराल नहीं भेजा। इसी बीच में कई वर्ष बीत गए। राजा नल ने पूगल देश दूर होने के कारण ढोला का दूसरा विवाह मालवा के राजा की लड़की मालवणी से कर दिया और उसके पूर्व-विवाह की बात छिपा रखी। इधर मारुवणी बड़ी हुई तो उसके पिता पिंगल ने ढोला को बुलाने के लिये कई दूत भेजे, परंतु मालवणी ने सौतियाडाह वश पूगल और नरवर के रास्तों पर ऐसा प्रबंध कर रखा था जिससे दूत ढोला के पास संदेश लेकर पहुँचने से पहले ही मार दिए जाते थे। मारुवणी अब युवती हो गई। एक दिन सोती हुई उसने स्वप्न में ढोला को देखा। विरह-पीड़ा बढ़ गई। उसी समय नरवर की ओर से घोड़ों का एक सौदागर पूगल को आया। उसने ढोला के दूसरे विवाह की बात पिंगल से कह दी। मारुवणी ने भी सुना। विरह-दुःख से संतप्त होकर वह विक्षिप्त की तरह कुरभ (मरुस्थल का पक्षी-विशेष; कुंभ पक्षी) और कौओं से ढोला के पास अपना प्रेम-संदेश पहुँचाने की प्रार्थना करने लगी। अंत में सब की सलाह से मालवणी के

षड्यंत्र से बच निकलने की योग्यता रखनेवाले एक ढाढी को संदेश देकर मारुवणी ने भेजा। रास्ते में ढाढी ने अपने गान द्वारा मालवणी के आदमियों को प्रसन्न किया और उन्होंने उसे निष्पाप याचक समझ जाने दिया। ढोला के महल के नीचे पहुँचकर ढाढी ने रात भर आशयगर्भित गीतों में मारुवणी का प्रेम-संदेश ढोला को सुनाया। ढोला ने प्रातःकाल ही उसको बुला भेजा और सब हाल मालूम कर प्रत्युत्तर और इनाम देकर विदा किया। अब तो ढोला के चित्त में उत्कंठा और व्यग्रता बढ़ गई। मालवणी ने चतुरतापूर्वक पति के दिल की बात जान ली। ढोला ने मारुवणी को लिवा लाने के लिये इच्छा प्रकट की, परंतु मालवणी ने एक वर्ष तक अनुनय-विनय करके ढोला को रोक रखा। अंत में शरद् ऋतु की एक आधी रात्रि को सोती हुई मालवणी को छोड़कर ढोला चुपके से एक तेज चालवाले ऊँट पर सवार होकर पूगल की ओर चल पड़ा। प्रस्थान करते हुए ऊँट की बलबलाहट को सुन मालवणी जागी और ढोला को न पाकर दुःखी हुई। पीछे से अपने तोते को समझाकर भेजा। तोते ने चंदेरी और बूँदी के बीच में एक तालाब पर ढोला को दँतुवन करते हुए पाया और कहा कि उसके विरह में मालवणी मर गई है। ढोला समझ गया और उत्तर में तोते को कहा कि तू जाकर यथाविधि उसकी अंत्येष्टि कर दे। तोता लौटा। मालवणी निराश हो गई। मार्ग में ढोला को ऊमर सूमरा नाम के एक भाटी सरदार का चारण मिला, जो ऊमर की ओर से मारुवणी के साथ पुनर्विवाह करने का प्रस्ताव लेकर राजा पिंगल के पास गया था और हताश होकर लौटा आ रहा था। ढोला के पूछने पर उसने ईर्ष्या-वश कहा कि मारुवणी तो अब बुढ़िया हो गई है। यह सुनकर ढोला को चिंता और विरक्ति होने लगी। परंतु थोड़ी ही दूर आगे जाने पर बीसू नाम का दूसरा चारण मिला जिसने

मारुवणी का सच्चा सच्चा हाल बताकर ढोला की चिंता मिटाई। अब ढोला पूगल पहुँच गया। ससुराल में बड़ा स्वागत हुआ। बधाइयाँ हुईं। पिंगल ने खूब आनंद उत्सव मनाया। मारुवणी के हर्ष का पारावार न रहा। जिस प्रकार सूखी हुई वल्लरी समय पर वर्षा-जल पा जाने से पुनः लहलहा उठती है, उसी प्रकार मारुवणी भी पुनर्जीवित हो उठी। कुछ दिन आनंद भोगकर, बहुत सा दहेज, धन, दास-दासी लेकर, मारुवणी सहित ढोला नरवर को बिदा हुआ। मार्ग में एक विश्रामस्थल पर सोती हुई मारुवणी को पीवणे साँप (राजस्थान के एक जहरीले साँप) ने काट खाया। सबेरे जागने पर ढोला ने मारुवणी को मरा पाया। वह विलाप करने लगा और चिता बनाकर प्रिया के साथ जलने को उद्यत हुआ। जिस समय चिता-प्रवेश की तैयारी हो रही थी, उसी समय योगी और योगिन के वेश में शिव-पार्वती उस मार्ग पर आ निकले। योगिनी के अनुरोध से योगी ने मारुवणी को पुनः जीवित कर दिया। ढोला प्रसन्न हुआ और आगे चला। इस समय तक ढोला की वापसी यात्रा की खबर दुष्ट ऊमर सूमरा सरदार को हो गई थी। मारुवणी को छीन लेने की इच्छा से वह फौज सहित बीच में आ डटा। ढोला से मिलने पर उसने कपटपूर्वक उसका खूब सत्कार किया। ढोला उसकी धोखे की बातों में आकर ठहर गया। ऊमर की सेना के साथ मारुवणी के पीहर की एक डूमणी (गायिका) थी। उसने गाते हुए इशारे से मारुवणी को इस धोखे और षड्यंत्र की बात समझा दी। समझकर, मारुवणी ने अपने ऊँट को जोर से मारा। ऊँट भाग खड़ा हुआ। ढोला जब ऊँट को सम्हालने के लिये आया तब मारुवणी ने उसको कान में समझा दिया। मारुवणी को साथ लेकर ढोला ऊँट पर चढ़-कर दौड़ा और देखते देखते कोसों दूर निकल गया। ऊमर ने

सेना सहित पीछा किया, परंतु उसे हताश होकर वापस लौटना पड़ा। ढोला मारुवणी सहित सकुशल नरवर पहुँच गया। उसके पिता ने धूम-धाम से दोनों को स्वागत करके महलों में प्रवेश कराया। मालवणी को जब ये समाचार मिले तो उसे चिंता और सपत्नी-दाह हुआ। मारुवणी के कहने से ढोला ने मालवणी का भी आदर किया। अब तीनों आनंदपूर्वक सुख से रहने लगे। एक दिन मालवणी ने पूगल देश की और मारुवणी ने मालवा की बुराई की। बहस बढ़ गई। परंतु ढोला ने दोनों को समझाकर झगड़ा मिटा दिया।

"ढोला-मारूरा दूहा" काव्य का संपादन १८ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है, जो राजस्थान के भिन्न भिन्न राज्यों के भिन्न भिन्न स्थानों से खोजकर प्राप्त की गई हैं। इनमें भी सबसे प्राचीन दो प्रतियों के पाठ को विशेष प्रामाणिक समझकर आधार-स्वरूप स्वीकार किया गया है। इनमें से एक तो जोधपुर की राजकीय लाइब्रेरी से प्राप्त वि० सं० १६६६ कार्त्तिक शु० ९ की लिखित प्रति है और दूसरी बीकानेर दरबार लाइब्रेरी से प्राप्त वि० सं० १७३० की लिखित प्रति है। ये दोनों प्रतियाँ दोहोंवाले प्राचीन रूप में है। सभी प्रतियों पर विचार करने से "ढोला-मारूरा दूहा" ग्रंथ के तीन रूप पाए जाते हैं—

(१) असली दोहोंवाला प्राचीन रूप—राजस्थान में प्रचलित रूप यही है।

(२) जैन कवि कुशललाभ का दूहा और चौपाइयों का मिश्रित रूप। कुशललाभ ने प्राचीन दोहों के बीच बीच में कथा-सूत्र को मिलाकर बोधगम्य करने के लिये सं० १६१७ के लगभग अपनी चौपाइयाँ जोड़ दी थीं। कुशललाभ ने अपने ग्रंथ के आरंभ में लिखा है—

"दूहा घणा पुराणा अछै। चौपई बंध कियौ मैं पछै।"
यह रूप गुजरात की प्रतियों में और जैन भंडारों की प्रतियों में मिलता है।

(३) दूहा, चौपाई और राजस्थानी गद्यमय रूप—इसकी भी प्रतियाँ कहीं-कहीं पाई जाती हैं। यह अर्वाचीन रूप है।

ऐतिहासिक आधार—"ढोला" नाम तो बहुत पुराना है। हेमचंद्र के प्राकृत-व्याकरण में जो अपभ्रंश के उदाहरण दिए गए हैं, उनमें 'ढोला' शब्द आता है। हेमचंद्र का समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी है। वहाँ 'ढोला' से आशय 'नायक' का है। ढोला नाम नायक का क्यों पड़ा, कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। बहुत संभव है, इस कथा के नायक की सुप्रसिद्धि से नायक का नाम ढोला पड़ गया हो। ढोला का समय वि० सं० १००० के लगभग है। वह कछवाहा वंश का नरवर का राजा था। उसका नाम साल्हकुमार था और ढोला उसका प्रेम का उपनाम था। टॉड राजस्थान में ढोला और उसके पिता नल का नाम आता है। ढोला के बाद कछवाहों ने जयपुर (ढूँढाड़) में अपना राज्य स्थापित किया था। मूँता नैणसी की राजस्थान की ख्यात में ढोला का उल्लेख है और यह भी लिखा है कि उसके दो रानियाँ थीं, एक मालवा की और दूसरी मारवाड़ की। मारवाड़ एवं मालवा में उस समय पँवारों का राज्य था। इस प्रकार मूल-कथा ऐतिहासिक है। परंतु ढोला-मारू एक प्रेम-गाथा है। उसकी सारी बातें ऐतिहासिक नहीं हो सकतीं।

कुशललाभ ने अपने ग्रंथ में एक भूमिका जोड़ दी है और उसमें लिखा है कि जालोर और आबू के देवड़ा राजा सामंतसी की कन्या ऊमादे का विवाह पूगल के पँवार पिंगल से हुआ, जिससे मारुवणी नाम की कन्या उत्पन्न हुई। इस मारुवणी का विवाह ढोला के

साथ हुआ। जालोर के सोनगरा सामंतसी के कुछ शिलालेख वि० सं० १३३६ से वि० सं० १३५४ के मिले हैं। वह सम्राट् अलाउद्दीन का समकालीन था। उस समय पूगल में पिंगल नामक किसी राजा का उल्लेख नहीं मिलता और न ढोला का नरवर में होना सिद्ध होता है। इस इतिहास-विरोध से यही अनुमान होता है कि कुशललाभ की भूमिका अनैतिहासिक एवं अविश्वसनीय है। सबसे प्राचीन रूप वही दोहोंवाला रूप है जिसमें भूमिका नहीं है, और इतिहास की प्रामाणिकता के लिये वही रूप विश्वसनीय है।

भाषा—भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। पृथ्वीराजरासे एवं वीसलदेवरासे की भाषा में साहित्यिक राजस्थानी का प्रथाबद्ध (Steraoyhed) रूप मिलता है। परंतु "ढोला-मारू" जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में लिखा गया है। इसकी भाषा चारण-भाटों की डिंगल नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर भाषा-विज्ञान के अध्ययन में एवं अपभ्रंश से राजस्थानी का विकास कैसे हुआ, इसके अध्ययन में यह ग्रंथ सहायक होगा।

इस विषय में आचार्य श्यामसुंदरदास लिखते हैं—

" In the field of linguistic studies, the poem written, as it is in the old popular Rajasthani language and not in the stereotyped Dingala of the bards, will surely mark an important land-mark in the process of evolution of the vernacular languages and literature of the northern Hindustan, lending a very useful help to the student of Hindi in determining the different stages of evolution of some of the important branches of northern

vernaculars, which have jointly contributed to the progress and existence of Hindi."

• [बोलचाल की प्राचीन राजस्थानी में—जब कि चारणों की प्रथा-बद्ध डिंगल में लिखा होने के कारण—यह काव्य भाषा-शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से, निश्चय करके, उत्तर भारत की देश भाषाओं के साहित्य और भाषा के विकास के क्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान रखेगा और हिंदी-साहित्य के विद्यार्थी को देशभाषाओं और विशेषत: हिंदी के क्रम-विकास के इतिहास के अध्ययन में सहायक होगा।]

महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा लिखते हैं—

"यह काव्य भाषा एवं भाव दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इसकी भाषा कृत्रिम डिंगल (राजस्थानी) नहीं है जो साहित्य में प्रसिद्ध है। यह तत्कालीन बोलचाल की राजस्थानी भाषा में लिखा गया है और भाषा के इतिहास के अध्ययन के लिये यह काव्य उपयोगी सिद्ध होगा। कविता की दृष्टि से भी यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। यह एक विचित्र (रोमेंटिक) प्रेम-गाथा है और इसमें मानव-हृदय के कोमल मनोभावों के एवं बाह्य प्रकृति के मनोहर चित्र अंकित किए गए हैं।" यहाँ पर इस काव्य के कुछ उदाहरण उपस्थित करना अनुचित न होगा—

मारुवणी की विरह-दशा पर कवि की कैसी अपूर्व सूझ है—

बाबहियौ नै बिरहिणी दुहुँवा एक सहाव।
जबही बरसै घण घणौ तबही कहै प्रियाव॥

[पपीहे और विरहिणी, दोनों का एक सा स्वभाव है। जब जब मेघ बहुत बरसता है तभी ये दोनों "पी आव पी आव" पुकार उठते हैं।]

विरह की प्रथम बाढ़ ने मारुवणी की विचित्र दशा कर दी है। न रात्रि में नींद आती है, न दिन में चैन पड़ता है। उसकी प्रतिभा

जाग उठी है और हृदय में अपूर्व भावों का उद्रेक हो रहा है। चारों ओर के दृश्यों के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल गया है। पक्षियों का कलरव, बिजली की चमक, मेघों का गर्जन, पपीहे की पुकार उसको प्यारे का स्मरण दिलाते हैं। उसका और प्रकृति का सामंजस्य बढ़ता जा रहा है—

रातिं सखी इणि ताल में काइ ज कुरळी पंखि।
उवै सरि हूँ घरि आपणै बिहूँ न मेळी अंखि॥

[हे सखी, रात को उस सरोवर में किसी पक्षी ने कलरव किया। वह सरोवर में और मैं अपने घर में थी। हम दोनों ही की आँख न लगी।]

इतने में कुरझ पक्षियों को देखकर कहती है—

कूँझाँ द्यउ नइ पंखड़ी थाँकउ विनउ वहेस।
सायर लंधी प्री मिलउँ प्री मिलि पाळी देस॥

[हे कुरझो, जरा अपने पंख मुझे दे दो। मैं तुम्हारा वेश बनाऊँगी और सागर को पार करके प्रियतम से जा मिलूँगी। उनसे मिलकर तुम्हारे पंख तुम्हें लौटा दूँगी।]

फिर वायु को संबोधन करके कहती है—

जिणि देसे सज्जण वसइ तिणि दिसि वजउ वाउ।
उआँ लगे मो लग्गसी ऊही लाख पसाउ॥

[जिस दिशा में प्रियतम बसते हैं, हे वायु, उसी दिशा से चल, जिससे उनका स्पर्श कर मुझको छुएगी। वही मेरे लिये लाख पसाव होगा।]

विज्जुळियाँ नीलजियाँ जळहरि तू ही लजि।
सूँनी सेज विदेस प्रिय मधुरइ मधुरइ गाजि॥

[बिजलियाँ तो निर्लज्ज हैं। हे जलधर, तू तो मेरी लाज कर। मेरी शय्या सूनी है; मेरा प्यारा विदेश में है। अतएव तू मधुर (मंद) शब्द से गर्जन कर।]

ढाढी के हाथ ढोला को संदेश भेजते हुए मारुवणी को संतोष नहीं होता—

भँरइ पलट्टइ भी भरइ भी भरि भी पलटेहि ।
ढाढी हाथ सँदेसड़ा धण विललंती देहि ।।

[संदेश को कहती है, बदल देती है; फिर कहती है और कहकर फिर बदल देती है। इस प्रकार विलाप करती हुई ढाढी के हाथ संदेश देती है।]

ढाढो ने करुण-संगीत द्वारा रात भर ढोला को संदेश गाकर सुनाया। संगीत के नैसर्गिक प्रभाव पर कवि की कैसी मार्मिक उक्ति है—

दुख वीसारण मनहरण जो ई नाद न हुंति ।
हियड़ो रतन-तळाव ज्यूं फूटी दह दिसि जंति ।।

[दुःख को विस्मरण करानेवाला और मन को हरनेवाला संगीत यदि न होता तो हृदय रत्न-सरोवर की तरह फूटकर दशों दिशाओं को बह जाता।]

मारुवणी का संदेश सुनकर ढोला मिलनातुर हुआ। मालवणी ने जब यह जाना तब विरह-व्याकुल हुई और रोकने की चेष्टा करने लगी। वर्षा ऋतु का वर्णन करती हुई वह कहती है—

प्रीतम कामणगारियाँ थळ थळ वादळियांह ।
घण वरसंतै सूकियाँ लू सूँ पाँगुरियाँह ।।
नदियाँ नाळा नीझरण पावस चढिया पूर ।
करहउ कादिम तिळकस्यइ पंथी पूगळ दूर ।।

[हे प्रियतम, स्थल स्थल पर जादूगरनी बदलियाँ छाई हुई हैं। वे मेंह बरसने से सूख जाती हैं और लू से फिर हरी (भरी-पूरी) हो जाती हैं। नदियाँ, नाले और झरने पानी से भरपूर चढ़े हुए हैं। कहीं ऊँट कीचड़ में फिसलेगा। हे पथिक, पूगल बहुत दूर है।]

ढोला उत्तर में मारवाड़ की वर्षाकालीन शोभा का वर्णन करता हुआ कहता है—

बाजरियाँ हरियाळियाँ बिचि बिचि बेलाँ फूल ।
जउ भरि बूठउ भाद्रवइ मारू देस अमूल ॥

[बाजरियाँ हरी हो गई हैं। बीच बीच में बेलें फूल रही हैं। यदि भादों भर बरसता रहा तो मारू देश अमूल्य (शोभाशाली) होगा।]

ढोला ने आखिर चलने का निश्चय कर लिया। उस समय का चित्र कवि उपस्थित करता है—

ढोलउ हल्लाणउ करइ धण हल्लिवा न देह ।
झब झब झूँबइ पागड़इ डब डब नयण भरेह ॥

[ढोला चलना चाहता है, परन्तु प्रेयसी चलने नहीं देती। ऊँट की रिकाब को पकड़कर झब झब झूमती है और आँखों में डबाडब आँसू भर लेती है।]

ढोला चला गया। मालवणी विरह-विलाप करती है—

साल्ह चलंतै परठिया आँगण वीखडियाँह ।
सो मैं हियै लगाड़ियाँ भरि भरि मूठड़ियाँह ॥
बाबू बाळूँ देसड़उ जिहाँ डूँगर नहिं कोइ ।
तिणि चढ़ि मूकउँ धाहड़ी हीयउ उरळउ होइ ॥
साँवळि काँइ न सिरजियाँ अंबर लागि रहंत ।
वाट चलंताँ साल्ह प्रिव ऊपर छाँह करंत ॥

[साल्हकुमार के चलते समय आँगन में उनके पद-चिह्न बन गए। उनकी धूलि को मैंने मुट्ठियाँ भर भरकर हृदय से लगाया।

हे बाबा, ऐसे देश को जला दूँ, जहाँ कोई पहाड़ तक नहीं है कि उस पर चढ़कर धाड़ मारूँ, जिससे हृदय हलका हो जाय।

हे विधाता, तूने मुझे श्यामल बदली क्यों नहीं बनाया कि आकाश में लगी रहती और रास्ते चलते हुए प्रियतम साल्हकुमार पर छाया करती ।]

बीसू चारण ढोला से मारवाड़ की स्त्रियों का और मारवाड़ देश का वर्णन करता है·

मारू देस उपन्नियाँ ताँह का दंत सुसेत ।
कूँझ-बचाँ गोरंगियाँ खंजर जेहा नेत ॥
देस सुहावै जळ सजळ मीठा बोला लोइ ।
मारू कांमण भुंइ दखिण जइ हरि दियइ त होइ ॥
थळ भूरा बन झंखरा नहीं सु चंप्पउ जाइ ।
गुणे सुगंधी मारुवी महकी सहु वणराइ ॥
ऊँडा पाणी कोहरे दीसै तारा जेम ।
ऊँसारंता थाकिस्यइ कहो काढिस्यइ केम ॥

[जिन्होंने मारू देश में जन्म लिया है उन महिलाओं के दाँत अत्यंत उज्ज्वल होते हैं । वे कुंझ के बच्चों के समान और गौरांगिनी होती हैं । उनके नेत्र खंजन के से होते हैं ।

मरुस्थल बड़ा सुहावना देश है । वहाँ का जल स्वास्थ्यप्रद है और लोग मधुरभाषी हैं । मारू देश की कामिनी दक्षिण देश में यदि भगवान् ही दें तो मिल सकती है । भूमि (बालुकामय होने से) भूरी है; वन झंखाड़ हैं । वहाँ चंपा नहीं उत्पन्न होता । मारुवणी के गुणों की सुगंधि से ही सारा वनखंड महक उठा है ।

कुओं में पानी इतना गहरा है कि ऊपर से तारे की तरह नीचे चमकता दिखाई देता है । उसको खींचते हुए थक जाओगे । कहो, कैसे निकालोगे ?]

मारुवणी के देश, मारवाड़, की हँसी करती हुई मालवणी कहती है—

बाळूँ बाबा देसड़उ पाँणी जिहाँ कुवाँह ।
आधीरात कुहक्कड़ा ज्यउँ माणसाँ मुवाँह ॥
बाबा म देइ मारुवाँ सूधा गोवाळाँह ।
कंधि कुहाड़ो सिर घड़ो बासो मंझ थळाँह ॥
बाबा म देइ मारुवाँ वर कूँआरि रहेसि ।
हाथ कचोळो सिर घड़ो सीचंतीय मरेसि ॥
मारू थाँके देसड़े एक न भाजै रिड्ड ।
ऊचाळो क अवरसणो का फाको का टिड्ड ॥
जिण भुइँ पन्नग पीयणा केर कँटाला रूँख ।
आके फोगे छाँहड़ी हूँछाँ भाँजै भूख ॥
पहरण ओढण कामळा साठे पुरसे नीर ।
आपण लोक उभाँखरा गाडर छाळी खीर ॥

[हे बावा, ऐसा देश जला दूँ, जहाँ पानी गहरे कुँओं में ही मिलता है, जहाँ पर कुओं पर पानी निकालनेवाले, आधी रात को ही पुकारने लगते हैं, जैसे मनुष्यों के मर जाने पर । हे बावा मुझे मारवाड़ियों के यहाँ मत ब्याहना, जो सीधे-सादे पशुओं को चरानेवाले होते हैं । वहाँ काँधे पर कुल्हाड़ा और सिर पर घड़ा रखना होगा ।

हे बाबा, मुझे मारवाड़ियों के यहाँ मत देना, चाहे मैं कुँवारी ही रह जाऊँ । वहाँ दिन भर हाथ में कटोरा और सिर पर घड़ा, इस प्रकार पानी भरती भरती ही मर जाऊँगी ।

हे मारुवणी, तुम्हारे देश में एक भी कष्ट दूर नहीं होता । या तो ऊचाला (अकाल में विदेश-गमन) या अवर्षा या फाका या टिड्डियाँ—कोई न कोई अनर्थ, अवश्य होता रहता है ।

जिस मारवाड़ की भूमि में पीनेवाले पीवणे साँप होते हैं, कैर (करील) और ऊँटकटारा ही पेड़ों की गिनती में आते हैं, जहाँ आक

और फोग की ही छाया मिलती है और भुरट घास के दानों से ही पेट भरना पड़ता है, जहाँ पहनने और ओढ़ने को मोटे ऊनी कंबल ही मिलते हैं, जहाँ पानी साठ पुर्सा गहरा होता है, लोग भी जहाँ एक जगह टिककर नहीं रहते और जहाँ बकरी और भेड़ का ही दूध पीने को मिलता है। ऐसा तुम्हारा मारवाड़ देश है।]

मारुवणी उत्तर में मालव देश की निंदा करती है—

बाळूँ बाबा देसड़ौ जिहाँ पाँणी सेवार।
ना पाणहारी झूलरौ ना कूवै लैकार॥

[हे बाबा, उस देश को जला दूँ, जहाँ पानी पर सदा सेवार छाया रहता है। जहाँ न तो पनिहारिनों का झुंड आता-जाता रहता है, और न कुओं पर (पानी निकालनेवालों का) लयपूर्ण शब्द ही सुनाई देता है।]

विशेष—उक्त ग्रंथ काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

(१२) तिब्बत की संवत्सर-गणना

[लेखक—श्री राहुल सांस्कृत्यायन, लंका]

तिब्बत के उत्कर्ष का काल ईसा की सातवीं शताब्दी है, और वही बौद्ध धर्म के प्रवेश तथा उसके ऐतिहासिक काल में पदार्पण का भी समय है। इसी समय में तिब्बत (भोट) का प्रतापी सम्राट् स्रोङ-चन-गम-बो हुआ था जिसने ल्हासा को भोट की राजधानी बनाया, तथा एक ओर नैपाल को अधीन कर अंशुवर्मा की लड़की ब्रि-चुन (ब्रिचुन्) को ब्याहा, दूसरी ओर चीन को पराजित कर उसके कितने ही सूबों को भोट-साम्राज्य में मिलाते हुए चीन-सम्राट् को अपनी कन्या देने पर विवश किया। स्रोङ-चन-गम-बो ने नैपाल की राजकुमारी को ईसवी ६३९ में ब्याहा था। चीन राजकुमारी से विवाह दो वर्ष बाद ६४१ में हुआ। ब्रि-चुन और वेन-चिङ (चीनी राजकन्या) आज भोट देश में तारादेवी का अवतार मानी जाती है और मंदिरों में उसकी पूजा होती है। बौद्धधर्म प्रथम नैपाल से ब्रि-चुन द्वारा भोट में प्रविष्ट हुआ, इसी लिये उसका मान भी अधिक है। चीन-कुमारी चीन से आते समय भगवान् बुद्ध की एक काष्ठ-प्रतिमा लाई थी, जिसकी पूजा १३ शताब्दियों बाद आज भी ल्हासा के सबसे पूज्य और पवित्र देवालय में चो-रेम-पो-छे के नाम से होती है। वहाँवालों का विश्वास है कि यह वही प्रतिमा है, जिसे वत्सराज उदयन ने तथागत के तुषित स्वर्गलोक में माता को उपदेश देने के लिये जाने के समय में बनाकर कौशांबी के घोषिताराम की गंधकुटी में स्थापित किया था और जिसके विषय में ह्वेन्चाङ् यह किंवदंती उद्धृत करता है कि तथागत

को गंधकुटी में आते देख प्रतिमा ने अपना आसन छोड़ना चाहा, जिस पर भगवान् ने समझाकर रोक दिया। भोटिया तंग्यूर में एक छोटी सी पुस्तक ही इस प्रतिमा के भारत से काबुल आदि होते चीन पहुँचने के बारे में है। यद्यपि यह परंपरा यहाँ प्रामाणिक मानी जाती है, तो भी पुरातत्त्ववेत्ता इसे कब मानने लगे, जिनको कि सबसे पुरातन बुद्धमूर्ति कनिष्ककाल की मिली है, और मौर्य, शुंग काल में जान-बूझकर बुद्ध की मूर्ति बनाने से परहेज किया गया प्रत्यक्ष मिला है।

स्रोङ-चन-गम-बो के एक शताब्दी बाद सम्राट् सोङ-दे-चन के समय में नालंदा के महापंडित शांतरक्षित भोट आए और उनके परामर्शानुसार प्रायः ७४७ ई० में महातांत्रिक पद्मसंभव बुलाए गए। ल्हासा से दो दिन के रास्ते पर ब्रह्मपुत्र के किनारे आचार्य शांतरक्षित का स्थापित उनके शरीरावशेष-सहित बसम-यस (सम्‌ये) विहार आज भी मौजूद है। आचार्य शांतरक्षित का कितना सम्मान था, वह इसी से मालूम होता है कि उन्हें भोटिया लोग असली नाम की अपेक्षा स्लोब-दपोन (आचार्य) बोधिसत्त्व के नाम से अधिक जानते हैं। आचार्य शांतरक्षित से ही (आठवीं शताब्दी के मध्य से) भारतीय धर्मप्रचारकों का आवागमन आरंभ होता है, जो कि तुर्कों के विक्रमशिला, जगद्दला आदि विहारों के नष्ट करने के साथ साथ बंद होता है। भारत से आए पंडितों तथा उनके अनुवादों का समय अक्सर भोट ग्रंथों में उल्लिखित पाया जाता है। किंतु उनके जानने के लिये यहाँ की संवत्सर-गणना की विधि जानना आवश्यक है।

वर्ष-गणना के साथ पंचांग-रचना का वर्णन भी आवश्यक है, परंतु उसको मैं किसी दूसरे समय के लिये छोड़ता हूँ। वराह-मिहिर और ब्रह्मगुप्त के पंचांग-सुधारों के बहुत पूर्व भारत में भी

माघ अमावस्या संवत्सर का अंतिम दिन मानी जाती थी। वेदांग ज्योतिष में माघ शुक्ल प्रतिपदा से वर्ष-आरंभ का उल्लेख मिलता है। भोटिया लोगों का वर्ष आज भी माघ अमावस्या से आरंभ होता है। यहाँ मास, पूर्णिमा को न समाप्त हो अमावस्या को समाप्त होता है बहुत समय पूर्व इसकी भी प्रथा उत्तर भारत में थी, तभी तो काशी के पंचांगों में आज भी अमावस्या के लिये ३० का अंक लिखा जाता है। भोट में मासों के पृथक् नाम न देकर पहला, दूसरा, तीसरा महीना कहा जाता है। इस प्रकार माघ सुदी से फाल्गुन अमावस्या तक प्रथम मास (ज्ल-व-दङ-पो) है; फिर दूसरा, तीसरा, चौथा इत्यादि। मलमास भारत का और यहाँ का एक ही मास में न पड़ने से इसमें कुछ अंतर पड़ता है। अब की साल (संवत् १९८६) भोट में आठवाँ मास दो था, और नवाँ मास कार्तिक सुदी १ से आरंभ हुआ। तिथियों को यहाँ एक से ३० तक गिनते हैं।

ज्योतिष जाननेवाले जानते हैं कि बृहस्पति की विशेष गति के कारण ६० वर्षों बाद पंचांग की स्थिति पूर्ववत् हो जाती है। इसी से प्रभव आदि ६० संवत्सरों तथा तीन बीसियों की कल्पना हुई। भोट में इस बृहस्पति-चक्र को रब-ब्युङ कहते हैं। प्रत्येक रब-ब्युङ में ६० वर्ष होते हैं। विक्रम आदि संवत्सर की भाँति किसी संवत् का प्रचार न होने से प्रत्येक संवत्सर का अलग नाम रखना पड़ा। इस नामकरण में भोटवालों ने चीन का अनुसरण किया है। यह नाम १२ जंतुओं और पाँच भौतिक पदार्थों के योग से बनाए जाते हैं। १२ जंतु हैं—

१—ब्यिव (मूषक)
२—ग्लङ (वृषभ)
३—स्तग (व्याघ्र)
४—योस (शश)
५—अब्रुग (अजगर)
६—स्ब्रुल (सर्प)
७—र्ते (अश्व)
८—लुग (मेष)

९—स्प्रे (वानर)
१०—व्य (पक्षी)
११—रिव्य (श्वान)
१२—फग (वराह)

भौतिक पदार्थों के नाम हैं—

१—शिङ (काष्ठ)
२—में (अग्नि)
३—स (भू)
४—चगस (लोह)
५—छु (जल)

कायदा यह है कि एक नाम के लिये दोनों शब्दों को जोड़ने में भौतिक नाम तो लगातार दो बार आते हैं। किंतु जंतु नाम हर बार बदलते रहते हैं। इस प्रकार एक रब-व्युङ (उच्चारण-रब्-जुङ) के साठ संवत्सरों के नाम इस प्रकार हैं—

योस	१—में	१३—स	२५—ल्चगस	३७—छु	४९—शिङ
अब्रुग	२—स	१४—ल्चगस	२६—छु	३८—शिङ	५०—में
स्ब्रल	३—स	१५—"	२७—"	३९—"	५१—"
तॅ	४—ल्चगस	१६—छु	२८—शिङ	४०—में	५२—स
लुग	५—"	१७—"	२९—"	४१—"	५३—"
स्प्रे	६—छु	१८—शिङ	३०—में	४२—स	५४—ल्चगस
व्य	७—"	१९—"	३१—"	४३—"	५५—"
रिव्य	८—शिङ	२०—में	३२—स	४४—ल्चगस	५६—छु
ख ग	९—"	२१—"	३३—"	४५—"	५७—"
व्ये व	१०—में	२२—स	३४—ल्चगस	४६—छु	५८—शिङ
ऋङ	११—"	२३—"	३५—"	४७—"	५९—"
स्तग	१२—स	२४—ल्चगस	३६—छु	४८—शिङ	६०—में

इस चक्र से मालूम होगा कि रब-व्युङ का प्रथम संवत्सर में-योस है, दूसरा स—अब्रुग, तीसरा स—स्ब्रुल इत्यादि। भौतिक नाम लगातार दो बार आते हैं, जैसे स—अब्रुग और स—स्ब्रुल। ऐसे स्थान में पहले को फो-(पुरुष) और दूसरे को मो-(स्त्री)

कहते हैं। इस प्रकार स—अब्रुग को स-फो-अब्रुग भी कहते हैं और स—ख्रुल को स-मो-ख्रुल भी। ईसवी सन् १९२७ (संवत् १९८४) की माघ सुदी १ से १६ वाँ रब-ब्युङ शुरू हुआ है, आज कल स-मों-ख्रुल वर्ष चल रहा है। संक्षेप में इसे स—ख्रुल या केवल ख्रुल भी कहा जाता है। प्रथम रब-ब्युङ १०२७ ई० के माघ सुदी प्रतिपद् को आरंभ हुआ था। रब-ब्युङ का चक्र इस प्रकार है—

३०–७७३ ई० पू०	१८–५३ ई० पू०	६–४६७ ई०	७–१३८७ ई०
२९–७१३ ,,	१७–७ ई०	५–७२७ ,,	८–१४४७ ,,
२८–६५३ ,,	१६–६७ ,,	४–७८७ ,,	९–१५०७ ,,
२७–५९३ ,,	१५–१२७ ,,	३–८४७ ,,	१०–१५६७ ,,
२६–५३३ ,,	१४–१८७ ,,	२–९०७ ,,	११–१६२७ ,,
२५–४७३ ,,	१३–२४७ ,,	१–९६७ ,,	१२–१६८७ ,,
२४–४१३ ,,	१२–३०७ ,,	१–१०२७ ,,	१३–१७४७ ,,
२३–३५३ ,,	११–३६७ ,,	२–१०८७ ,,	१४–१८०७ ,,
२२–२९३ ,,	१०–४२७ ,,	३–११४७ ,,	१५–१८६७ ,,
२१–२३३ ,,	९–४८७ ,,	४–१२०७ ,,	१६–१९२७ ,,
२०–१७३ ,,	८–५४७ ,,	५–१२६७ ,,	१७–१९८७ ,,
१९–११३ ,,	७–६०७ ,,	६–१३२७ ,,	

यद्यपि रब-ब्युङ का आरंभ सन् १०२७ ई० से है, तथापि हम कंग्युर तंग्युर के अनुवादक भारतीय पंडितों के जीवनचरितों तथा अनुवादों में इसे नहीं पाते। मालूम होता है कि इसका प्रयोग भोट के आज कल के सबसे प्रबल भिक्षुनिकाय (जिसमें दलाई लामा भी हैं) ग्गे-लुग-प के प्रवर्तक १४ वीं शताब्दी के आचार्य चोङ-ख-प के आस पास से हुआ। पहले के ग्रंथों में सिर्फ वर्ष का नाम रहता है। जैसे अतिशा (दीपकर श्रीज्ञान) का जन्म छु-

फो-र्ते लिखा है। इसमें शक नहीं, कि यदि हमें शताब्दी न मालूम हो तो केवल इस नाम से काम नहीं चल सकता। शताब्दी नवीं दसवीं तथा अतिशा ७३ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए। इससे जन्म सन् ९८२ ई० में हुआ था। ल्चगस-मो-स्प्रुल वर्ष में ६० वर्ष की अवस्था में—अर्थात् १०४१ ई० में—उन्होंने भारत से तिब्बत को प्रयाण किया। जीवनचरितों से मालूम होता है कि उन्होंने १७ वर्ष धर्मप्रचार कर शिङ-फो-र्ते वर्ष में शरीर छोड़ा। हिसाब से यह सन् १०५४ ई० पड़ता है।

चोङ-ख-प को और उसके बाद की जीविनियों में संवत्सर के नाम के साथ रब-ब्युङ दिए रहने से वैसी कठिनाई नहीं है। चोङ-ख-प का जन्म छठे रब-ब्युङ में में-मो ब्य वर्ष में हुआ था और मृत्यु सातवें रब-ब्युङ के मे-फो-अब्रुग वर्ष में; जो कि क्रमशः ई० सन् १३५७ और १४८० हैं। इसी प्रकार तिब्बत में लामाओं (गुरुओं) का राज्य स्थापन करनेवाले पाचवें दलाईलामा का जन्म दसवें रब-ब्युङ के मे-स्ब्रुल वर्ष में और मृत्यु छु-ख्यि वर्ष में हुई। उपर्युक्त सारिणी से ये क्रमशः ई० १६१८ और १६८४ होते हैं।

टिप्पणी—तिब्बती शब्दों के उच्चारण में दो-एक मोटी बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। प्रत्येक शब्द के बीच बीच में आनेवाला बिंदु एक मात्रा को प्रकट करता है। प्रत्येक मात्रा अंत में उच्चार्य हल्वर्ण से युक्त हो सकती है, किंतु आदि में नहीं। इस प्रकार रब-ब्युङ में रब और ब्युङ दो मात्रिक वर्ण हैं। रब के अंत का ब हलंत (ब्) है और उच्चारण रब् होता है। ब्युङ में अंत का ङ हलंत होता है और ब स्वर से पूर्ण होने से उच्चारित नहीं होता। य का उच्चारण काशी और मिथिला के पुराने ढर्रे के पंडितों के अनुसार ज होता है। इस प्रकार इस शब्द का उच्चारण रब्जुङ है।

(१३) विविध विषय

(५) हठयोग-प्रदीपिका और हिंदी शब्दसागर

इस आशय और आशा से कि हमारे उस वक्तव्य की पुष्टि हो जिसके निमित्त यह लेख लिखा जाता है नीचे तीन अवतरण दिए जाते हैं। इनमें से हर एक में (क) स्वात्माराम स्वामी की हठयोग-प्रदीपिका से मूल श्लोक, (ख) उस पर ब्रह्मानंद-कृत टीका तथा (ग) उनका हिंदी में भावार्थ क्रमशः दिया है—

१—(क) नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः।

न खेचरी समा मुद्रा न नादसदृशो लयः। १–४३।

(ख) नासनमिति। सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनं नास्तीति शेषः। केवलेन केवलकुंभकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुंभः कुंभको नास्ति। खेचरीमुद्रा समा मुद्रा नास्ति। नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति।

(ग) सिद्धासन के सदृश कोई दूसरा आसन नहीं है। कोई कुंभक ऐसा नहीं है, जो केवल नामक कुंभक की बराबरी कर सके। न तो खेचरी मुद्रा के समान कोई दूसरी मुद्रा है तथा नाद अथवा अनाहत शब्द द्वारा जिस लय अथवा समाधि की प्राप्ति होती है उसके तुल्य कोई दूसरा लय है।

२—(क) अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम्।

प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ४–६५।

(ख) नानाविधान् समाध्युपायानुक्त्वा नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते। अशक्येति। अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम्। अपि शब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते। नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते।

(ग) समाधि के अनेक प्रकार के उपायों को कहकर नादानुसंधान-रूपी जो मुख्य उपाय है उसको बताने की प्रतिज्ञा करते हैं। अशिक्षित होने के कारण जिनको तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसे मूढ़ लोग भी जिसको मानते हैं और जिसको महात्मा गोरक्षनाथजी ने बताया है ऐसी जो नाद अर्थात् अनाहतध्वनि की उपासना है उसका वर्णन किया जाता है।

इस श्लोक में जो अपि शब्द है उससे पाया जाता है कि विद्वान् तो नादोपासना को मानते ही हैं—उनका कहना ही क्या है—मूढ़ों का मानना कुछ विशेषता दर्शाता है। गोरक्षनाथजी का उपदेश होने के कारण यह कमाई करने योग्य है।

३—(क) श्रीआदिनाथेन सपादकोटि-लयप्रकाराः कथिता जयंति।
नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥४—६६॥

(ख) श्रीआदिनाथेनेति। श्रीआदिनाथेन अर्थात् शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्यका लयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयंत्युत्कर्षेण वर्तन्ते। वयं तु नादानुचिंतनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे। उत्कृष्टानां लय-साधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद् गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेवावश्यं विधेयमिति भावः।

(ग) श्री आदिनाथ अर्थात् शिवजी ने बताया है जिनको ऐसे, जो सवा करोड़ चित्त के लय करने के भिन्न भिन्न साधन हैं वे एक से एक बढ़के हैं। हम तो नाद अर्थात् अनाहत शब्द में ध्यान लगाने ही को चित्त के लय का सर्वोत्तम उपाय मानते हैं। भाव यह है कि उत्तम से उत्तम और गोरक्षनाथजी के बताए हुए होने के कारण यह नादयोग—जिसमें शब्द ही निशान है—सेवन करने योग्य है।

जो कुछ ऊपर लिखा गया है उससे नादोपासना की महिमा स्पष्ट है। हिंदी-शब्दसागर में भी नाद के ऊपर बहुत कुछ प्रकाश

डालकर उसकी महिमा बताई गई है। उसमें नाद के विषय में बहुत कुछ कहकर बताया गया है कि "ज्ञान भी उसके बिना नहीं हो सकता। अतः नाद पर ज्योति और ब्रह्मरूप है और सारा जगत् नादात्मक है। इस दृष्टि से नाद दो प्रकार का है—आहत और अनाहत। अनाहत नाद को केवल योगी ही सुन सकते हैं।" फिर बताया गया है कि 'हठयोग-प्रदीपिका' में लिखा है कि—

"जिन मूढ़ों को तत्त्वज्ञान न हो सके वे नादोपासना करें" आदि।

हमारा वक्तव्य

इन शब्दों ने मानो नादोपासना बेचारी को आकाश से खींचकर एकदम रसातल को पहुँचा दिया। इससे यह झलकता है कि मानो नादोपासना केवल मूढ़ों ही के लिये उपदिष्ट है—धीमानों और विद्वानों के लिये नहीं, क्योंकि वे तो ज्ञान के बल से अपना काम बना लेंगे। यदि पूर्वापर का ध्यान रखा जाता तो ऐसी त्रुटि होने की संभावना न थी। प्रकट है कि यह भाग हमारे अवतरण के दूसरे श्लोक की पहली पंक्ति—अर्थात् 'अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम्।' का ही अनुवाद है।

यहाँ पर अनुवादक महाशय ने कदाचित् अनवधानता-वश "अपि" शब्द पर ध्यान न देकर ही ऐसा लिख दिया जैसा कि "शब्दसागर" में छपा है। उपर्युक्त श्लोक और उसकी टीका पर साधारण ध्यान देने से यह प्रकट हो जाता है कि वहाँ "अपि" शब्द पर कितना जोर दिया गया है। वहाँ "अपि" शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि नादोपासना ऐसा उत्तम और सहज योग है कि अविद्वान् लोग भी इसको मानकर और इसका आश्रय लेकर अपने जीवन को सफल कर सकते हैं और जो विद्वान् और धीमान् हैं उनकी तो कोई बात ही नहीं है।

ऐसा भी हो सकता है कि कदाचित् "मूढानामपि" के स्थान में

"मूढानामेव"—क्योंकि ऐसा पाठ भी वहाँ खप जाता है—जल्दी में पढ़ लिया गया हो। या सचमुच ही अनुवादक के सामने यही पाठ रहा हो। परंतु ऐसा असंभव सा प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा उत्तम मार्ग, जिसकी इतनी महिमा की गई हो, केवल मूढ़ों ही के लिये हो यह बात बनती नहीं, जिसकी पुष्टि शब्दसागर में दिए अनुवाद में "ही" शब्द के अभाव से भी हो जाती है। एक और बात हो सकती है कि संपादक महाशय ने ऐसा केवल अपनी विस्मृत-स्मृति के ही आधार पर लिख डाला हो। संक्षेपतः यह अशुद्ध अनुवाद केवल असावधानता ही के कारण मालूम होता है। मनुष्य से ऐसा हो ही जाता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

जैसे भी हो, अर्थ का अनर्थ अवश्य हो गया है, जो अत्यंत हानिकारक और भ्रमोत्पादक है, और फिर ऐसे कोश में जिसमें इतना श्रम, इतना समय, इतना द्रव्य लगाया गया है और जो न केवल हिंदी-संसार किंतु हिंदू-संसार के लिये एक अमूल्य रत्न है, जो हमारे गौरव का हेतु है और जो सुशिक्षित-समुदाय में प्रमाण माना जाता है और माना जायगा! अतएव शब्दसागर में नाद शब्द के नीचे "हठ-योग-प्रदीपिका" के आधार पर और उसके नाम से जो लिखा है उसे इस प्रकार सुधारकर पढ़ना चाहिए—"हठयोग-प्रदीपिका में लिखा है कि जिन मूढ़ों को तत्त्वबोध नहीं हो सकता वे भी स्वीकार करते हैं कि नादोपासना लय-प्राप्ति के लिये सबसे उत्तम साधन है।"

यहाँ यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि हम या कोई भी शब्दयोगधर्मावलंबी नादोपासना के विषय में जो अनर्थ शब्द-सागर में छप गया है उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। आशा है कि इस त्रुटि की ओर विद्वानों का ध्यान जायगा और शब्दसागर के नवीन संस्करण में इसका यथोचित संशोधन कर दिया जायगा।

निहालचंद, आगरा